सेठ भोलाराम सेकसरिया स्मारक ग्रन्थ-माला--१०

अवध के प्रमुख कवि

(१७००-१९०० वि०)

लेखक

ब्रजकिशोर मिश्र

हिन्दी विभाग

विश्वविद्यालय, लखनऊ



प्रकाशक

लखनऊ विश्वविद्यालय

सं० २०१७ वि०



पूज्य-चरण स्वर्गीय पं० कृष्णविहारी जी मिश्र

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

(ईशावास्योपनिषद्)

'बापू'

की

पुण्य-स्मृति

को

सश्रद्धया

उपोद्घात

हिन्दी प्रदेश का केन्द्रस्थल अवध है। चिरकाल तक यहाँ पर साहित्य, संगीत तथा अन्य कलाओं का गौरवपूर्ण सृजन हुआ है। अनेक प्रसिद्ध हिन्दी काव्यकारों ने इस भूमि को गौरवान्वित किया है। जायसी और तुलसी ने अपने अमर काव्यों की रचना इसी भूमि में कीथी। हिन्दी साहित्य के रीतिकाल मे यहाँ अनेक प्रतिभावान् कवि हुए। अवध प्रान्त की साहित्यिक महत्ता को ध्यान में रखकर ही मैंने अपने प्रिय शिष्य और सहयोगी, डा० ब्रजकिशोर मिश्र को 'अवध के रीतियुगीन हिन्दी कवियों का अध्ययन' नामक विषय पर एक अनुसन्धानात्मक प्रबंध लिखने के लिए दिया।

हिंदी साहित्य के रीतिकाल में प्रधानता श्रृंगार काव्य की थी परन्तु अन्य विविध भावों और विषयों पर भी इस काल में महत्वपूर्ण रचनायें हुईं। श्रृंगार काल के पूर्व जो भाव-धारायें, प्रेम मार्गी सूफी भक्ति, सगुण भक्ति तथा निर्गुण भक्ति आदि, हिन्दी साहित्य में प्रवाहित थीं, वे इस काल में भी चलती रहीं. यद्यपि इनका वेग और प्रभाव इस काल में उतना नही रहा जितना धार्मिक अथवा भक्तिकाल में था। इन भाव धाराओं के अतिरिक्त अन्य प्रकार के श्रेष्ठ साहित्य का भी सृजन हिन्दी में हुआ। इस काल का प्रशस्ति काव्य, हास्य-विनोद-काव्य नीति और उपदेशात्मक काव्य भी कम महत्व के नहीं है। इस काल का नीति काव्य तो बहुत ही समृद्ध है। इस युग की तथा उपर्युक्त साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा है।

मुझे यह कहते हुए संतोष है कि डा० ब्रजकिशोर मिश्र ने अवध के रीति कालीन हिन्दी काव्य का अध्ययन उक्त सभी विचारधाराओं को ध्यान में रखते हुए, सुन्दर विवेचना के साथ किया है। इस प्रबन्ध पर मिश्र जी को लखनऊ विश्वविद्यालय ने पी-एच्० डी० की उपाधि प्रदान की है।

इस पुस्तक में लेखक ने अवध प्रदेश के निवासी, ब्रजभाषा कवियों के भाषादर्श पर भी ध्यान दिया है। ब्रज और अवधी भाषाओं के सम्मिश्रण से जो एक साहित्यिक, सुष्ठु ब्रजभाषा का रूप, अवध के कवियों ने प्रस्तुत किया

उसका विवेचन इस प्रबंध की एक विशिष्ट मौलिकता है। रीतिकालीन अवध के कवियों ने जिन छन्दों का प्रयोग किया है उनके विकास का वर्णन भी इसमें सुन्दर ढंग से हुआ है। अवध के लेखकों ने प्रबंध काव्य भी लिखे हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में इन प्रबंध काव्यों का विवेचन भी महत्व का है, जिसमें लेखक की संतुलित विवेचन शक्ति का परिचय मिलता है।

प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेचित सामग्री अधिकांश में अप्रकाशित और नवीन है। इस सामग्री को प्रकाश में लाकर हिन्दी साहित्य की समृद्धि में लेखक ने भारी योगदान किया है। कुछ लेखकों के समय निर्धारण में लेखक ने परिश्रम किया है और अनेक प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण किया है। ग्रंथ के आरम्भ में अवध प्रान्त की तत्कालीन सीमाओं का निर्धारण करते हुए उसका एक क्रमबद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इतिहास के तथ्यों का विवरण अधिकारी इतिहासज्ञों के कथनों के आधार पर है अतएव यह रोचक और उपयोगी है।

इस ग्रंथ को मैं मध्ययुगीन अवध के हिन्दी काव्य-साहित्य के अध्ययन की एक सुन्दर और मौलिक कृति समझता हूँ जिसमें उक्त काव्य की रसात्मक, विवेचनापूर्ण व्याख्या के साथ मध्य युग का परिचय विशेष सफलता के साथ प्रस्तुत हुआ है। डा० मिश्र मेरी बधाई के पात्र हैं। डा० मिश्र के परिवार ने हिन्दी साहित्य के अध्ययन और सृजन में चिरकाल से योगदान किया है। इनके पूर्वज उच्च कोटि के कवि भी रहे हैं। हिन्दी साहित्य के प्रख्यात आचार्य और लेखक मिश्रबंधु इसी परिवार के थे। डा० व्रजकिशोर मिश्र के पिता स्वर्गीय पं० कृष्णबिहारी मिश्र, बी० ए०, एल्-एल्० बी०, हिन्दी भाषा के अनन्य प्रेमी और उच्चकोटि के प्रसिद्ध लेखक, समालोचक तथा सम्पादक थे। इस प्रकार साहित्यिक योग्यता तथा लेखन क्षमता मिश्र जी ने उत्तराधिकार में पाई है। मेरी शुभकामना है और मंगलाशा है कि मिश्र जी की लेखनी द्वारा और भी विवेचनात्मक सुन्दर ग्रंथ प्रस्तुत होंगे तथा उनके द्वारा मौलिक और अप्रकाशित सामग्री हिन्दी संसार के सामने आवेगी।

डा० दीनदयालु गुप्त,
एम्० ए० एल्-एल्० बी०, डी-लिट्०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

—दीनदयालु गुप्त

२० जून १९६० ई०

आरंभिक

हिंदी की तीन उपभाषाएँ भाषाविज्ञानियों ने स्वीकार की हैं—व्रजी, अवधी और खड़ी। इनमे से दो भाषाओं व्रजी और अवधी के नाम देश विशेष मे संबद्ध हैं। 'खड़ी' के संबंध मे अनेक व्याख्याएँ खडी की गई। फिर भी उसके नाम का संबंध किसी देश विशेष से नहीं स्थापित किया जा सका। 'खड़ी' को जाटों की बोली मानते हैं। जाति से सबद्ध करके उसे जाटी कहते है। देशबद्ध करने के लिए उसे कुरुजांगल प्रदेश से संबंद्ध करके 'कुरु' से 'कौरवी' नाम दिया गया। पर पाडव और कौरव नाम इतने प्रख्यात है कि 'कौरवी' कहने से सबसे पहले ध्यान कौरवो के प्रति जाता है। वास्तविकता यह है कि 'खड़ी' ने जिस भाषा का रिक्थ प्राप्त किया उसमे देशगत विशेषता के बदले जातिगत विशेषता का ही पुराकल्प से प्रख्यापन होता आया है। भारतीय आर्य भाषाओ के विकास के जो सोपान माने गए है उनमे संस्कृत रूप के सोपान पर देश विशेष के नाम से भाषा विशेष को या विभाषा को प्रथित करने की सरणि का उद्भव नही हुआ था। केंद्रीय भाषा मध्यदेशीया थी और अन्य विभाषाओ को पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण से व्यक्त कर लेते थे। द्वितीय सोपान मे प्राकृत रूप के आते ही देश से भाषाओ का नाम वैयाकरणों ने संबद्ध किया। इसका और चाहे जो हेतु हो, पर इतना तो स्पष्ट है कि दिक्क्रम से भाषाओं का नाम प्रकट करने मे कुछ कठिनाई उत्पन्न हो गई थी। उत्तरी और दक्षिणी भेद एक प्रकार से लुप्त हो चुके थे। वास्तविक भेद पूर्वी, मध्यदेशीया और पश्चिमी रह गए थे। पश्चिमी भेद की विस्तार-सीमा उत्तरी और कुछ दक्षिणी अचल का भी स्पर्श करने लगी थी। दक्षिणी अंचल की विशेषताएँ मध्यदेशीया से आ मिली थी। इसलिए प्राकृत भाषाओं के नाम देशों से उनकी व्याप्ति के आधार पर संबद्ध किए गए।

पूर्वी अंचल की भाषा के विस्तार के लिए केंद्रीय और शक्तिशाली मगध

देश को आधार बनाया गया और उसका नाम मागधी रखा गया। पश्चिमी अंचल की भाषा के विस्तार को ध्यान में रखकर उसका नाम पैशाची रखा गया। इसका केंद्र तत्वतः पश्चिमोत्तर सीमा का देश था, पर विशेष प्रकार की जाति मासाहारी प्रवृत्ति के कारण 'पिशाच' नाम से अभिहित हुई और उसकी उच्चारण विशेषताओ का नाम, जहाँ तक व्यापक मिली, चाहे आचार-विचार मे भिन्नता भी रही, बेखटके पैशाची रख दिया गया। मध्यदेशीया का केंद्र शूरसेन देश था अतः देश से उसे भी सबद्ध करके उसका नाम शौरसेनी रखा गया। इतना क्षेत्र समेट लेने पर भी दिखाई पड़ा कि प्राकृत अन्यत्र भी छाई हुई है। उसके अध्ययन से वैयाकरण इस परिणाम पर पहुँचे कि प्राकृत का एक देशभेद रहित रूप सर्वत्र [सारे राष्ट्र में] व्याप्त है। ऐसे ही सर्व-सामान्य रूप का नाम महाराष्ट्री रखा गया। 'महाराष्ट्री' नाम से 'मराठी' को मिलता जुलता देखकर पहले भाषाविज्ञान के पडित दोनों को एक मानकर चले, पर अब यह सिद्ध हो गया है कि 'मराठी' का विकास महाराष्ट्री प्राकृत से नहीं हुआ है। वह तो पद्य की भाषा थी और सार्वदेशिक आवश्यकता के लिए शौरसेनी अर्थात् मध्यदेशीया प्राकृत से ही सरल करके बना ली गई थी। इस प्रकार प्राकृत सोपान पर तीन ही मुख्य भाषाएँ थीं—पैशाची, शौरसेनी और मागधी। उन वैयाकरणों को शौरसेनी और मागधी के बीच 'अर्धमागधी' भाषा भी दिखाई पडी। जैनो ने तो अर्धमागधी को ही संस्कृत आदि सभी का मूल कहा है। शौरसेनी और पैशाची के बीच भी मिली-जुली 'अर्ध' लक्षण विशिष्ट भाषा की संभावना थी। पर उस सोपान पर उसका विकास नही हुआ।

प्राकृत के अनतर अपभ्रंश के सोपान पर जो विकास हुआ, उसका वैसा व्यापक और सूक्ष्म अध्ययन नही हो सका। उसके अनेक कारण थे। उन कारणो की खोज मे प्रवृत्त होना यहां अनावश्यक है। इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि इस सोपान पर उपलब्ध सामग्री के आधार पर जो थोड़ा सा विचार हुआ उसमें उसके २७ भेद देशों के नाम पर गिन गिन कर बताए गये। जैनों के जो ग्रंथ इधर मिले हैं एक तो उस समय भाडागारों मे ही बंद थे, दूसरे उनकी भाषा में देशगत विशेषताओं के भेद स्पष्ट नहीं हैं। प्रतीत होता है कि वैयाकरणो के बताए नियमों के आधार पर संस्कृत से सीधे ही अपभ्रंश रूप तक आने का प्रयास किया गया है। बोलचाल के प्रयोग बहुत कम आ पाए हैं। पदार्थों के नाम तो कुछ प्राचीन मिल जाते हैं, पर प्रयोग की दृष्टि से पुष्कल उपलब्धि नहीं होती। प्राकृत भाषाओं और देशी भाषाओं के बीच एक सोपान

निश्चित है। किसी किसी ने विकास के दो सोपानों की भी कल्पना की है। पर वह विचारधारा उतनी व्यापक नहीं हो सकी। सामग्री के पुष्कल रूप में न मिलने के कारण अपभ्रंश का विचार विस्तार से नहीं हुआ। अधिकतर उसको एक ही मानकर विचार किया गया। विविध रूपों की कुछ प्रवृत्तियां मात्र बतला दी गईं। कुछ प्राकृत वैयाकरणों ने अपभ्रंश का विचार प्राकृत के पेटे में ही करके छुट्टी पा ली। भाषा की दृष्टि से अभी इस सोपान के सम्बन्ध में विस्तृत, अध्ययन-पुष्ट, पूर्वग्रहविमुक्त विमर्श होना शेष है। निश्चय ही प्राकृत-सोपान के अनंतर अपभ्रंश-सोपान पर देशगत विशेषताओं से सम्बद्ध भाषाओं का संख्याधिक्य हुआ होगा। इसका संकेत देशी भाषा सोपान पर मिलने वाले भेद और संख्याधिक्य से ही मिल जाता है। व्याकरणों में उनका निश्चित और परिपूर्ण निरूपण न होने से प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्राकृत के अनंतर आने वाले देश-भेदगत अपभ्रंशों की उन्हीं प्राकृत नामों से कल्पना करके संप्रति विचार-सरणि आगे बढ़ाई जाए। पैशाची अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, अर्ध-मागधी अपभ्रंश, इतने मोटे भेद तो निश्चित थे। इसी प्रकार देशी भाषा सोपान पर पैशाची देश्य, शौरसेनी देश्य, अर्धमागधी देश्य, मागधी देश्यरूप भी निश्चित हैं।

यहाँ 'अर्धमागधी' शब्द पर विचार करने से बहुत सी स्थितियां स्पष्ट हो जाती हैं। शौरसेनी और मागधी के बीच 'अर्धमागधी' प्रवृत्ति का होना अनिवार्य है। मागधी की ओर आकर्षण अधिक होने से उसका नाम 'अर्धमागधी' है। यदि शौरसेनी की ओर झुकाव अधिक हो तो 'अर्धशौरसेनी' रूप भी अनिवार्य है। अवधी भाषा के जो पूर्वी और पश्चिमी भेद माने जाते है, उनमें कुछ ऐसा ही हेतु प्रतीत होता है। पूर्वी अवधी की प्रवृत्तिया मागधी-प्रमुख हैं और पश्चिमी अवधी की शौरसेनी-प्रमुख। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरित मानस पश्चिमी अवधी में लिखा गया। उसमे शौरसेनी की प्रवृत्तियां अधिक है। उसकी भाषा पर विचार करते हुए हिन्दी के एक प्रसिद्ध वैयाकरण ने घोषणा की थी कि उसे अवधी का काव्यग्रंथ न कहकर व्रजी का कहना चाहिए। इन सब पर विस्तार से पृथक् विचार करने की आवश्यकता है। यहां तो इतना ही कहना है कि सूक्ष्मेक्षिका से देखने पर भाषागत अनेक भेद दिखाई पड़ सकते हैं। शौरसेनी प्रदेश के पूर्व में प्रचलित मागधी भाषा के पृथक् स्वरूप के कारण उसका जो विकास हुआ वह तो हुआ ही, दोनों के मिश्रण से पूर्व की ओर जिस प्रकार दो छायांतर दिखाई पड़ते है, उसी प्रकार पश्चिम में भी दो छायांतरों की संभावना है—अर्धशौरसेनी और अर्धपैशाची की। खड़ी को

पश्चिमी अर्धशौरसेनी कह सकते हैं। उसमें पैशाची की भी अर्ध-प्रवृत्तियां हैं। शौरसेनी की प्रमुखता के कारण अर्धशौरसेनी नाम से ही उसे संकेतित करना समीचीन प्रतीत होता है। हिंदी की प्रमुख विभाषाओं में इस प्रकार जो रूप सर्वनिष्ठ दिखाई देता है वह शौरसेनी का है। खड़ी में अर्धशौरसेनी प्रवृत्ति तो है ही अवधी में भी अर्धशौरसेनी प्रवृत्ति है। अवधी के पूर्वी रूप में मागधी की ओर झुकाव होने पर भी अर्धशौरसेनी प्रवृत्ति निश्चित है। 'अर्धमागधी+अर्धशौरसेनी' से ही वह पूरी भाषा होती है।

इस प्रकार हिंदी की केन्द्रीय भाषा शौरसेनी या ब्रजी है। जिन्होंने पहले पूर्वी हिंदी को केन्द्रीय भाषा माना था उन्हें अपनी भूल का आगे चलकर सुधार करना पड़ा। हिंदी के अन्तर्गत जो भाषाएं आती है उनमे मूलतः ब्रजी स्थित रहती है। ब्रजीविरहित हिंदी की कल्पना नही की जा सकती। ब्रजी तत्व के ही मूलतत्व होने से जहां भी किसी की रचना ब्रजीरंजित या शौरसेनी रंजित दिखाई पड़ी हिन्दी के इतिहासो मे अतीतकालीन सीमा के भीतर उसका ग्रहण कर लिया गया। विद्यापति की रचना मैथिली अर्थात् पश्चिमी मागधी में है उसमे शौरसेनी या ब्रजी का मेल कर दिया गया। रीढ़ या मेरुदंड मैथिली का है, पर उसमे शब्द, प्रवृत्ति, प्रयोग कुछ ब्रजी के भी रख दिए गए। उसके ब्रजीरंजित हो जाने के ही कारण विद्यापति की रचनाओं को हिंदी-साहित्य के अंतर्गत माना गया। मैथिली के सभी कवि हिंदी के कवि क्यों नही माने गए? इसी से कि उनकी रचना ब्रजीरंजित नही है। अंततोगत्वा मागधी प्रदेश में सुदूरपूर्व तक ब्रजी का एक रूप फैला जिसे 'ब्रजबुली' संज्ञा मिली और जिसका गीतों में प्रयोग बहुतो के द्वारा किया गया। द्वारबंग (दरभंगा) के विद्यापति द्वारा ही पहले इस रूप का प्रवेश बंग मे हुआ, फिर असम, उत्कल, नेपाल आदि मे भी हो गया। विद्यापति के पूर्व, पूर्वी अंचल में 'ब्रजबुली' का अस्तित्व न होने से यह विचारणीय तथ्य है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास की सीमा में इधर के अभिनव ऐतिहासिक कुछ नई चकाचौंध उत्पन्न करने के लिए 'यह भी हिन्दी है, वह भी हिन्दी है' कहकर अनेकानेक रचनाओं को अपनी ऐतिहासिक बुभुक्षा का ग्रास बना रहे हैं। हिन्दी भाषा और साहित्य की विवेकप्राप्त सीमा से संतोष न करके वे निरर्थक उलझन उत्पन्न कर रहे है।

शौरसेनीमिश्रित मागधी का प्रसार जिस प्रकार पूर्व में हुआ उसी प्रकार दक्षिण मे भी। अनेक कारणों से अर्धमागधी देशी भाषा दक्षिण मे दूर तक फैली। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी की उपभाषाओं का जो मानचित्र

प्रस्तुत किया जाता है उसमें उत्तर से दक्षिण तक जिस भाषा का सबसे अधिक विस्तार है वह अर्धमागधी या अवधी है। इस विस्तार के हेतुओं का संधान यहां अनावश्यक है। पर इतना अवश्य कह देना है कि जैनों का धार्मिक साहित्य जिस मूल भाषा को प्रमुख भाषा कहता रहा है वह अर्धमागधी है। उसमें जो भी विकास प्राकृत युग के अनंतर हुआ उसका धार्मिक दृष्टि से फैलाव अनिवार्य था। हिन्दी साहित्य की प्राचीन दो प्रमुख उपभाषाओं अर्थात् शौरसेनी और अर्धमागधी में जो वाङ्मय प्रस्तुत हुआ उसमे प्रधान स्वरूप-भेद यह दिखता है कि ब्रजी में मुक्तक रचना प्रमुख रूप से हुई और अवधी में प्रबन्धों का प्राधान्य रहा। ऐसा क्यों हुआ, इसकी चर्चा छोड़िए। लीला-पुरुषोत्तम और मर्यादापुरुषोत्तम के चरित इसमें हेतु है, परम्परा इसमे कारण है या किसी प्रकार का विदेशी प्रवाह इसमें आधारभूत है आदि अनेक क्षेत्रों मे दृष्टि दौड़ाई गई और दौड़ती है। कोई यह भी समझ बैठता है कि दोनों भाषाओं की गठन ही इस प्रकार की है कि एक में मुक्तक के लिए सहजता है और दूसरी में प्रबंध के लिए सरलता। कोई दोनों के छंदों की बनावट में प्रकीर्णत्व और बधत्व की विशेषताएँ ढूंढ लाता है। अस्तु। हेतु कोई भी हो। वास्तविकता जो भी है स्पष्ट है। ब्रजी का सबसे व्यापक उत्थान भक्ति आंदोलन के साथ हुआ। उधर उससे भी पहले से अवधी में प्रभूत वाङ्मय निर्मित होता आ रहा था। यह विचारणीय है कि हिंदी में श्रीकृष्णभक्ति का प्रवाह तो आगे के साहित्य को अत्यधिक प्रभावित करता है पर भाषा का आदर्श पश्चिमी अर्थात् ब्रजी का नहीं है। इसका और चाहे जो हेतु हो, पर यह अवश्य है कि मध्यकाल में हिंदी के कवियों में से प्रधान और अधिक पूर्वी अंचल में हुए। शुद्ध साहित्यिक प्रवाह की ही दृष्टि से देखें तो ब्रजी का आदर्श केशवदास ने जो भी रखा वह आगे चलकर प्रवाहप्राप्त नहीं हो सका। पर जो आदर्श अकबर के दरबारी कवियों गंग आदि ने रखा वह प्रवाह में स्वीकृत हो गया। अकबरी दरबार के गंग आदि प्रमुख कवि अवधी के क्षेत्र के थे।

उधर तुलसीदास के *भाषा-संबंधी प्रयास पर ध्यान* देने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होने ब्रजी और अवधी को इतना अधिक निकट लाने का प्रयास किया कि दोनों भाषाएँ मिल गईं। जहां किसी भाषा के अधिक और प्रमुख कवि होते हैं साहित्यिक प्रवाह में वही की भाषा आदर्श हो जाती है। खड़ी का मूल क्षेत्र पश्चिमी है पर उसके आंदोलन और प्रमुख लेखक पूर्वी क्षेत्र में हुए इस लिए उस क्षेत्र का आदर्श मान्य हो गया। यही स्थिति अतीत में भी हुई। भाषा का रूप अवध में गढ़ा जाने लगा। उत्तरवर्ती ब्रजभाषा इसी से मिश्रित

भाषा हो गई। इस प्रकार भाषा के रूप का निश्चय पूर्वी अंचल या अवध में ही प्रधान रूप से होता रहा है।

अवध-प्रदेश का केंद्र बैसवाडा है। इसमे अनेक रजवाड़े हुए जिनमे कवियों का सम्मान होता था। इसलिए परवर्ती अधिकतर साहित्य बैसवाड और उसके आसपास निर्मित हुआ। यहाँ की भाषा का प्रभाव ब्रजी पर पड़ना अनिवार्य था। अवधी भाषा की एक विशेष प्रवृत्ति है कि वह प्राकृतस्थ है। ब्रजी सस्कृतस्थ है। भारत देश मे कोई भाषा प्राकृतस्थ रहकर व्यापक नही बन सकती। उसको सस्कृतस्थ करना उसकी व्याप्ति बढाना है। तुलसीदास जी इसे भलीभाँति जानते थे। रामचरित मानस को संस्कृतस्थ करके उन्होने मानस के पठन-पाठन की व्याप्ति तो बढाई ही अवधी को भी ब्रजी के निकट ला दिया। यदि केशव और तुलसी के राम विषयक दोनों प्रबंध काव्यों की भाषा की दृष्टि से तुलना की जाए तो स्पष्ट दिखाई देता है कि तुलसीदास ने संस्कृत के प्रयोग केशव से कही अधिक किए है। प्रयोग मे अंतर यही है कि एक ने भाषा के प्राकृत प्रवाह को सुस्थ रखा है पर दूसरे ने संस्कृत के वाग्योगों का भी मेल करके उसका सहज रूप आच्छन्न कर दिया है। तुलसीदास ने एक ओर रामचरितमानस में अवधी का प्रयोग करते हुए उसमे उतनी ही संस्कृत मिलाई है जितनी अपेक्षित थी दूसरी ओर विनयपत्रिका के "आरंभ के संस्कृत प्रधान पदो को छोड़ दें तो स्पष्ट दिखाई देता है कि विनयपत्रिका के अन्य पदों मे उन्होने संस्कृत की मिलावट करने का प्रयास नही किया। इस प्रकार रामचरितमानस की भाषा और विनयपत्रिका के इन पदो की भाषा मे बहुत कम अन्तर रह गया।"

यही यह भी कह देना आवश्यक है कि ब्रजी और अवधी ने अपनी पूर्ववर्ती भाषा की प्रवृत्ति का ग्रहण करने में भी दृष्टिभेद रखा। ब्रजी में क्रमशः परिष्कार होता गया और अवधी ने पुरानी प्रवृत्ति अधिक समय तक रक्षित रखी। क्या कारण है कि केशव और सूर दोनों की भाषा में रूपभेद है। केशव ने अपने भाषा संबंधी साहित्यिक प्रयत्न मे पूर्ववर्ती प्रवृत्ति को रक्षित रखने का प्रयास किया तो उनकी भाषा का रूप सूर की भाषा से पृथक् हो गया। इधर तुलसीदास ने अवधी को ब्रजी के मार्ग पर ला खडा किया तो इन दोनों की भाषा में उतना अधिक अंतर नही रहा। अपभ्रंश की 'उकार' की प्रवृत्ति तुलसीदास ने कुछ अधिक सुरक्षित रखी है। इस दृष्टि से केशव और तुलसी मे अपेक्षाकृत विशेष मेल है। हो सकता है कि सूर के पद मौखिक होने से परवर्ती प्रभाव से परिवर्तित हो गए हों।

अवध की भाषा अवधी का और उस क्षेत्र के प्रयास से निर्मित सर्वसामान्य

मिश्रित भाषा का कुछ विचार किया गया। अब भाषाविषयक आचार से साहित्य-विषयक विचार पर आना चाहिए। यद्यपि हिंदी-साहित्य के निर्माण का क्षेत्र विस्तृत है तथापि यह निश्चित है कि उसका जितना अंश अवध में निर्मित हुआ वह विशेष महत्वपूर्ण है। हिंदी-साहित्य का आरंभ संवत् १००० वैक्रम के आसपास से माना जाता है, पर कभी-कभी साहित्य की परंपरा का मिलान करते हुए शोधकर्ता इससे भी पूर्व पहुँच जाते हैं। छठी शताब्दी तक इसके उत्स की खोज में जाना पड़ा है कुछ घुमक्कडों को। उन्होंने अपभ्रंश-साहित्य का उद्भव हिंदी-साहित्य का उद्भव माना है। अपभ्रंश-साहित्य भले ही हिंदी-साहित्य की सीमा मे सनिविष्ट न हो, पर जो वाङ्मय प्राप्त होता है उसमें अधिकतर पूर्वी अंचल का है। उसकी परंपरा हिंदी-साहित्य के मान्य वाङ्मय के कुछ अश तक चली आई है। इसमें दो प्रकार का वाङ्मय प्रभूत मिलता है। एक वाङ्मय तो कृत्रिम जैन अपभ्रंश का है और दूसरा सिद्धों के प्रकृत अपभ्रंश का। दोनों को शुद्ध साहित्य के भीतर ग्रहण करना समुचित नही प्रतीत होता। आदिकाल के अंतर्गत जितना साहित्य आता है उसमें से रासो-संबंधी वाङ्मय उसी युग का है इसमें संदेह खड़ा हो गया है। अमीर खुसरो के नाम पर मिलने वाली रचनाएँ परवर्ती हैं। इस प्रकार दो प्रकार की रचनाएँ ही प्रामाणिक रूप मे उस युग की मानी जा सकती हैं। एक विद्यापति की पदावली और दूसरी सूफी प्रेमाख्यानक नूरकचंदा या चंदावत। यह सर्वविदित है कि सूफी प्रेमाख्यान लिखने वाले परवर्ती अधिकतर कवि अवध के थे और विद्यापति की प्रवृत्तियों का ग्रहण जिस उत्तरवर्ती हिंदी-साहित्य में हुआ वह अधिकांश में अवध प्रदेश में लिखा गया। यह रीतिकाव्य का साहित्य है। सूफी प्रेमाख्यानकों के लेखन मे चाहे धार्मिक प्रचार की भावना भी मानी जाए, पर वह फारसी-साहित्य के अनुगमन पर हिंदी-साहित्य में प्रेमाख्यान का नूतन उन्मेष था, यह भी साथ ही स्वीकार करना पड़ेगा। रीति-काव्य हिंदी के अतीत का शुद्ध साहित्यिक प्रयास है इसमें किसी की विमति नहीं है। एक अर्धसाहित्यिक प्रयास और दूसरा पूर्ण साहित्यिक प्रयास है।

सूफी प्रेमाख्यानक भी एक प्रकार का शृंगारी काव्य है और रीतिकाव्य भी शृंगारी काव्य है। सूफी प्रेमाख्यानकों के माध्यम से जिस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हिंदी-साहित्य मे जगीं उनका परिणाम रीतियुक्त कविता में देखा जा सकता है। रीतिकाव्य के रूप मे जो कुछ लिखा गया उसमे साहित्यिक आलंबन मर्यादा पुरुषोत्तम नही बनाए गए। लीलापुरुषोत्तम ही उसके आलंबन रहे। रामभक्ति में रसिक संप्रदाय की प्राचीन कल्पना चाहे त्रेता से ही कर ली जाए

पर रीतिकाव्य में राम को शृंगारी रूप नहीं दिया गया । ऐसा उन कर्ताओं ने किया जो राम की लीला-भूमि के थे, जो राम नाम के जपने का उद्‌घोष अपने रीतिकाव्य के अंत मे कर गए है । अवतारों की मर्यादा रीतिकाव्य मे बिगाडी नही गई है । जिस प्रकार का वर्णन कुत्सित कहा जाता है वह पारंपरिक है और उससे कही अधिक शृंगारी वर्णन कृष्णोपासक रसिकों मे हुआ है । सूफी प्रेमाख्यानक भी प्रकृत सीमा का अतिक्रमण करते हुए दिखाई पड़ते है । जहाँ रहस्यात्मक वृत्तियाँ अवकाश पाती है वही शृंगारी वृत्तियाँ अधिक उत्कट होती हैं । सिद्धो, सूफियो और निकुंज-रसिको मे जितना उत्कट शृंगार है उतना रीतिकाव्य मे नही । रीतिकाव्य के कर्ताओं का दोष इतना ही है कि उन्होंने संस्कृत की शृंगारी परंपरा मे अपेक्षित परिष्कार नही किया । जो दोष हिंदी के इस युग के कवियो को दिया जाता है वह उनका नही है । रोग बापदादो का है, पर उसका फल भोगना पड़ा बेटे-पोतो को । रीतियुग की निर्मिति की समीक्षा करते समय यह भुला दिया गया है कि जिन्होने ऐसा किया वे हिंदी में साहित्य की परंपरा का अंकन कर रहे थे । उस अंकन में कुछ ऐसा अंश भी है जो परवर्ती सुधारवादी मनोवृत्ति को नही रुचा । पर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो रीति युग के कवियो ने जैसा शृंगार का वर्णन किया है वह आधारभूत शृंगार-काव्य की अपेक्षा कुछ परिष्कृत है । विपरीत रति आदि के अशिष्ट वर्णन नाम मात्र को है । यह अवश्य कह सकते हैं कि इन्होंने बहिरंग रूप पर अधिक ध्यान दिया है । पर किसी साहित्य मे जब नई धारा आती है तो बहिरंग पर पहले ध्यान जाता है । रीतिमुक्त कवियो ने अंतरंग पर भी दृष्टि देकर संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया ।

शृंगार के साथ हास्य का लगाव है । शास्त्रीय दृष्टि से भी, लोक दृष्टि मे भी और साहित्यिक परंपरा की दृष्टि से भी । क्या कारण है कि शृंगार का अत्यधिक संग्रह होने पर भी उस युग मे हास्य पर उतना अधिक ध्यान नही दिया गया । फारसी की परंपरा मे जब हास्य कुत्सित सीमा पर पहुँच रहा था तब भी हिंदी के शृंगार युग के कर्ता उसकी ओर नही लपके । रीतिग्रंथों में हास्य का उल्लेख मर्यादायुक्त है । भडौआ लिखने वालों की मंडली एक प्रकार से पृथक् थी । भडौआ परंपरा में काव्य का अंग भी नही माना गया । आधुनिक युग मे हास्य के नाम पर जिस प्रकार की उक्तियों का सर्जन किया गया उस प्रकार के हास्य का नाम तक रीति के कवियों में नही मिलेगा । यह तत्वतः उनकी परिष्कृत दृष्टि है । काव्यशिष्टता का विचार खोकर शृंगार युग के कवि सर्जना मे लीन नहीं हुए थे ।

लक्षण-ग्रंथ लिखने में भी उन्होंने पर्याप्त परामर्श से काम लिया है। हिंदी के लिए क्या ग्राह्य है और क्या त्याज्य इसका पूरा ध्यान रखकर लक्षण-ग्रंथ लिखे गए हैं। संस्कृत-साहित्य में नाना प्रकार के वाद उठे। उनका समन्वित निष्कर्ष ही हिंदी के लिए अनुकूल हो सकता था। प्रत्येक वाद का निर्यास ही इन्होंने ग्रहण किया है। जो हिंदी मे चलने योग्य था उसी को लिया है, शेष को छोड़ दिया है। संस्कृत के परवर्ती समन्वयशील ग्रंथो का आधार लेकर भी उनका सब कुछ नही लिया है। अलंकारों में सबसे विकसित और सुबोध पद्धति चंद्रालोक और उसके पंचम मयूख की टीका कुवलयानंद में दिखी, इसी से हिंदीवालों ने उसे ग्रहण किया। केशवदास कुवलयानंदकार के पूर्व थे। उन्होंने दंडी की आलंकारिक पद्धति ली। पर उक्त ग्रंथों मे से किसी ने सभी कुछ नही लिया। रीति-गुण का जो विस्तार वामन ने किया उसके प्रपंच में हिंदीवाले नही पड़े। तीन रीतियो की चर्चा मात्र कहीं-कही आई है। गुण भी तीन ही लिए गए हैं। रसवादी प्रवाह मे जो निश्चय हुआ उससे लाभ उठाया इन रीतिकारों ने। रसतरंगिणी की परवर्ती प्रक्रिया इन्हें अच्छी लगी इसलिए उसका अनुगमन तो किया पर उसका भी सब कुछ नही लिया। किसी ने कही उसके 'छल' संचारी का उल्लेख भर कर दिया। मायारस का परित्याग कर दिया। किसी ने कही मायारस का संकेत भर कर दिया।

रीतियुग मे साहित्यशास्त्र के विवेचन की आवश्यकता इसलिए पडी कि मूल संस्कृत ग्रंथ दूर पड़ गए थे। प्राकृत और अपभ्रंश तक मूल संस्कृत-ग्रंथों का ही उपयोग चलता रहा। अपभ्रंश युग मे इसकी आवश्यकता के अनुभव का श्रीगणेश भर हुआ था। हिंदीवालो को साहित्यशास्त्र के बोध की अपेक्षा थी, विवेचन की नही। आधुनिक युग मे जब संस्कृत के ग्रंथ मूल और अनुवादरूप में उपलब्ध है और पश्चिमी साहित्यशास्त्र का मंथन भी पर्याप्त हो रहा है तब भी साहित्यशास्त्र के विवेचन का वैसा उन्मेष नही दिखाई देता जैसे की अपेक्षा शृंगार-युग के रीति ग्रंथकारों मे की जाती है तो विवश होकर यही कहना पड़ता है कि हिंदी को विवेचन की आवश्यकता तब नही थी और अब है भी तो उस प्रकार की मेधा और शक्ति कहीं नही दिखती। यों संप्रति अपने मुंह मियाँ मिट्ठू बननेवाले अवश्य दृग्गोचर होने लगे है।

शृंगारयुग मे जो कुछ लिखा गया उसमे अच्छी बुरी सामग्री सब प्रकार की है। पर बुरी सामग्री उतनी नही है जितनी समझी या समझाई जाती है। इस युग में जितने ग्रंथ बने उनमें से बहुत कम अभी सम्यक् प्रकारेण देखे गए हैं। उनमें शास्त्र और काव्य दोनों की दृष्टि से ऐसी संपदा पर्याप्त और श्लाघ्य

रूप में है जिसका हिंदी में उपयोग-प्रयोग वांछनीय था। इस युग के महत्वपूर्ण ग्रंथो का प्रकाशन, उनका अध्ययन समय और श्रम साध्य व्यापार है। इनका अनुशीलन सबके बूते का भी नही है। जितने श्रम और समय में साम्प्रतिक समीक्षा युग मे किसी प्राचीन कवि पर आलोचना लिखकर ख्याति प्राप्त की जा सकती है उससे कहीं अधिक श्रम, शक्ति और समय उसी कवि के ग्रंथों का संपादन-अनुशीलन करने मे लग जाता है। इन कवियों के ग्रंथों का मनन-चिंतन करने मे अत्यधिक धैर्य की अपेक्षा रहती है। इन प्राचीन कवियों के ग्रंथो के संग्रह, अनुचिंतन और प्रकाशन आदि विविध साहित्यिक कार्यों की परंपरा सुप्रसिद्ध मिश्र बंधुओं के परिवार मे रही है। मिश्रबंधुओं की बृहत् त्रयी और लघुत्रयी हिंदी साहित्य मे इस प्रकार के कार्य के लिए सुख्यात है। बृहत् त्रयी मे साहित्यिक कार्यगत अधिक श्रम उसके सबसे लघु सदस्य स्व० पं० शुकदेव बिहारीजी मिश्र ने किया। लघुत्रयी के सबमे बडे सदस्य स्व० पं० कृष्ण-बिहारी जी मिश्र ने साहित्यिक एवम् ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य अत्यधिक किया। प्रस्तुत प्रबंध के लेखक श्री व्रजकिशोर जी मिश्र इन्ही के सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्र हैं।

इस प्रबंध मे रीतिकाल या शृंगारकाल के अंतर्गत पड़नेवाले अवध के कुछ प्रमुख कवियो का अध्ययन किया गया है। इसके लिए ऐसी पर्याप्त सामग्री का आलोड़न किया गया है जो अभी तक हस्तलिखित रूप में ही पड़ी है। इनके पूर्वजो ने हिंदी के प्राचीन कवियों के ग्रंथो का जैसा महत्वपूर्ण संग्रह कर रखा है वैसा हिंदी की बडी-बडी संस्थाओं के संग्रहालयो मे भी नही है। इस प्रकार के पुस्तकालयों का उपयोग कर इसमें संरक्षित ग्रंथों का विस्तृत चिंतनपुष्ट विवरण मात्र प्रस्तुत कर देना ही स्वतः अनुसंधान का प्रशंसनीय कार्य हो सकता है। अभी तो हिंदी में आलोचना और अनुसंधान के पार्थक्य की कोई रेखा ही नही खीची गई है। जो कुछ दृष्ट हो चुका है उसको ऐसे रूप में देखना कि उसमें अंतर्निहित सारी विशेषताएँ उभरकर प्रत्यक्ष हो जायँ आलोचना है। संधान द्वारा जो उपलब्धि हो चुकी है उसके अंतःनिविष्ट तथ्यो अथवा उनकी व्याख्या के नूतन प्रयास द्वारा नूतन उपलब्धि अनुसंधान है। आलोचना में तत्वतः कोई नूतन उपलब्धि नही होती। जो स्थितियाँ आच्छन्न रहती है उनका आवरण आलोचक हटा दिया करता है। प्रत्येक समझता है कि इसके भीतर कुछ आवृत है पर वह आवरण हटा नही पाता। अनुसंधान में जो उपलब्धि होती है वह अज्ञातपूर्व होती है। यह पता नही होता कि इसमें क्या मिल जाएगा। डुबकी लगाने पर रत्न भी हाथ आ सकता है और शंबुक

भी। पहली प्रक्रिया स्वच्छ दृष्टि से संबंध रखती है और दूसरी स्वच्छ उपकरण से। पहली प्रक्रिया दर्शन है और दूसरी विज्ञान। समालोचक होना साधारण कार्य नही, अभ्यास से समालोचक हो सकना भी कदाचित् संभव नही। यदि कवि जन्मजात होते है तो आलोचक भी जन्मजात ही होते हैं। पर अनुसंधायक सब हो सकते है। फिर भी जैसे आलोचक इने गिने होते है वैसे ही अनुसंधायक भी। ऐसा नहीं है कि यदि सब अनुसंधायक हो सकते हैं तो जिसने भी शोध आरंभ कर दिया वही अनुसंधाता बन बैठा। यदि आलोचक जन्मजात होता है तो कभी कभी अनुसंधान में सारा जन्म भी लग जा सकता है। यह भी संभावना है कि सारा जन्म लग जाने पर भी जो शोध शोधकर्ता करना चाहता है वह न हो सके। उसके लिए उसे दूसरा या किसी दूसरे को जन्म लेना पड़े। इसलिए ईश्वरी देन से कोई अल्पवय में आलोचक हो सकता है पर अनुसंधायक के लिए वयप्राप्त होना ही पड़ेगा। अनुसंधान अल्पवयवाले साधक को वयस्क-वयोवृद्ध बना देगा तभी सिद्धि मिलेगी। अनुसंधान साधना है। जो समझता है कि उलटा-सीधा जो कुछ लिख दिया जाएगा उसी से अनुसंधान हो जाएगा वह कुछ उलटा-सीधा करने के फेर मे होगा, उसका अनुसंधान से कोई संबंध नही।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध के महत्त्व के संबंध मे विशेष कहने की आवश्यकता नहीं, वह स्वयंसिद्ध है। हां, मिश्र जी से यह निवेदन अवश्य करना है कि उनके पूर्वजों के पुस्तकालय में जो भी सामग्री है उसे वे साहित्य के हितार्थ क्रमशः प्रकाशित करा दें। उसकी विस्तृत विवरणात्मक सूची प्रस्तुत हो जाए जिससे उसका शोध और इतिहास के लिए अधिकाधिक उपयोग हो सके। इस प्रबंध के प्रस्तुत करने के लिए मिश्रजी बधाई के पात्र हैं। मैं चाहता हूँ कि वे पैतृक परंपरा को विधारितसुत्य करके अपने प्राप्त रिक्थ के सदुपयोग का बहुतों को अवसर देकर साधुवाद के पात्र बनें।

रामनवमी—केशव-जयंती, २०१७
वाणी-वितान भवन,
ब्रह्मनाल, वाराणसी

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

परिचय

प्रस्तुत प्रबंध अवध के शृंगारयुगीन (१७००–१९०० विक्रमी) प्रमुख कवियों का एक आलोचनात्मक अध्ययन है। इसमें प्रायः १० प्रमुख कवियों की रचनाओं का आधार लेकर उन पर काव्यालोचना-युक्त दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। ये कवि निम्नलिखित है :—

१ सुखदेव मिश्र .	१७२०-६०	विक्रमीय	(रचनाकाल)
२ भिखारीदास :	१७८५-१८०७	,,	,,
३ कासिमशाह :	१७८८	,,	,,
४ गुरुदत्तसिंह 'भूपति' :	१७९१	,,	,,
५ गुलामनबी 'रसलीन' :	१७९४-९८	,,	,,
६ जनकराज किशोरीशरण :	१७९७	,,	,,
७ गिरिधर कविराय :	१८००	,,	,,
८ बेनी भट्ट :	१८४९	,,	,,
९ बेनी प्रवीन वाजपेयी :	१८७४	,,	,,
१० महाराज मानसिंह 'द्विजदेव':	१९०७	,,	,,

इनके अतिरिक्त अन्य कवियों के उद्धरण तथा उल्लेख भी यथास्थान प्रस्तुत किए गए हैं, किन्तु उन्हें प्रमुखता प्रदान नहीं की गई।

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम अवध नाम की व्याख्या की गई है, उसकी प्राचीनता तथा शब्दार्थ पर विचार किया गया है। इसके उपरान्त अवध प्रान्त की प्राचीनता तथा उसके संक्षिप्त इतिहास पर दृष्टिपात किया गया है। सं० १७०० से १९०० विक्रमीय में अवध प्रान्त की स्थिति तथा सीमाओं का उल्लेख करके विषय की भूमिका को समाप्त किया गया है। इसके उपरान्त अवध के विभिन्न काव्य केन्द्रों के निवासी आश्रयदाताओं तथा कवियों की वंशोत्पत्ति, जीवनी, कृतियों पर विचार किया गया है। इन स्थानों के नाम

हैं : १. लखनऊ, २. बैसवाड़ा, ३. अमेठी, ४. अरवर (प्रतापगढ़), ५. महदौना (फैजाबाद), ६. कोटवा (बाराबंकी), ७. बिसवां (सीतापुर), ८. मुहम्मदी (हरदोई), ९. दौलतपुर (रायबरेली)।

उपर्युक्त स्थानों के निवासी नरेशों, कवियों अथवा कविनरेशों के वंश-परिचय तथा कृतित्व को सम्मुख लाते हुए बेनी भट्ट, सुखदेव मिश्र, भूपति, जगजीवनदास, शम्भुनाथ त्रिपाठी जैसे कवियों की अनेक हस्तलिखित कृतियों का उपयोग किया गया है, जिनका उल्लेख यथास्थान उपलब्ध होगा। सुखदेव मिश्र की कृतियों के आधार पर उनकी जीवनी को भी एक निश्चित रूप देने का प्रयत्न किया गया है। आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रस्तुत मिश्र जी की जीवनी पर कुछ संशोधनात्मक विचार प्रकट करने का भी साहस किया गया है। ये अंश इस अध्याय में मौलिक कहे जा सकते हैं। द्वितीय अध्याय में आलोच्य युग के नामकरण तथा उसके पोषक उपादानों पर क्रमशः विचार तथा दृष्टि-पात किया गया है। विभिन्न विद्वानों के मत देते हुए अन्त में आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के इस सिद्धान्त से सहमति प्रकट की गई है कि युग का नाम रीति युग न होकर शृंगार युग ही उचित है।

पोषक उपादानों में प्रधानतया समाज, साहित्य तथा धर्म की परम्पराओं के सूत्र जोड़कर आलोच्य युग के प्रति उक्त परम्पराओं का सम्बन्ध तथा प्रभाव दिखलाया गया है।

उक्त आधारों पर तत्कालीन कवियों की सामाजिक मर्यादाओं के प्रति उपेक्षा भावना, शृंगार रस प्रधान लक्षण-लक्ष्य ग्रंथ-रचना की अनिवार्यता, ब्रजभाषा प्रयोग की स्वाभाविकता, कृष्ण का काव्यग्रंथों में अनिवार्य नायकत्व तथा पंचदेवोपासक हिन्दू समाज द्वारा अन्य देवताओं के प्रति भक्तिभाव की वास्तविकता आदि तथ्यों पर विचार किया गया है। यह सिद्धांत स्थिर किया गया है कि आलोच्य युग के कवि यदि एक ओर परम्पराओं से प्रभावित हैं तो दूसरी ओर लोक जीवन में वे केवल विलासी न होकर भक्त भी हैं।

तृतीय अध्याय में आलोच्य युग की प्रमुख काव्यधाराओं पर विचार किया गया है। शृगार के अतिरिक्त अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ भी उस युग में प्रचलित थीं जिनमें से प्रमुख रूप में निम्नलिखित काव्य [illegible] पर यहाँ विचार किया गया है :

१. निर्गुण सन्तकाव्य, २. सूफी प्रेमकाव्य, ३. [illegible], ४. [illegible] वृत्ति ५. नीति काव्य तथा ६ गीत काव्य। इन [illegible] काव्यधाराओं पर [illegible] करते हुए निर्गुण सन्त काव्य तथा सूफी प्रेम [illegible] के सम्बन्ध में [illegible]

जीवनदास तथा कासिम शाह नामक दो कवियों के कृतित्व पर एक विहंगम दृष्टि डालने का प्रयास किया गया है। प्रथम कवि (जगजीवन) का परिचय तथा उनकी काव्यालोचना मौलिक है। कासिमशाह कृत हंस जवाहिर की भी व्यापक आलोचना इस प्रबंध मे प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयत्न है। शेष तीन प्रवृत्तियों मे आलोच्य युग की मौलिक सामग्री का आधार ग्रहण करके उनकी विशेषताओं पर विचार किया गया है।

चतुर्थ अध्याय मे आलोच्य युग की काव्यालोचना की गई है। भावपक्ष के अन्तर्गत शृंगार, अन्य रस तथा प्रकृति पर्यवेक्षण पर विचार किया गया है। कलापक्ष के अन्तर्गत कलाका उद्देश्य, कल्पना, रूपचित्रण, दृश्यचित्रण, अलंकार, काव्य भाषा, उसका स्वरूप, उसकी लाक्षणिकता, व्यापकता तथा शब्दचयन पर विचार है। माधुर्य तथा संगीत और उसके अन्तर्गत प्रत्यय प्रयोग तथा दीर्घान्तता पर विचार किया गया है। ब्रजभाषा के प्रधान गुणों पर भी एक संक्षिप्त दृष्टि डाली गई है।

काव्य शैली के अन्तर्गत मुक्तक, प्रबंध तथा गद्य शैली पर विचार किया गया है। मुक्तक के अन्तर्गत दोहा, सोरठा, पदशैली, छप्पय, सवैया तथा घनाक्षरी छन्दों की परम्परा तथा उनके विकास पर दृष्टि डाली गई है। उक्त छन्दों का विषयानुसार प्रयोग भी स्पष्ट करने का प्रयत्न है। सवैया छन्द के मूल रूप के लक्षण चन्द कृत रासो से ग्रहण किए गए हैं। कबीर तथा अष्टछाप के कवियों मे भी इसका स्वरूप खोजा गया है। इसकी संगीतात्मकता पर भी दृष्टि डाली गई है। **घनाक्षरी का सर्वप्रथम प्रयोग सूर के द्वारा निर्धारित किया गया है।**

प्रबंध शैली के अन्तर्गत भक्ति-आध्यात्मिकता संबंधी प्रबंधों की प्रधानता है तथा वीर, नीति, सूफी काव्य संबंधी प्रबंध भी उपलब्ध है। इन प्रबंधों का विभाजन अनुवादित तथा मौलिक दो श्रेणियों मे किया गया है। प्रबंध शैली मे प्रधानता भक्ति कथाओं की ही है। इन काव्यों के नामकरण, नायक, मंगलाचरण, (गणेशवन्दना तथा अन्य देववन्दना), रस, वस्तुवर्णन, भावव्यंजना, कथावस्तु, संवाद (कथात्मकता, नाटकीयता) संगीत (गीत, स्तुतियां), छन्द (उनका चयन तथा गेयत्व) और सर्गबद्धता पर विचार किया गया है। शृंगारयुगीन प्रबंधों पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालने का यह प्रयास अधिकांश में मौलिक है।

गद्य की स्थिति, आलोच्य युग मे विशेष महत्वपूर्ण नहीं है तथापि उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। उसका ऐतिहासिक महत्व है। टीका, धर्मोपदेश,

गीतिकथन के रूप में गद्य मिलता है। इन श्रेणियों पर संक्षिप्त विचार किया गया है।

उपसंहार में युग पर एक राजनैतिक, कला संबंधी तथा साहित्यिक दृष्टि डाल कर आलोच्य युग का मूल्यांकन किया गया है।

परिशिष्ट १ में आश्रयदाताओं के वंशवर्णन सम्बन्धी उद्धरण, काव्य ग्रंथों से प्रस्तुत किए गए हैं। ये निम्नलिखित हैं :

१. राव मर्दन सिंह (डौंड़ियाखेरा, रायबरेली) रसरसार्णव से (सुखदेव मिश्र कृत)
२. हिन्दूपति (प्रतापगढ) काव्यनिर्णय से (दास कृत)
३. हिम्मत सिंह, गुरुदत्त सिंह भूपति (अमेठी, सुलतानपुर) छन्द विचार से (सुखदेव मिश्र कृत)
४. टिकयितराय (लखनऊ) टिकयितराय प्रकाश से (बेनी भट्ट कृत)
५. नवलकृष्ण (लखनऊ) नवरसतरंग में (बेनी प्रवीन बाजपेयी कृत)
६. मानसिंह द्विजदेव (अयोध्या) प्रताप रत्नाकर से (लछिराम कृत)
७. फाजिल अली (हरदोई) फाजिल अली प्रकाश से (सुखदेव मिश्र कृत)
८ राजसिंह (गौड नरेश) वृत्तविचार में (सुखदेव मिश्र कृत)
९. खूबचन्द कायस्थ (बैंसवाड़ा) रसविलास में (बेनी भट्ट कृत)

परिशिष्ट २ में कवि वंश वर्णन सम्बन्धी उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं :

१. जगजीवनदास (कोटवा, बाराबकी) भक्त विनोद से (बोधेदास कृत)
२ कासिमशाह (दरियाबाद, बाराबकी) हंस जवाहिर में (कासिमशाह कृत)
३ भिखारीदास (ट्योंगा, प्रतापगढ़) छन्दोर्णव पिंगल में (दास कृत)
४. सुखदेव मिश्र (दौलतपुर, रायबरेली) वृत्तविचार में (सुखदेव मिश्र कृत)
५. बेनी भट्ट (बैंती, रायबरेली) टिकयितराय प्रकाश से (बेनी भट्ट कृत)

परिशिष्ट ३ में सहायक ग्रंथ सूची है।

संक्षेपतः प्रस्तुत प्रबन्ध अवध के शृंगारयुगीन प्रमुख कवियों के साहित्य का एक समीक्षात्मक संक्षिप्त परिचय है। लेखक इसे न तो पूर्ण कहने का साहस कर सकता है और न सर्वांगीण। वास्तव में अवध का साहित्य इतना व्यापक तथा विशाल है कि एक छोटे से प्रबंध में उसे आबद्ध करने का प्रयत्न किसी कवि के शब्दों में "समुद्र को सम्पुक में भरना है।" प्रयत्न केवल यह है कि इस प्रबन्ध के द्वारा उक्त साहित्य का परिचय पाठकों को कराया जा सके। इसमें सफलता कहां तक प्राप्त हो सकी है, यह कहना लेखक का काम नहीं है, विद्वज्जन इसका निर्णय करेंगे।

प्रस्तुत प्रबंध की सामग्री मुझे प्रयाग विश्वविद्यालय पुस्तकालय, लखनऊ विश्वविद्यालय पुस्तकालय, गंगाप्रसाद मेमोरियल लाइब्रेरी (पं० शुकदेव बिहारी मिश्र विभाग) लखनऊ, श्री व्रजराज पुस्तकालय, गंधौली सीतापुर), हिन्दी सभा पुस्तकालय, सीतापुर से प्राप्त हुई है।

मैं अपने गुरुजन, प्रधानतः गुरुवर डा० दीनदयालु जी गुप्त, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय, लखनऊ का कृतज्ञ हूँ, जिनके निर्देशन ही में नहीं वरन् जिनकी सतत प्रेरणा से यह कृति इस रूप में उपस्थित की जा सकी।

हिन्दी विभाग
विश्वविद्यालय, लखनऊ
१६-१२-१९५६

व्रज किशोर मिश्र

निवेदन

अवध के शृंगार युगीन प्रमुख कवियों का अध्ययन प्रस्तुत करने की प्रेरणा मुझे स्वर्गवासी पितृचरण प० कृष्णबिहारी जी मिश्र से मिली थी। यह कार्य प्रयाग विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में स्वर्गीय गुरुवर पं० देवीप्रसाद जी शुक्ल के निर्देशन में आरम्भ हुआ था किन्तु दुर्भाग्यवश परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण मुझे प्रयाग से चले आना पड़ा और कार्य आरम्भिक स्थिति में ही पड़ा रहा। आगे भी कितनी ही विषम परिस्थितियां घेरे रहीं और कार्य की प्रगति अत्यन्त मन्द मन्थर गति से ही हो सकी। एक लम्बी अवधि के उपरान्त ही मैं इसे पूरा कर सका और उसका सम्पूर्ण श्रेय गुरुवर डा० दीनदयालु जी गुप्त को है, जिनकी प्रोत्साहनपूर्ण प्रेरणा तथा समुचित सुविधा प्रदान के आधार पर इसका समापन हो सका।

कार्यकाल के बीच में मेरे कितने ही मित्रों तथा शिष्यों ने अपनी स्नेहपूर्ण सहायता से मेरे कार्य भार को हलका करने का प्रयत्न किया है; वे सभी कृतज्ञता अथवा आशीर्वाद के पात्र हैं। भाई जगन्नाथबख्श दास (महन्त, गद्दी जगजीवन दास, कोटवा, बाराबंकी) मेरे प्रिय सुहृद है। उन्होंने अत्यन्त उदारता पूर्वक जगजीवन जी के हस्तलिखित ग्रंथ मेरे लिए उपलब्ध कर दिये। उनको धन्यवाद देना आत्मश्लाघा ही होगी। बाबू मिठाईलाल जी (प्रतापगढ़) ने कविवर दास का वंश वृक्ष प्रदान किया, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। मेरे प्रिय शिष्य डा० रामचन्द्र तिवारी (प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) ने तो प्रत्येक समय, प्रत्येक प्रकार से मेरी सहायता की है, उसका उल्लेख केवल उनके प्रति स्नेहाभिव्यंजन मात्र है।

अन्त मे मैं अपने विद्वान् तथा सहृदय परीक्षक-द्वय, आदरणीय डा० राम प्रसाद जी त्रिपाठी तथा श्रद्धास्पद आचार्य विश्वनाथ प्रसाद जी मिश्र के सम्मुख कृतज्ञता-ज्ञापन करता हूँ जिन्होंने इस कृति की त्रुटियों पर दृष्टिपात न करते

हुए इसे स्वीकार किया। पूज्य मिश्र जी ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका देकर इस पुस्तक का महत्व बढा दिया, यह मेरे लिए गौरव की बात है।

पुस्तक पाठको के सम्मुख है। मेरा केवल इतना ही निवेदन है :—

'होउ प्रसन्न देहु वरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू ॥''

३५, विष्णुनगर,
लखनऊ
गुरु पूर्णिमा, २०१७

— ब्रज किशोर मिश्र

विषय-सूची

प्रथम अध्याय—पृष्ठ १–५२

द्वितीय अध्याय—पृष्ठ ५३–८२

तृतीय अध्याय—पृष्ठ ८३–१५३

चतुर्थ अध्याय—पृष्ठ १५४–३०१

अवध के प्रमुख कवि

(१७००—१९०० वि०)

प्रथम अध्याय

पूर्व-दर्शन तथा इतिहास

१. पूर्व-दर्शन

अवध : रमणीया आर्य-भूमि के पयस्वी, उर्वर अंक में स्थित अवध-प्रदेश अपनी प्रभा से आप ही प्रकाशमान् है। पावन पुरुष राम का आदर्श, भगवान बुद्ध का त्याग तथा इतिहास के अनेक नर रत्नों के अद्‌भुत चरित्र इस प्रदेश में समय-समय पर दृष्टिगोचर होते रहे है। कवि-पुंगव जायसी, तुलसी आदि की प्रतिभा इसी प्रदेश में स्फुरित हुई थी। अस्तु, अपने प्रकृत विषय का आरम्भ करने के पूर्व यदि हम इस प्रदेश के संक्षिप्त इतिहास पर एक परिचयात्मक दृष्टि डाल लें तो अच्छा होगा।

'अवध' नाम अयोध्या का अपभ्रंश है। इस शब्द की उत्पत्ति के विभिन्न कारण विद्वानों द्वारा दिये गये है। अज् + युध की व्युत्पत्ति से कुछ विद्वान् इसको "ब्रह्मा का अजेय नगर" कह कर मानते है। कुछ लोग अ + युध का अर्थ लेकर केवल "अजेय नगरी" अर्थ करते हैं। बम्बई के डाक्टर विल्सन ने 'युद्ध' से सम्बन्ध जोड़कर इसका अर्थ "युद्ध वीर क्षत्रियो का नगर" किया है।[1] कुछ

१. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ २, पी० कारनेगी

लोग 'अवध' शब्द को तत्सम रूप में ग्रहण करते हैं और इसका सम्बन्ध राम वनवास की 'अवधि' से स्थापित करते हैं, किन्तु इस सिद्धान्त में यह कठिनाई है कि राम वनवास से पूर्व अवश्य ही यह नाम इस नगर का नही रहा होगा। दूसरे, अयोध्या का नाम इक्ष्वाकु के समय से प्राप्त होता है, जो राम के आदि पुरुष थे, अत अयोध्या का अर्थ 'अजेय नगरी' ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

आदि कवि वाल्मीकि ने अयोध्या नगरी की स्थापना मनु के द्वारा कही है :

"अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोक विश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥"[१]

साथ ही साथ उन्होने मनु-पुत्र इक्ष्वाकु द्वारा भी इस नगर की स्थापना का उल्लेख किया है :

"मनु. प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥"[२]

इस प्रकार अयोध्या का बसाना वाल्मीकि ने मनु द्वारा लिखा, तथा कहीं-कहीं उनके पुत्र इक्ष्वाकु द्वारा भी इस पुरी का बसाया जाना कथित है, अतः जान पड़ता है कि यह कार्य मनु ने प्रारम्भ और इक्ष्वाकु ने पूरा किया। जो भी हो, लगभग २५०० वर्ष पूर्व रचित वाल्मीकीय महाकाव्य में इस नगर का बड़ा ही सम्पन्न तथा प्रभावशाली वर्णन है।

१२ योजन में विस्तृत यह नगरी सम्पूर्ण धन-धान्य संयुक्त थी।[३] तत्कालीन प्रमुख साम्राज्यों में कोशल एक था। गान्धार, कैकय, मद्र, उशीनर, मत्स्य, कुरु, पाचाल, काशी तथा विदेह अन्य राज्य थे। कोशल का साम्राज्य लगभग आधुनिक अवध के बराबर ही था। विदेह राज्य उसकी पूर्वी सीमा पर था। और सदानीरा नदी (आधुनिक गडक अथवा राप्ती) दोनों राज्यों की मध्य रेखा थी। पश्चिमी सीमा पर पांचाल देश था और दक्षिण में सर्पिका अथवा स्यंदिका (सई) नदी बहती थी। उत्तर में नेपाल की पर्वत श्रेणी थी।[४] पांचाल देश पर आधुनिक बरेली, बदायूं और फर्रुखाबाद स्थित हैं। इस प्रदेश की राजधानी कम्पिला, गंगा के किनारे स्थित है और प्राचीन काल की प्रसिद्ध नगरी है।

वाल्मीकि के अनुसार अयोध्या कोशल की राजधानी थी। साकेत और

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकाड, अ० ५, श्लोक ६
२. वही, बालकाड, अ० ७०, श्लोक २१
३. वही, बालकाड, सर्ग ५
४ पोलिटिकल हिस्ट्री आव् एन्शियेंट इण्डिया, राय चौधरी, पृष्ठ ६४

श्रावस्ती नामक दो अन्य नगर भी इस प्रदेश में प्रसिद्ध थे। अयोध्या और साकेत प्राय: एक ही समझे जाते हैं। कुछ इतिहासज्ञों ने बुद्ध काल मे इन दोनों नगरों की स्थिति अलग-अलग कही है। सम्भवतः ये दोनों नगर एक दूसरे के निकट थे। राप्ती नदी के दक्षिण किनारे पर, गोंडा, बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित ध्वंसावशेष सहेत-महेत ही श्रावस्ती का खंडहर माना जाता है।[१] क्रम से अयोध्या, साकेत तथा श्रावस्ती कोशल की राजधानिया रही।[२]

बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु कोशल के ही अन्तर्गत थी। प्रसेनजित् बुद्ध के समकालीन सम्राट् थे। ७ वी शताब्दि ई० पू० के मध्य तक कोशल साम्राज्य प्रबल रहा, इसके बाद धीरे-धीरे मगध का उत्थान होने लगा। यद्यपि मगध और कोशल में युद्ध हुये, किन्तु अन्त मे विवाह सम्बन्धों से मैत्री स्थापित होती रही। शिशुनाग और मौर्य साम्राज्य-काल मे अवध, मगध के अन्तर्गत ही रहा। श्रावस्ती का महत्व इस समय अधिक था। तक्षशिला के लिये श्रावस्ती से एक व्यापार मार्ग खुला हुआ था। श्रावस्ती से उज्जैन, ताम्रलिप्ति, पाटलिपुत्र, राजगृह, गया आदि को भी मार्ग जाते थे।[३]

ग्रीक विजेता मैनेण्डर (मिलिन्द) ने लगभग १५० ई० पू० में साकेत के ऊपर आक्रमण किया था। इसके बाद गुप्त-काल के विकास तक अयोध्या का विशेष महत्व नही रहा। शुंग और कन्व वश के सम्राट् पुष्यमित्र तथा वासुदेव के शासनकाल में मगध का ही प्रभुत्व बना रहा।

सन् १२० ई० के लगभग कुशन साम्राज्य का प्रतापी राजा कनिष्क सिंहासन पर बैठा। इसका साम्राज्य बिहार प्रान्त तक विस्तृत था, अवध इसी के अन्तर्गत था।

गुप्त शासकों के शासन काल मे अयोध्या का फिर उद्भव हुआ। ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध धर्म का स्थान ग्रहण कर रहा था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने वैष्णवोपासना के पुनरुद्धार की प्रेरणा से अयोध्या की स्थिति की पुनः खोज की। सरयू तट पर स्थित भगवान् शंकर के मन्दिर नागेश्वरनाथ को खोज कर उसने पुनः उनकी स्थापना की और इस प्रकार से चिर काल से उपेक्षा के गर्त मे पड़ी यह प्राचीन नगरी फिर महत्वशालिनी हुई।[४] समुद्रगुप्त के समय में भी

१. राय चौधरी, पृष्ठ ८५
२. वही, पृष्ठ ९०
३. ए हिस्ट्री आव् इण्डिया, के० वी० आर० आयंगर, पृष्ठ ६०
४. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ३

अयोध्या गुप्त सम्राटो की जय-स्कन्धावार थी।[१] चौथी पांचवी शताब्दी ई० के लेखक परमार्थ ने तथा ७ वी शताब्दी के यात्री हुएनत्साग ने क्रमश: अयोध्या तथा श्रावस्ती को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की राजधानी लिखा है।[२] चीनी यात्री फाहियान ने भी अयोध्या का उल्लेख किया है और श्रावस्ती को बिल्कुल भग्नावशेष कहा है। कुमार गुप्त के समय मे श्रावस्ती एक भुक्ति थी। यह भुक्तियां राजवश के कुमारो द्वारा भी शासित होती थी तथा अन्य उच्चकुलीन पदाधिकारियो द्वारा भी। राजमत्री तथा कुमारामात्य (जिलाधीश) पृथ्वीसेन अवध मे ही नियुक्त थे, ऐसा प्रतीत होता है।[३] स्कन्दगुप्त का उत्तराधिकारी अयोध्या मे ही रहता था।

७वी शताब्दी ई० के पूर्वार्ध मे हर्ष, भारत का सम्राट् हुआ और राजनैतिक केन्द्र अयोध्या से कन्नौज को स्थानान्तरित हो गया। अवध का महत्व भी घट गया। यद्यपि वह हर्ष के साम्राज्य के अन्तर्गत बना रहा। हुएनत्सांग ने तत्कालीन परिस्थिति का वर्णन किया है। श्रावस्ती को उसने अयोध्या का प्रमुख नगर लिखा है जो बिल्कुल दुर्दशाग्रस्त था। कन्नौज का उस समय प्रभुत्व था। बौद्ध धर्म बहु-प्रचलित धर्म था। देश सम्पन्न था। बाणभट्ट, भवभूति, हर्ष के आश्रित कवि थे। स्वय हर्ष श्रेष्ठ कवि था।

७वी शताब्दी के मध्य मे, हर्ष की मृत्यु पर, देश छोटे-छोटे प्रदेशो मे विभक्त हो गया। इनमे मालवा, दिल्ली, कन्नौज आदि प्रमुख थे। राजपूतो ने पौराणिक धर्म को ग्रहण किया। अवतार-वाद प्रबल हो चला और बौद्ध धर्म अवनत होने लगा। मुसलमानो के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। देश दुर्व्यवस्था से पूर्ण था। मुसलमान विजेता अपने केन्द्र प्राय: पश्चिमोत्तर प्रदेश मे ही रखते थे, अत: पूर्वी प्रदेशो से उनका सम्पर्क कम हो पाता था, शासन व्यवस्था भी शिथिल रहती थी। अवध भी इन विजेताओ के आधीन हुआ किन्तु यहा के शासक प्राय: सूबेदार ही रहे, जिनका सम्पर्क देश से केवल मालगुजारी वसूल करने तक ही था। ऐसी दशा में सारे प्रान्त में अस्तव्यस्तता फैल जाना स्वाभाविक था। परिणाम यह हुआ कि शासन केन्द्रो से दूर होने के कारण स्वय सूबेदार प्राय: विद्रोह करने लगे।

---

१. रायचौधरी, पृष्ठ ४९६
२. वही, पृष्ठ ४३८
३. वही, पृष्ठ ४७२, ४७८

इसके आगे ११वीं शताब्दी ई० तक अवध का इतिहास अस्पष्टता के धुंधले परदे के पीछे छिपा है।[१]

बारहवीं शताब्दी ई० के आरम्भ में मुहम्मद गोरी के भारत से वापस जाने पर बख्तियार खिलजी ने अवध को अपने अधिकार में कर लिया। बख्तियार कुतुबुद्दीन का सरदार था जिसे गोरी ने दिल्ली में रखा था। १३ वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में नसीरुद्दीन मुहम्मद शाह अवध का जागीरदार था।[२] यह इल्तुतमिश का पुत्र था। इसके बाद सुल्ताना रजिया के समय में अवध के जागीरदार ने विद्रोह किया। उस समय रजिया का सिंहासनाधिकार छिन गया। उसके स्थान पर रुकनुद्दीन गद्दी पर बैठा था। अवध के सूबेदार नसरत-उद्दीन तयारसी ने रजिया की सहायता के लिए साम्राज्य के प्रति विद्रोह किया था।[३] १३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अवध के शासक कुतलग खाँ ने विद्रोह किया किन्तु बलबन ने उसे दबा दिया। अवध के दो लाख आदमियों को उसने सेना में भरती किया था।[४] तुगलक-शाही के अन्तिम दिनों में भी इसी प्रकार दोआबे के निवासी विद्रोह करते रहे। उन्होंने कर देना बन्द कर दिया और स्वेच्छाचारी हो गए।[५] इस प्रकार १४ वीं शताब्दी के अन्त में शासन अत्यन्त अस्तव्यस्त रहा। फौजें लूटमार करती रहीं। कन्नौज से बंगाल तक सारा प्रदेश अस्तव्यस्त हो गया। तैमूर के आक्रमण ने देश को और छिन्न-भिन्न कर दिया। छोटी-छोटी सैनिक टुकड़ियां बन गयीं जो लूट मार करने लगीं। इस समय ख्वाजाजहाँ उपाधिधारी, सरवर नामक एक खोजा, अवध का शासक था। कन्नौज, डलमऊ, कड़ा, संडीला, बहराइच, बिहार, जौनपुर इसके शासन के अंतर्गत थे।[६] १४ वीं शताब्दी के अन्त में, फीरोज तुगलक की मृत्यु के बाद मुहम्मद तुगलक ने इसे पूर्वी प्रदेशों का शासक बना दिया था। जौनपुर इसकी राजधानी थी। यह इतना प्रबल था कि तैमूर के आक्रमण की अस्तव्यस्तता से

१. "The History of Ajodhya, however, as of nearly all Hindu Kingdoms between the seventh and eleventh centuries, is a mystry." अवध गजेटियर्स १, पृ० ४५८
२. ए शार्ट हिस्ट्री आव् मुस्लिम रूल इन इंडिया, ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ ७९
३. वही, पृष्ठ ८३
४. वही, पृष्ठ ८७, ९४
५. वही, पृष्ठ १६९
६. वही, पृष्ठ १७७

लाभ उठाकर इसने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। इसके बाद इब्राहीम (शमसुद्दीन) शाह शरकी जौनपुर का शासक हुआ। इसके समय में सम्यता, कला आदि की खूब उन्नति हुई। इसी समय शेरशाह ने हुमायूं को परास्त करके बंगाल पर अपना अधिकार कर लिया। वहाँ चैतन्य द्वारा प्रचारित कृष्ण-भक्ति, हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की ओर जनता का झुकाव विशेष हो रहा था। हुसेन शाह ने सत्यपीर नामक जो मत चलाया था उसका यही उद्देश्य था। अवध की सस्कृति भी उक्त बातो से प्रभावित हुई।

अवध प्रान्त बाबर के समय से ही मुगल-साम्राज्य का एक प्रमुख अंश था।[१] किंतु अकबर के शासन काल के पूर्व वह सूबे के रूप मे न था। शेरशाह के समय तक देश सरकारो और परगनो मे विभाजित था। अकबर ने जागीर-प्रथा उठा दी और देश को १२ सूबो मे विभक्त किया। सूबेदार, जो कि सिपह-सालार कहे जाते थे, सम्पूर्ण अधिकारों से युक्त थे। ये सूबे सरकार और परगनो मे बँटे थे। अवध इनमे एक प्रमुख सूबा था।[२] यह अवश्य सत्य है कि राजधानी से दूर होने के कारण और यातायात के उपयुक्त साधनों की कमी के कारण इन सूबों पर पूरा प्रभुत्व रह नही पाता था, सूबेदार निरकुश थे।[३]

अवध का प्रदेश अत्यन्त उर्वर तथा धन-जन-सम्पन्न था। सन् १७७२ ई० तक यह पतनोन्मुख मुगल-साम्राज्य का एक अग बना रहा। १७२२ ई० मे अवध के शासक सआदत खा ने एक प्रकार से अपने को स्वतत्र करके एक नया मुस्लिम-राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी लखनऊ, धन-सम्पत्ति तथा सम्यता में दिल्ली से होड करती थी।

तत्कालीन अवध की सीमायें आज के अवध से भिन्न थी। आज का अवध संयुक्त प्रात के १२ जिलो से मिलकर बना है। ये जिले है: १. सीतापुर, २. खीरी, ३. हरदोई, ४. उन्नाव, ५. रायबरेली, ६. प्रतापगढ, ७. सुलतानपुर, ८. बहराइच, ९. गोंडा, १०. फैजाबाद, ११. बाराबकी, तथा १२. लखनऊ। उस समय के अवधमें प्रमुख अंतर यह था कि उक्त १२ जिलों के अतिरिक्त उसमे गोरखपुर सरकार भी सम्मिलित थी, जिसका क्षेत्रफल लगभग वर्तमान गोरखपुर तथा बस्ती जिलो के बराबर था। उधर वर्तमान फैजाबाद जिले का आधा पूर्वी भाग, सुल्तानपुर जिले का पूर्वी तथा दक्षिणी भाग तथा रायबरेली जिले का

---

१. फर्स्ट टू नवाब्स आव् अवध, ए० लाल, पृष्ठ ३१
२. ए शार्ट हिस्ट्री आव् मुस्लिम रूल, ईश्वरी प्रसाद, पृष्ठ ४४९
३. वही, पृष्ठ ४५५

दक्षिणी भाग तत्कालीन अवध में न होकर इलाहाबाद सरकार मे थे। अकबर के समय से मुहम्मदशाह तक, इस रूप में कोई विशेष अन्तर नही पड़ा। अबुल-फजलकृत आईने-अकबरी तथा सआदत खां और सफदरजंग के समकालीन छत्रमणि कृत चहार गुलशन में अवध के वही सूबे, वही सरकारें, वही नगर तथा वही सीमायें प्राप्त होती है। ये सीमायें इस प्रकार थीं: उत्तर में हिमालय की पर्वत श्रेणी, पूर्व में बिहार प्रान्त, इलाहाबाद सूबे की मानिकपुर सरकार दक्षिण में, और पश्चिम में कन्नौज सरकार। गोरखपुर के पूर्वी सीमान्त से लगाकर कन्नौज तक लगभग १३५ कोस (२७० मील) लम्बाई, और उत्तरी पर्वत श्रेणी से लगाकर मानिकपुर सरकार की उत्तरी सीमा तक ११५ कोस (२३० मील) चौड़ाई थी। सम्पूर्ण सूबे में ५ सरकारें या जिले थे। जिनका विस्तार बहुत कुछ विषम था। ये जिले निम्नलिखित थे: १ हवेली अवध (फैजाबाद) २. गोरखपुर, ३. बहराइच, ४ लखनऊ, ५. खैराबाद। इन सबका क्षेत्रफल एक करोड़ एक लाख इकहत्तर हजार अस्सी बीघा था।[1]

२. इतिहास

आश्रयदाता तथा कवि

अवध मे दिल्ली-साम्राज्य से स्वतंत्र राज्य स्थापित हो गया। कहने भर को उसकी सत्ता स्वाधीन हो गई किन्तु देश की परिस्थितियों मे इस घटना से कोई विशेष अन्तर उपस्थित नहीं हुआ। पहले जहाँ सूबेदार मालगुजारी दिल्ली भेज देते थे वहाँ अब वे स्वयं उसका उपभोग करने लगे। यह कहा जा सकता है कि अर्थ-संचय की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ गई, और जनता को अधिक कर-भार वहन करना पड़ा। अनेक विशाल भवनों, इमारतों द्वारा नवाबों ने अपने वैभव का प्रदर्शन किया अवश्य, समय-समय पर लाखों रुपये के हीरे जवाहरात धारण करके उन्होंने अपनी सवारियां अवश्य निकाली किन्तु जनसाधारण के हित की ओर उनकी दृष्टि नही गई। यह दूसरी बात थी कि देश स्वयं सम्पन्न था। लोगों के भरण-पोषण भर को अन्न-संचय सरलता से हो जाता था। परन्तु नवाबों के जीवन में विलास की धारा अबाध गति से बह रही थी। स्वयं लखनऊ नगर की ऐसी दुर्दशा थी कि टेनँट नामक अँगरेज यात्री ने लिखा है "……सब प्रकार की गन्दगी, दुर्दशा, दुराचार यहां निवास करते है। जो गली राजमहल को जाती है वह ५ मील से अधिक लम्बी है और प्रायः आधी गली में गन्दगी

---

१. फर्स्ट टू नवाब्स आव अवध, पृष्ठ ३१, ३२

और कीचड मे होकर चलना पड़ता है। सडको के बीच में १०, १२ फीट तक के गड्ढे हो जाते है ।"[1] उक्त वर्णन को पढ़कर लखनऊ निवासी तत्कालीन कवि बेनी की इस पंक्ति की यथार्थता पर विश्वास कर लेने को जी चाहता है :

"मीचु है कवूल पै न कीच लखनऊ को।" अस्तु।

जार्ज फारेस्टर नामक यात्री ने भी कुछ इसी प्रकार की बात लखनऊ के विषय मे कही थी "लखनऊ एक बडा और आबाद नगर है किन्तु बहुत ही अस्तव्यस्त और भद्दा है। गलिया पतली ऊबड खाबड तथा सब प्रकार की गंदगी से पटी पड़ी है।"[2] इत्यादि। उपजाऊ भूमि का शतांश भी बोया-जोता नही जाता था।[3]

इस प्रकार के उद्धरण देने का तात्पर्य यह है कि एक ओर उत्तर-मुगल साम्राज्य की परिस्थिति दिल्ली मे अस्तव्यस्त थी और दूसरी ओर उसी के फल-स्वरूप अवध प्रान्त के नवीन शासको ने भी सुधार का कोई प्रयत्न नही किया था, जनता भी अकर्मण्य थी। राज-दरबार मे विलास के समस्त उपकरण एकत्र थे। छोटे मोटे राजे-तालुकेदार, नवाबों का अनुकरण करने मे गौरव का अनुभव करते थे अत. इन सबके बीच में भी विलास का बाजार गर्म था। ललित कलायें इस वासनापूर्ति का साधन बनी हुई थी अतः देश की परिस्थितियो मे परिवर्तन होने पर भी, कम्पनी आदि का शासन स्थापित हो जाने पर भी, सुदीर्घ काल तक लोग इससे छुटकारा न पा सके। किन्तु इस विलासिता के बीच भी परिस्थितियो ने तत्कालीन शासकों, राजाओं, जमीदारो और जनता को भी, युद्ध-प्रिय तथा वीर बना रखा था। देश की अस्तव्यस्तता के कारण प्रत्येक व्यक्ति को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए कठिन संघर्ष मे भाग लेना पडता था, इस प्रकार की परिस्थितियों और घटनाओं का परिचय हमको इसी अध्याय मे, लखनऊ, अयोध्या, अमेठी, डौंडियाखेरा आदि स्थानों के इतिहास मे प्राप्त होगा।

जैसा कि हम कह चुके है, अवध के राज-दरबार ललित कलाओ के केन्द्र थे। अनेक राजे स्वयं कला प्रेमी थे और उसके अभ्यासी भी। संगीत-साहित्य-चर्चा साथ-साथ चलती थी। ऐसी दशा मे जीविकोपार्जन के अभिलाषी अनेक कवि इन दरबारों में आ टिकते थे। उनके गुण-ग्राहक व्यक्ति जनता में अधिक नही थे और जो थे भी वे इतने सम्पन्न नही थे कि कवियों को विशेष पुरस्कृत कर

---

१. अवध गजेटियर्स २, पृष्ठ ३६२
२. वही, पृष्ठ ३६१
३. वही, पृष्ठ ३६२

सकते, अतः राजाश्रय ही कवियों का एक मात्र सहारा था। परन्तु साथ ही साथ "प्राकृत-जन गुण-गान" के विरोधी सन्त कवि भी थे, जो संसार से विरक्त, स्वान्तःसुखाय काव्य-रचना करते हुए, लोक-कल्याण-साधन में संलग्न रहते थे। इस प्रकार हमें आश्रयदाताओं और कवियों की दो-दो श्रेणियां मिलती हैं।

आश्रयदाताओं में एक तो वे कला-प्रेमी राजे-महाराजे थे जो स्वय काव्य-रचना के अभ्यासी थे और इसलिये कवियों का आदर करते थे। दूसरे वे थे जो स्वयं तो काव्याभ्यासी नही थे किन्तु सामयिक प्रभाव के कारण कुछ न कुछ कला-प्रेमी अवश्य थे, साथ ही दो चार कवि पंडितों को आश्रय देने मे अपनी गौरव-वृद्धि समझते थे। यह उस समय के रईसो का फैशन समझा जाता था। इसी प्रकार कवियों में कुछ तो राजाश्रित थे और कुछ स्वतंत्र।

उक्त चारों श्रेणियाँ हमको अवध के रजवाड़ों तथा कवियों में उपलब्ध होती हैं। अवध के नवाब, उनके कर्मचारी स्वयं कवि न होते हुये भी बहुत से श्रेष्ठ कवियों के आश्रयदाता थे। अयोध्या, अमेठी आदि के राजकुलों में श्रेष्ठ कवि भी उत्पन्न हुये और अनेक सत्कवियों को आश्रय भी मिला। कविवर बेनी, बेनी प्रवीन, देव, दास आदि कितने ही श्रेष्ठ कवि, राजाश्रय मे फूले फले तथा सुखदेव मिश्र जैसे कवि राजाश्रय में रहते हुये भी विरक्त रहे। रसलीन, बाबा रघुनाथ दास रामसनेही, जगजीवन दास, कासिम शाह आदि कवि बिल्कुल स्वतंत्र रूप से रचना करते रहे।

इस अध्याय मे हम सर्वप्रथम उन प्रमुख आश्रयदाताओं के वंश और जीवनवृत्त का परिचय देंगे जो तत्कालीन अवध के प्रमुख केन्द्रों में उत्पन्न हुये थे। ये केन्द्र प्रधानतः लखनऊ, अयोध्या, अमेठी, डौड़ियाखेरा, प्रतापगढ़, हरदोई, सीतापूर, खीरी थे। उक्त स्थानों के शासक तथा उनके वंशज भी कला-प्रेमी तथा कवि थे और उनके आश्रय में कितने ही श्रेष्ठ कवियों ने रचनायें कीं।

आगे हम क्रमशः इन्ही केन्द्रो के इतिहास का परिचय प्रस्तुत करेंगे।

१. लखनऊ

नवाब-वजीर अवध : आश्रयदाताओं तथा कवियो का एक प्रमुख केन्द्र लखनऊ था। हम कह चुके है कि अकबर ने अपने भारत के साम्राज्य को बारह सूबों मे विभाजित कर दिया था, और अवध भी उनमे से एक था। तत्कालीन दुर्व्यवस्था तथा सूबे की सीमाओं का उल्लेख भी हम कर चुके हैं। अठारहवीं शताब्दी विक्रमीय के अन्त में नादिरशाह का भारत पर आक्रमण हुआ। दिल्ली के सिंहासन पर मुहम्मदशाह था। शासन-व्यवस्था जर्जर थी ही अतः एक ही

धक्के में साम्राज्य की दीवार बैठ गई। अवध में सआदत खां सूबेदार था। उसने इस उपयुक्त अवसर से लाभ उठाया और स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। सं० १७८९ में वह अवध का शासक नियुक्त हुआ था और देश की परिस्थिति सुधारने के लिए उसने अनेक प्रबल राजाओं से युद्ध भी किये, किन्तु मुहम्मदशाह के समय, लगभग १८०५ वि० तक, यह दुर्व्यवस्था प्रायः ज्यों की त्यों बनी रही। सआदत खा के दो युद्ध, इतिहास तथा साहित्य, दोनों में प्रसिद्ध हैं। फतेहपुर के वीर राजा भगवंत राय खीची ने उसे बहुत परेशान किया था। सआदत को उसकी वीरता मुक्त-कंठ से स्वीकार भी करनी पडी थी। घोर युद्ध के बाद ही वह उसे मार सका था; उसकी मृत्यु पर कवि मल्ल ने इस प्रकार लिखा था :

"आजु महादीनन को सूखिगो दया को सिंधु,
आजु ही गरीबन को सब गथ लूटिगो।
आजु दुजराजन को सकल अकाज भयो,
आजु महाराजन को धीरजहु छूटिगो॥
मल्ल कहै आजु सब मंगन अनाथ भयो,
आजु ही अनाथन को करम सो फूटिगो।
भूप भगवत सुरधाम को पयान कियो,
आजु कवि गन को कलपतरु टूटिगो॥"[1]

तथा भूधर कवि ने उसकी खड्ग का वर्णन इस प्रकार किया था :

"म्यान ते कढत भूत अफरे अहार पाइ,
हार पाइ हरषि महेष आइ नचिगे।
गाइ गाइ बरन बरगना बरन लागी,
पहले सकल स्वान चरबी के मचिगे।
भूधर भनत मारे मुगल पठान सेख,
सैयद अमीर भूप धीर केते पचिगे।
राइ भगवन्त जू के संग मुख खेत आइ,
खपे ते सहादत ते खेस ओढ़ि बचिगे।"[2]

उनकी मृत्यु पर भी कहा था :

"...उठिगो सुकवि सील, उठिगो जसीलो डील,
फैल्यो मध्य देस मे समूह तुरकाने को।

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ ६८३
२. शिवसिंह सरोज, पृष्ठ २४४

फूटे भाल भिच्छुक के जूझे भगवत राय,
अरराय टूट्यो कुल खम्भ हिंदुआने को।[1]

मल्ल और भूधर दोनों ही भगवंतराय के आश्रित कवि थे।

दूसरा युद्ध सआदत खां को अमेठी के राजा गुरुदत्त सिंह 'भूपति' से करना पड़ा था। भूपति जी वीर योद्धा तथा सत्कवि थे। इनकी 'भूपति-सतसई' की रचना सं० १७९१ में हुई थी। इनके आश्रित कवि उदयनाथ त्रिवेदी 'कवीन्द्र' ने इस युद्ध का वर्णन एक प्रसिद्ध छन्द में इस प्रकार किया है :

"समर अमेठी के सरोस गुरुदत्तसिंह,
सादति की सेना समसेरन सों भानी है।
भनत 'कविन्द' काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है।
तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उड़ी,
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्याली लै चिनी को छकी जोबन तरंग मानो,
रंग हेत पीवत मजीठ मुगलानी है।"[2]

स्पष्ट है कि भूपति जी ने सआदत की सेना को छिन्न-भिन्न कर दिया था। इन संघर्षों के बीच सआदत खां ने अवध के राज्य की स्थापना की थी। सं० १७९६ में विष-प्रयोग से उसकी मृत्यु हुई। कोई कहते हैं उसने आत्म-हत्या कर ली।

सआदत के बाद उसका भतीजा तथा दामाद अबुल मंसूर खां 'सफदर जंग' अवध का शासक नियुक्त हुआ। अहमद शाह अब्दाली (१७३९ ई०) के आक्रमण के समय इसने सम्राट् मुहम्मद शाह की सहायता की थी, फलस्वरूप इसे सम्राट् अहमद शाह का मंत्रित्व भी प्राप्त हुआ और अवध और इलाहाबाद की सूबेदारी भी। इसने लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया और वहीं रहने लगा।

सं० १८१० में, पिता की मृत्यु के बाद, शुजाउद्दौला अवध का नवाब-वजीर नियुक्त हुआ। इसने सर्वप्रथम सं० १८१८ में अंग्रेजों से बक्सर में युद्ध किया, फल यह हुआ कि अपने साम्राज्य का कुछ भाग इसे अंग्रेजों को दे देना पड़ा। यह योग्य शासक था और शाहआलम का वजीर रहा। इसने अपनी राजधानी फैजाबाद को बना लिया था।

सं० १८३२ में शुजाउद्दौला का पुत्र आसफुद्दौला अवध का शासक हुआ। यह

---

१. साहित्य समालोचक, भाग १, अंक १, पृष्ठ ५९
२. मिश्रबंधु विनोद, पृष्ठ ६४१

लखनऊ मे ही रहा और इसके समय में लखनऊ का महत्व बहुत बढ़ा। नगर की प्रसिद्ध और सुन्दर इमारतें अधिकतर इसी के समय में बनीं। यह बड़ा उदार तथा दानी था। यहां तक कि इसके विषय मे प्रसिद्ध था "जिसको न दे मौला, उसको दे आसफ़ुद्दौला"। इसने अंग्रेजो की अधीनता प्राय. स्वीकार कर ली। एक सनद पर हस्ताक्षर करके इसने जौनपुर तथा गाज़ीपुर अंग्रेजों को दे दिये। लगभग ढाई लाख रुपया मासिक, एक अंग्रेजी फौज पर व्यय करना भी इसने स्वीकार कर लिया, जिसे स्वरक्षा के लिए उसने अपने यहां रखा था। सं० १८५० में इसकी मृत्यु हुई तब राज्य का खजाना बिल्कुल खाली था। किन्तु यह भी सत्य है कि लखनऊ को उसने एक साधारण ग्राम की स्थिति से बदल कर सुन्दर नगर का रूप दे दिया था। अंग्रेजों ने इसके पुत्र वजीरअली को इसका उत्तराधिकारी स्वीकार नही किया, वरन् नवाब सआदतअली खां को गद्दी पर बैठाया।

आसफ़ुद्दौला के अर्थ मंत्री (रेवेन्यू मिनिस्टर) महाराज टिकइत राय थे। ये बड़े योग्य तथा गुणग्राहक थे। इन्होने कई बाजार तथा इमारतें आदि बनवाईं। लखनऊ मे टिकइतगंज का बाजार, डलमऊ में गंगा के किनारे एक बाजार और कलकत्ते तक मे एक बाजार का आयोजन इन्होंने किया था।[1] सेवा-भाव इनमे विशेष था। टिकइत राय कविता प्रेमी थे। कविवर बेनी भट्ट इनके आश्रित थे। बेनी ने "टिकयित राय प्रकाश" नामक एक अलंकार-ग्रंथ इनको समर्पित किया था। इस ग्रंथ में कवि ने विस्तारपूर्वक अपने आश्रयदाता का वंश-वर्णन किया है। संक्षेप मे यह वर्णन इस प्रकार है: जौनपुर सरकार के अन्तर्गत, सैदपुर भीतरी परगना में, पटना शहर मे, जो कि गंगा के किनारे स्थित था, कानूनगो प्राणनाथ श्रीवास्तव रहते थे। ये लाड़िलेपुर नामक एक ग्राम के स्वामी थे, जो निकट ही स्थित था। इन प्राणनाथ के दो पुत्र, राम दास तथा पृथ्वीमल हुए। रामदास के पांच पुत्र थे। विश्वेश्वरदास, कल्यानदास, गंगादास, रूपचन्द तथा राय दलपति राय मनसबदार। विश्वेश्वर दास स्वयं कवि और पंडित थे। इनके पुत्र रूपचन्द हुए और इनके कल्यानदास हुए। कल्यान दास के आसकरन, आसकरन के जगजीवनदास, जगजीवन के चायमल्ल और चायमल्ल के राजा निर्मलदास तथा टिकइत राय हुए। निर्मलदास के राय निहालचन्द हुए, ये प्रसिद्ध जगजीवनदास, सतनामी-सम्प्रदाय-संस्थापक के शिष्य थे।[2] निहालचन्द के तीन पुत्र लालसुख, भवानीदीन तथा देवीदीन हुए। महाराज

१. अवध गजेटियर्स ३, पृष्ठ ४९७

२. भक्त-विनोद, बोधेदास कृत

टिकयित राय डलमऊ में रहे, जो गंगा-तीर पर स्थित है। इन्हीं की आज्ञा से कवि बेनी ने सं० १८४९ वि० में "टिकयित राय-प्रकाश" की रचना की।[१] उक्त वर्णन में टिकइत राय के पूर्वजों की आठ तथा वंशजों की दो पीढ़ियों का उल्लेख मिलता है। यह भी प्रकट होता है कि यह वंश सुसभ्य तथा सुसंस्कृत था। लखनऊ के सागर वाजपेयी[२] भी टिकइत राय के आश्रित कवि थे। और वेनी प्रवीन वाजपेयी भी इनके समकालीन थे।

१८५५ वि० में, आसिफुद्दौला के बाद उसका रिश्ते मे भाई, सआदतअली खां, नवाब हुआ। यह अवध का सर्वश्रेष्ठ शासक माना जाता है। इसने एक सन्धि-पत्र द्वारा अंग्रेजों को ७६ लाख रुपया देना स्वीकार किया तथा इलाहाबाद का किला उनको सौंप दिया। १० हजार सैनिको की सेना का व्यय-भार भी इसने ग्रहण किया। सं० १८७१ में इसका देहान्त हुआ और कैसरबाग के बड़े मकबरे में समाधिस्थ किया गया। छोटे मे इसकी स्त्री दफन की गई।

सआदतअली खां का पुत्र गाजिउद्दीन हैदर १८७१ वि० में नवाब हुआ। इसके समय में अवध एक स्पष्ट राज्य बन गया और सम्पूर्ण रूप से अंग्रेजों के आधीन हो गया। नवाब ने एक करोड़ रुपया लार्ड वेलेजली को दिया और नेपाल युद्ध के समय भी अंग्रेजों की सहायता की; इसके फलस्वरूप उसे 'राजा' की उपाधि मिली (१८७५ वि०)। इसके शासन काल मे कला और साहित्य की पर्याप्त उन्नति हुई। यह स्वयं सहृदय व्यक्ति था। सं० १८८४ मे इसका देहान्त हुआ और यह शाह नजफ के इमामबाड़े में दफन किया गया।

महाराज दयाकृष्ण गाजिउद्दीन के अर्थ-मंत्री थे। सक्सेने कायस्थ थे और बड़े दानी, भक्त तथा विद्वान् थे। इनके दो पुत्र थे; महाराज बालकृष्ण तथा नवल कृष्ण 'ललन'; ये नवलकिशोर भी कहे जाते थे। हित हरिवंश-मत के अनुयायी, राधा-वल्लभीय गोस्वामी वशीलाल के ये शिष्य थे। बालकृष्ण भी नवाब के अर्थ-मन्त्री रहे। लखनऊ मे इनकी हवेली तथा 'बालकृष्ण का छत्ता' नामक मार्ग अब भी विद्यमान हैं। उन्नाव जिले मे, लखनऊ से प्रायः १३ मील दूर, इन दोनों भाइयों ने नवलगंज, महराजगंज, नामक कस्बे व्यापार के लिए बसाये थे।[३] कविवर बेनीदीन वाजपेयी इन्ही के आश्रित थे। ये टिकइतराय के समकालीन थे। बेनीदीन ने 'बेनी' नाम से काव्य रचना आरम्भ की। इस पर बेनीभट्ट ने इनको

१. टिकयित राय-प्रकाश, ह० लि०, श्री ब्रजराज पुस्तकालय, गन्धौली, (सीतापुर)
२. मि० ब० विनोद, पृष्ठ ८६५
३. अवध गजेटियर्स ३, पृष्ठ १६

'वेनी प्रवीन' नाम रख लेने का परामर्श दिया और इन्होंने इसे स्वीकार करके वेनी प्रवीन नाम से ही रचना की। 'नवरस तरंग' ग्रंथ उक्त दोनों भाइयों के लिये सं० १८७८ वि० में बना। गाजिउद्दीन के सिंहासनारूढ़ होने का वर्णन इसमें इस प्रकार मिलता है।

"चोरी एक चित की, फलन मे गदरताई,
डाक रही कारन खबर दरबार के।
सोप रहे रग ही निदोप ही मे बैरभाव,
पौन के लगे ते रहे पातन के खरके।
दीन रहे दोई हैं प्रवीन वेनी वरनत,
परनारी परस बयद ही के कर के।
बादी रहे जग में मुबारक के देन वारे,
गादी पर बैठत गाजुद्दी हयदर के।"[१]

इस ग्रंथ में कवि ने सआदत खां से गाजिउद्दीन तक का वंश वर्णन भी किया है। तथा महाराज दयाकृष्ण तथा उनके पुत्रों का विवरण भी दिया है।[२]

सं० १८८४ में गाजिउद्दीन का पुत्र नासिरुद्दीन हैदर गद्दी पर बैठा। इसने १० वर्ष राज्य किया। यह विलासी था। एक योरोपियन नाई इसका इतना मुंहलगा था कि नवाब उसे मंत्री से भी अधिक मानते थे। इसने लगभग २४ लाख रुपया एकत्र किया था। नवाब हाथी का युद्ध देखना बहुत पसन्द करता था। सं० १८९४ में यह विष-प्रयोग द्वारा मार डाला गया।

सं० १८९९ तक अवध का शासन नासिरुद्दीन के चाचा और सआदत अली खाँ के भाई, मुहम्मद अली शाह के हाथ में रहा। इसने हुसेनाबाद का इमामबाड़ा बनवाया।

अमजद अली मुहम्मद अली का द्वितीय पुत्र था। इसके शासन काल में व्यवस्था बहुत शिथिल हो गई। चारों ओर विद्रोह फैल गया जिससे अंग्रेजों ने लाभ उठाया। इसके समय में हजरतगंज की नीव पड़ी। यह पाँच वर्ष गद्दी पर रहा।

वाजिद अली शाह इसका पुत्र था। सं० १९१३ तक यह अवध का शासक रहा। इसकी विलासप्रियता सर्व-विदित है, जिसके कारण ७ फरवरी १८५६ ई० को यह गद्दी से उतारा गया था। देश में दुर्व्यवस्था थी ही अतः अंग्रेजों ने

---

१. नवरस तरंग (भूमिका तथा आरम्भ) पं० कृ० वि० मिश्र सम्पादित

२. देखिए परिशिष्ट १

उसे अपने अधिकार में ले लिया। इस प्रकार अपनी स्त्रैणता तथा चरित्रहीनता के कारण इस राजवंश का अन्त हुआ। फिर भी यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य और कला प्रेमी नवाबों ने अनेक कलाकारों, कवियों, संगीतज्ञों आदि को अपने यहाँ आश्रय दिया जिससे उनके समय में साहित्य-निर्माण को प्रोत्साहन मिला।

२. बैसवाड़ा—बैसवंश

बैस क्षत्रियों के आदि पुरुष भगवान् शेषनाग कहे जाते हैं। कहते हैं कि भगवान् शेष के वरदान से एक कुमारी वैश्य कन्या के गर्भ से शालिवाहन का जन्म हुआ। इस वैश्य माता की संतान 'बैस' के नाम से विख्यात हुई। शालिवाहन ने अपने पराक्रम से उज्जैन के अधीश्वर विक्रमादित्य को परास्त करके शक संवत् चलाया।

शालिवाहन से बारहवीं पीढ़ी में राजा अभयचन्द और पृथ्वीचन्द, दो भाई हुए। इनका समय लगभग १२०० वि० था। इन्होंने एक बार गंगास्नान के अवसर पर अर्गल की रानी को मुसलमान सूबेदार के पंजे से छुड़ाया था, यद्यपि इस प्रयत्न में पृथ्वीचन्द के प्राण भी चले गये थे। उनकी वीरता से प्रसन्न और कृतज्ञ होकर अर्गल-नरेश ने अपनी कन्या का विवाह अभयचन्द के साथ कर दिया तथा दहेज में पाँच गाँव भी दिये। अभयचन्द ने इसके बाद अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। उसने डौंडियाखेरा के 'भर' जाति के अधिकारियों को निकाल बाहर किया तथा फतेहपुर जिले में अभयपुर नामक ग्राम बसाया। यह ग्राम अब भी विद्यमान है।

अभयचन्द के उत्तराधिकारी सेधूराम, घाटमदेव, रणवीर सिंह आदि राजाओं ने भी सेधूपुर, घाटमपुर, रनवीरपुर (पुरवा, उन्नाव) इत्यादि स्थान अपने नाम पर बसाये।

अभयचन्द से आठवीं पीढ़ी में राजा सातन हुआ। इसने काकोरी के एक सुदृढ़ किले पर अधिकार कर लिया। भर लोगों ने जौनपुर के शासक हुसैनशाह के राज्याभिषेक के अवसर पर और उसके बाद भी मुसलमानों का विरोध किया था, इससे कुपित हो कर उसने बैसवारे पर आक्रमण कर दिया। किन्तु काकोरी में राजा सातन के सम्मुख उसकी एक न चली और अन्त में उसने कूटनीति का आश्रय लिया। वीर सातन छल से मारा गया किन्तु उसकी रानी किसी प्रकार भाग निकली। वह गर्भवती थी। रायबरेली और उन्नाव जिलों की सीमा पर, गंगा के किनारे, 'कोटभर' नामक गाँव में उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। बैसों में प्रसिद्ध तिलोकचन्द यही था।

तिलोकचन्द का पालन-पोषण मैनपुरी मे हुआ। समय पाकर यह वीर और साहसी योद्धा तथा नीतिज्ञ शासक प्रमाणित हुआ। बैसवाड़े मे इसके प्रमुत्व के पूर्व, जौनपुर सरकार का ही आधिपत्य था। सुलतान इब्राहीम के समय से व्यवस्थित शासन का आरम्भ हो गया था। उसने डलमऊ में शासक नियुक्त कर दिये थे और रायबरेली में काजी न्यायाधीश था। परन्तु तिलोकचन्द ने १४०० वि० के लगभग ही, जब बहलोल लोदी ने जौनपुर पर आक्रमण किया था, अवसर से लाभ उठा लिया था। उसने काकोरी तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया था। अपनी नीतिज्ञता के कारण उसे विशेष विद्रोह आदि का सामना नहीं करना पड़ा और सम्पूर्ण बैसबाड़े पर उसका अधिकार हो गया।

कहते हैं कि तिलोकचन्द ने लगभग तीन सौ विवाह किये और असंख्य पुत्रों का पिता था। उसकी रानियाँ विभिन्न जातियों की थी और इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह करके उसने बैस-वंश का विस्तार किया था। रायबरेली जिले के कुछ कायस्थ घराने इसी आधार पर ठाकुर कहे जाते हैं। उपाधियाँ देकर भी उसने अनेक जमीन्दारों को बैस-वश मे सम्मिलित कर लिया था। इस प्रकार उसने २२ परगनों पर अपना आधिपत्य जमा लिया। तिलोकचन्द की मृत्यु के बाद प्रभुत्व अस्तव्यस्त हो गया। उसके पुत्रो ने रियासत को आपस में बाँट लिया; वह छिन्न-भिन्न हो गई। हुमायूं के समय में एक देशव्यापी इस्लाम की लहर उठी, जिसके प्रवाह में प्रत्येक हिन्दू घराने का एक न एक व्यक्ति अवश्य पड़ गया। 'भर' लोगो ने अच्छा अवसर जान फिर एक बार अपना भाग्य आजमाने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे।

तिलोकचन्द के दो पुत्रों, पृथ्वीचन्द तथा हरहर देव का उल्लेख प्राप्त होता है। पृथ्वीचन्द के वंशज मुरारमऊ के शासक थे। राजा देवीसिंह आदि इस परम्परा में आते है, जिनका उल्लेख हम आगे करेंगे। डौंडिया खेरे के रावमर्दन सिंह आदि भी इन्हीं पृथ्वीचन्द के वंशज थे, इनका वर्णन भी यथास्थान किया जायेगा।

तिलोकचन्द की मृत्यु के बाद पृथ्वीचन्द ने प्रान्त के दक्षिण भाग, डौंडियाखेरे को अपने अधिकार मे कर लिया। और 'राव' की उपाधि धारण की। हरहरदेव का पौत्र उत्तरी प्रान्त का शासक हुआ; खिरोन, पाटन आदि का इलाका इसके अन्तर्गत रहा। ये लोग 'राजा' कहलाये। दक्षिणी प्रान्त अधिक सम्पन्न था। सोमवंशियो में ये दोनों, राव और राजा घराने बहुत प्रसिद्ध हैं। हमारा सम्बन्ध यहाँ पर प्रधानतः मुरारमऊ और डौंडियाखेरा, इन्ही दो वंशों से है, क्योंकि इन्होने अनेक विद्वान् पडितो तथा कवियों को आश्रय प्रदान किया।

देवीसिंह और राव मर्दनसिंह, इन दो राजाओं के आश्रय में कविवर सुखदेव मिश्र भी रहे थे।

संयोग से, घरेलू झगड़ों के कारण मुरारमऊ और डौंडियाखेरे के घरानों में भयंकर शत्रुता उत्पन्न हो गई थी, अनेक बार युद्ध और हत्याकांड हो चुके थे। शाहजहाँ की मृत्यु के समय तक मुरारमऊ का घराना बहुत कुछ निर्बल हो गया था। तत्कालीन शासक अमरसिंह को निरन्तर डौंडियाखेरे के रावपुरंदर से युद्ध करना पड़ रहा था, उसे सफलता भी नहीं प्राप्त हो रही थी। अन्त में उसकी मृत्यु पर यह वंश एक प्रकार से समाप्त ही हो गया। बालक राजा देवीसिंह का संरक्षक उसका चाचा गोपाल सिंह था, उसने छल से सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। जब देवीसिंह बालिग हुआ तब उसने दिल्लीश्वर से फरियाद की और सम्राट् मुहम्मदशाह (१७७६—१८७५ वि०) ने एक फरमान देकर उसे अपने पद पर पुनः स्थापित किया। किन्तु स्वतंत्र बैसवारे के नरेशों पर इन फरमानो का क्या प्रभाव पड़ता ? राव पुरन्दर और रावमर्दन ने उनको कभी स्वीकार नही किया तथा देवीसिंह के महत्व मे कोई वृद्धि नही हुई।

देवीसिंह काव्य-प्रेमी नरेश थे। सुखदेव मिश्र ने 'शृंगार-लता' नामक ग्रंथ इनके लिये लिखा था। नवाब सआदत खाँ के समय मे ये विद्यमान थे अतः देवीसिंह और सुखदेव जी का समय एक ही पड़ता है। लगभग १९०० सं० तक घरेलू झगड़ों के कारण ही यह वश समाप्त हो गया।

बैस-वश की उत्पत्ति और समृद्धि का अधिकतर श्रेय डौंडियाखेरे को ही है। तिलोकचन्द से नवीं पीढी में राव मर्दन सिंह हुए। इनका वंश-क्रम इस प्रकार है : पृथ्वीचन्द, अजयचंद, देवराय, भैरवदास, ताराचन्द, संग्रामसिंह, कनकसिंह, पृथ्वीसिंह तथा पुरन्दर राव। इन्हीं पुरन्दर राव के पुत्र मर्दनसिंह थे।[1] इनके आश्रित कविवर सुखदेव ने भी अपने 'रस-रसार्णव' नामक ग्रंथ में कनकसिंह, पृथ्वीसिंह, पुरन्दर तथा "मर्दन रैयाराव" का उल्लेख किया है। नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित सन् १९२०-२२ की खोज रिपोर्ट के परिशिष्ट २ के अन्तर्गत पुस्तक नं० १८७ (डी) में यह उद्धरण प्राप्य है।[2]

रावमर्दन सिंह बड़े प्रतापी राजा थे। इन्होने अपनी इच्छानुसार अकबर के प्रबध में कुछ परिवर्तन कर दिया। प्रान्त के ७½ परगनों के १०१ गांवो को एकत्र करके इन्होने उस भूभाग का नाम डौंडियाखेरा रख दिया। रावमर्दन

---

१. अवध गजेटियर्स ३, पृष्ठ २४२

२. सर्च रिपोर्ट १९२०-२२, अपेण्डिक्स २, बुक नं० १८७ (बी)

इस प्रान्त के नाजिम थे। आगे चलकर इन्होंने उन्नाव जिले के ७ परगने और भी अपने अधिकार मे कर लिये और पाटन विहार का भी बहुत अंश जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। सं० १७५७ वि० के लगभग मर्दनसिंह का यश चारों ओर व्याप्त था, ऐसा अनुमान होता है। सं० १७९७ मे, अपनी वृद्धावस्था में, इन्होने अपना सारा राज्य अपने तीन पुत्रों में विभाजित कर दिया। रघुनाथ सिंह डौड़िया खेरे के, उद्योतसिंह पाटन विहार के, और अचलसिंह उन्नाव के छै परगनो के अधिकारी हुये। इसके बाद सं० १८०० तक मर्दनसिंह जीवित रहे; सम्भवत: कुछ समय आगे तक भी रहे हो, इनकी मृत्यु-तिथि का अनुमान नही होता। धीरे-धीरे उक्त तीन राजाओ की समृद्धि पतनोन्मुख हो गई और १९ वी श० वि० के उत्तरार्ध मे इनका वैभव समाप्त हो गया।

राव पुरन्दर और मर्दनसिंह के समय में इस युग के वैभव की पराकाष्ठा रही। दोनो ने लम्बी अवधि तक राज्य किया, और सम्पूर्ण बैसवारे के एकछत्र स्वामी बने रहे।[1]

मर्दनराव के द्वितीय पुत्र उद्योतसिंह, वीर तथा साहित्य प्रेमी नरेश थे। ये युद्ध क्षेत्र मे ही वीर-गति को प्राप्त हुये थे और स्वनामधन्य कविवर देव के आश्रय-दाता थे। देवजी का अनुपम ग्रथ 'प्रेम-चन्द्रिका' इन्ही को समर्पित्त किया गया है। ग्रंथ के आरम्भ मे इनके "मरदनसिंह महीप सुत वैस वंश विद्वांत"[2] होने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। दूसरी बात यह है कि उक्त ग्रथ के चार प्रकाशों के अन्त मे ग्रंथ रचना का उद्देश्य "श्री महाराज कुमार श्री कुवर उद्योत सिंह आनन्द हेत"[3] कहा गया है। अतः यह भी स्पष्ट होता है कि उद्योतसिंह की कुमारावस्था मे ही यह ग्रन्थ उनको समर्पित हुआ। यह समय लगभग १७७० वि० हो सकता है।

टेढ़ा ग्राम (उन्नाव) निवासी तथा 'उमराव' कोष के नाम से अमरकोष के अनुवाद कर्ता, *मुवश सुक्ल, रघुनाथ सिंह के प्रशसक कवियों मे थे।*[4]

शम्भुनाथ त्रिपाठी, डौड़िया खेरा निवासी, ने अपना 'बैताल पचीसी' ग्रथ अचलसिंह के आश्रय मे सम्पूर्ण किया। यद्यपि ग्रन्थ का निर्माण राव रघुनाथ सिंह के नाम पर किया गया है।[5]

---

१. अवध गजेटियर्स ३, पृष्ठ २३३
२. प्रेम-चन्द्रिका देव-कृत ह० लि०, श्री व्रजराज पुस्तकालय, गंधौली, (सीतापुर)
३. वही
४. सा० समालोचक, भा० १ अ० ४, श्री कृष्णविहारी मिश्र सम्पादित
५. सरोज, पृष्ठ ४९१

३. बंधलगोती अमेठी-नरेश

अमेठी के बंधलगोती राजे सूर्यवंशी हैं। लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व, तीर्थयात्रा करते हुए इनके पूर्वज सूदाराय को देवी ने स्वप्न में दर्शन दिए और कहा कि जिस स्थान पर तू सो रहा है, वह तेरे आधीन होगा। इसी प्रेरणा से सूदाराय ने इस स्थान को विजय किया और यहा के निवासी, भर लोगों को निकाल बाहर किया। सूदाराय के छठे वंशज, मान्धाता सिंह के कोई सन्तान न थी। कनक मुनि के आशीर्वाद से उसे एक पुत्र हुआ जिसका नाम सुतशाह अथवा 'बन्धु' रखा गया। इसी बंधु के वंशज बंधलगोती कहलाये।

बंधु के पुत्र मनोहर सिंह के छै पुत्र हुए। इन्होंने सारी रियासत आपस में विभाजित कर ली। बैस राजा तिलोक चन्द ने यह बटवारा किया था। चौथे पुत्र राजसिंह थे; यह अमेठी के राजा हुए। इनके श्रीराम सिंह तथा रामसिंह के पुत्र शालिवाहन हुए शालिवाहन के श्री रामदेव हुए; यह समय शेरशाह का था। इस समय तक परगना अमेठी का केवल दक्षिणी भाग ही बंधल गोतियों के अधिकार में था। इसके लगभग ५० वर्ष बाद सारा परगना इनके अधिकार में आगया। इसका उल्लेख आईने-अकबरी में हुआ है। उक्त वंश-क्रम का उल्लेख अवध गजेटियर्स में उपलब्ध है।[1] इसके आगे का वंश-विस्तार, गजेटियर्स तथा कविवर सुखदेव कृत 'छन्द-विचार' नामक पिंगल-ग्रन्थ के आरम्भ में भी प्राप्त होता है।[2] दोनों वर्णन समान हैं, कोई अन्तर नहीं है। केवल सुखदेव जी ने, पता नहीं कैसे, शालिवाहन तथा रामदेव के बीच में महाराज जयचंद तथा राजा पालनदेव को ला बैठाया है। अस्तु। शेष वंशपरम्परा इस प्रकार है : धरमंगद, दलपतिशाह, विक्रमशाह, सुजानशाह, दलीपशाह, जयसिंह, पहाड़सिंह, हिम्मतसिंह तथा छत्रपालसिंह। इतना वर्णन छंद-विचार में है। आगे हिम्मतसिंह के दूसरे पुत्र गुरुदत्तसिंह का उल्लेख गजेटियर्स में मिलता है। गुरुदत्त के पुत्र दृकपालसिंह, उनके हरचन्द सिंह, उनके दलपत शाह तथा अर्जुनसिंह और इन दोनों के क्रमश: विश्वेश्वर सिंह तथा माधवसिंह के नाम भी गजेटियर्स मे मिलते हैं।[3]

राजा हिम्मत सिंह कविता प्रेमी शासक थे। ये सुखदेव जी के आश्रयदाता थे। 'छन्द-विचार' ग्रन्थ इनको समर्पित है। ये राव मर्दन सिंह के समकालीन थे। इनके पुत्र गुरुदत्तसिंह बड़े वीर तथा श्रेष्ठ कवि थे। १८०० ई० के

१. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ४५

२. छन्द विचार, ह० लि०, छन्द १२-३५ श्री व्रजराज पुस्तकालय, गंधौली

३. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ४७

लगभग सआदत खां की सेना से इनके युद्ध होने का वर्णन हम कर चुके हैं। गजेटियर्स में उल्लेख है कि नवाब सफदर जंग की सेना के आक्रमण करने पर गुरुदत्तसिंह ने रायपुर के दुर्ग से १८ दिन मोर्चा लिया। अन्त में अपनी परिस्थिति को अरक्षित जानकर ये निकटस्थ रामनगर के जंगल में निकल गए। रियासत नवाब के अधिकार में आ गई, किन्तु इनके पुत्र दुकपाल सिंह ने फिर इसे अपने शासन में ले लिया। गुरुदत्त सिंह ने सं० १७९१ में अपनी सतसई की रचना की थी, जो एक बड़ा और उत्तम मुक्तक-काव्य है।

४. अरवर देशीय चन्द्रवंशी

चन्द्रवंशियों के पूज्य महात्मा अला ऋषि थे। इनके नाम पर अलारिखपुर नामक स्थान प्रसिद्ध हुआ। धीरे-धीरे इस नाम ने 'अरवर' का रूप धारण कर लिया और इस प्रकार इसका नाम अरवर देश हुआ।

ब्रह्मा से आठवीं पीढ़ी में ययाति हुए, इनके दो पुत्र पुरु और यदु हुए। इनसे क्रमशः चन्द्र और यदु वंश उत्पन्न हुए। पुरु से ९० पीढ़ी बाद राजा रामदेव हुए। इनके पुत्र वीरसेन का दुर्ग झूसी (प्रयाग) में अब भी विद्यमान है। शेख तकी नामक एक मुस्लिम फकीर ने कुपित होकर वीरसेन को मार डाला था। बाद में उसकी गर्भवती रानी पर दया करके उसने उसे आशीर्वाद दिया, जिससे उसे एक यशस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम लखनसेन रखा गया। अरवर देश की स्थापना इसी लखनसेन द्वारा हुई। अरवर देश प्रतापगढ़ के बिल्कुल निकट है। यहां पर 'पांचों सिद्ध' नामक देवस्थान के निकट ही लखनसेन ने जन्म लिया था। अलारिख इन्हीं पाचों सिद्धों में से एक थे। यह घटना १४वीं शताब्दी वि० के प्रथम चतुर्थांश की है।

लखसेन अपनी माता के साथ इसी स्थान पर अपने दुर्भाग्य के दिन व्यतीत कर रहा था। इस समय सारे प्रान्त में भर लोगों का आधिपत्य था। भर शासक लखनसेन के व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ और उसे गोद लेना चाहा। लखनसेन ने अच्छा अवसर जानकर दिल्ली सम्राट् से सहायता प्राप्त कर ली और भर शासक को आमन्त्रित किया कि गोद लेने की रीति पूरी की जाय। जब वे लोग आए और मद्य पीकर मतवाले हुए तो लखनसेन ने सबको समाप्त कर दिया, और सारे प्रान्त का शासक बन बैठा। चन्द्रवंशी इस कपटपूर्ण व्यवहार की सफाई इस प्रकार देते है कि भर शासक लखनसेन की माता को अपनी पत्नी बनाना चाहता था, इसलिए उसके साथ यही व्यवहार उचित था।[1]

१. हिस्ट्री आव् दी सोमवंशी राज—पृष्ठ १५

इस वंश का सर्वप्रथम प्रतापी राजा प्रताप सिंह हुआ। इसने सं० १६७४ में अपने निवासस्थान रामपुर में एक बडा दुर्ग बनवाया और उसका नाम प्रतापगढ़ रक्खा। यह बडा सुदृढ़ तथा सुन्दर किला था। यद्यपि अवध के नवाब ने इसे गिरवा दिया था तथापि इसका भग्नावशेष अब भी इसकी विशालता का पता देता है। इस दुर्ग के बनने के साथ ही यह स्थान प्रतापगढ़ कहा जाने लगा। तिलोई (रायबरेली)-नरेश सुरतसिंह (कान्हपुरिया) से प्रतापसिंह का युद्ध हुआ था। दोनों प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। सुरतसिंह युद्ध का बहाना खोजता था। एक बार भेंट होने पर प्रतापसिंह ने सुरतसिंह से कुशल प्रश्न किया। सुरतसिंह ने उत्तर दिया : "मैं अच्छा हूँ, आपके कदम देखने से"। प्रतापसिंह कुछ लंगड़ा कर चलते थे अतः उन्होंने इस कथन को अपने ऊपर व्यंग्य समझा और तुरन्त उत्तर दिया "मैं भी अच्छा हूँ आपके चश्म देखने से"। सुरतसिंह को नेत्र-दोष था। इस पर सुरतसिंह को बहाना मिल गया और उसने आक्रमण कर दिया परन्तु उसे हार खानी पड़ी और प्रतापसिंह का पूरा प्रभुत्व जम गया।[1] प्रताप सिंह लगभग १७३७ वि० तक जीवित रहे।

इनके बाद इनके पुत्र जयसिंह ने लगभग ३६ वर्ष तक राज्य किया। इन्होंने विद्रोही वीर बुन्देला छत्रसाल को एक बार हराया था अतः दिल्ली दरबार से इनको कुलह-नरेश की उपाधि मिली थी। जयसिंह ने प्रतापगढ़ को और भी सुदृढ किया। इलाहाबाद के सूबेदार पीरू ने १२ वर्ष तक इस दुर्ग को घेर रखा और युद्ध करता रहा। जयसिंह ने अपनी युद्ध-कुशलता के बल पर उसका प्रबल प्रतिरोध किया और अन्त में टयोंगा ग्राम के निकट पीरू को समाप्त कर दिया। ७५ वर्ष की आयु मे जयसिंह का देहान्त हुआ।

छत्रधारी सिंह जयसिंह के पुत्र थे। इनकी दो रानियां थीं। बड़ी रानी सुजान कुंवर, रीवां-नरेश की कन्या थीं। इनसे तीन पुत्र हुए। पृथ्वीपति सिंह, हिन्दूपति सिंह तथा दलथंभनसिंह। १७९२ वि० में छत्रधारी की मृत्यु के बाद पृथ्वीपति राजा हुए।

पृथ्वीपति को राज्य का लोभ बहुत था। ये धन, राजकोष की वृद्धि की चिंता बहुत रखते थे। फर्रुखाबाद के नवाब अहमद खां बंगश ने जब अवध के नवाब के विरुद्ध युद्ध छेड़ा तब प्रलोभन में पड़कर ये भी उसके सहायक हुए। परिणाम यह हुआ कि १८०९ वि० में गंगातट पर, गुतनी नामक स्थान पर नवाब ने इनकी हत्या करवा डाली। इलाका छिन गया और नवाब उसके

---

१. हिस्ट्री आव् दि सोमवंशी राज—पृष्ठ ३२

अधिकारी हुए। पृथ्वीपति के पुत्र दुनियापति ने प्रतापगढ़ परगने को स्वतंत्र करने का प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप उन्हें भी शुजाउद्दौला के आदमियों द्वारा प्राणों से हाथ धोने पड़े। ये केवल १२ वर्ष की आयु में राज्याधिकारी हुए थे।[१]

हिन्दूपति पृथ्वीपति के छोटे भाई थे। ये मालगुजारी की रकम उचित रूप में नही दे पाते थे अत: इनका भी इलाका छिन गया। ये पैतृक सम्पत्ति की रक्षा के बड़े इच्छुक थे अतः शुजाउद्दौला के निकट जाकर इन्होंने मुसलमान हो जाना स्वीकार कर लिया और इस प्रकार इलाका इनको वापस मिल गया। किंतु इनके कुछ सजातियो को यह बात अच्छी न लगी और उन्होने इनकी हत्या कर डाली। हिन्दूपति ने मुसलमान होकर अपना नाम सरफराजअली खां रखा था। वेशभूषा, बातचीत, रहन-सहन में भी बहुत कुछ मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव था। हिन्दूपति, पृथ्वीपति, जयसिंह आदि सभी अरबी-फारसी के अच्छे विद्वान् थे। पृथ्वीपति धाराप्रवाह फारसी बोलते थे। मुहर्रम का उत्सव समारोह से मनाया जाता था।[२]

हिंदूपति बड़े गुणग्राहक राजा थे। टयोंगा ग्राम निवासी कविवर आचार्य भिखारीदास इनके आश्रित थे। टयोंगा प्रतापगढ से लगभग डेढ मील की दूरी पर स्थित है। दास जी ने अपने दो प्रसिद्ध ग्रंथ, काव्यनिर्णय तथा शृंगारनिर्णय, हिन्दूपति के ही नाम पर बनाये हैं।

काव्यनिर्णय का रचनाकाल सं० १८०३ है। आश्विन, विजयादशमी को इसकी रचना (सम्पूर्ण) हुई। इसमे अरवर देश के भूप पृथ्वीपति तथा उनके सहोदर हिन्दूपति का नाम ग्रंथारम्भ में लिया गया है।[३]

शृंगार-निर्णय मे केवल हिन्दूपति का नाम लिया गया है। इसका रचना-काल वैशाख शुक्ल १३, गुरुवार सं० १८०७ दिया गया है। अरवर देश में ही रचना हुई है।[४]

इस प्रकार सं० १८ ३-७ में हिन्दूपति का समृद्धिकाल निश्चित हो जाता है। इतिहास से इनका शासनकाल, पृथ्वीपति की मृत्यु (१८०९ वि०) के बाद पड़ेगा। इसके ४, ५ साल पूर्व इनका पर्याप्त प्रभुत्व होना कोई असम्भव बात नही है।

वास्तव में पृथ्वीपति की मृत्यु के बाद ही प्रतापगढ घराने की अवनति आरम्भ हो गई थी। इसके बाद राज्य बहुत कुछ विभाजित हो गया।

---

१. अवध गजेटियर्स ३, पृष्ठ १४०-४३
२. फर्स्ट टू नवाब्स आव् अवध, ए० लाल
३. का० नि०, भारत जीवन प्रेस, काशी
४. शृं० नि०, ह० लि०, श्री ब्रजराज पुस्तकालय, गन्धौली

दास जी इस राजघराने के आश्रित एक अनुपम रत्न थे। इन्होंने अपने 'छन्दोर्णव-पिंगल' के एक छन्द में अपना परिचय दिया है। वह छन्द इस प्रकार है :

अभिलाषा करी सदा, ऐसनि का होय नित्य,
सब ठौर दिन सब याही सेवा चरचानि।
लोभा नई नीचे ज्ञान हलाहल ही को अंसु,
अंत है कृपा पताल निदा रस ही को खानि।
सेनापति देवी कर शोभा गनती को भूप,
पन्ना मोती हीरा हेम सौदा दास ही को जानि।
ही अपर देव पर बढ़े यश रटे नाउ,
खगासन नगधर सीतानाथ कोला पानि।[1]

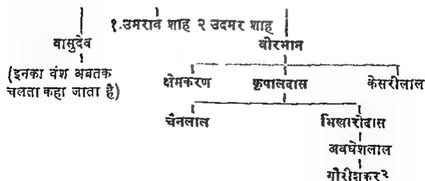
इस छन्द का सुलझाव इस प्रकार दिया गया है :

"या कवित्त अन्तर वरन लै तुकान्त द्वै छंडि।
दास नाम कुल ग्राम कहि नाम भगति रस मंडि॥

उक्त सूत्र के अनुसार एक अक्षर छोड़कर पढ़ने से निम्नलिखित वाक्य निकलते हैं :

'भिखारीदास कायस्थ, वरन बहीवार, भाई चैनलाल को, सुत कृपाल दास को, नाती बीर भान को, पनाती रामदास को, अरवर देश, टेउंगा नगर तावला।'

दास जी का वंश-वृक्ष इस प्रकार है :—



१. छन्दोर्णव पिं०, पृ० २ (न० कि० प्रेस, लखनऊ)
२. लेखक के पास विद्यमान वंशवृक्ष का अंश।

श्रीवास्तव कायस्थों की एक शाखा बहीवार है इसीलिए दास जी ने अपना वर्ण बहीवार लिखा है। खोज करने पर दास जी के वंशजों के पास उपर्युक्त विस्तृत वंश-वृक्ष प्राप्त हुआ है। यह फारसी लिपि में है। उक्त छन्द के वर्णन से वंश-वृक्ष बिल्कुल मिलता है।

५. शाकद्वीपी महदौना-नरेश

अयोध्या में शाकद्वीपी ब्राह्मणों का प्रभुत्व है। शाकद्वीपी ब्राह्मणों की उत्पत्ति के विषय में ऐसा उल्लेख मिलता है कि इनका आगमन भारतवर्ष में शक द्वीप (सीथिया, मध्य-एशिया) से हुआ और इनको वहाँ पर 'मग' कहा जाता था। भारतवर्ष में फलित ज्योतिष का प्रचार इन्ही के द्वारा हुआ कहा जाता है। ये सूर्योपासक और सूर्यदेव के पुजारी हुआ करते थे। अलबरूनी (लगभग १०३० ई०) के अनुसार ये जरतुश्ती (पारसी) धर्मगुरु थे, जो कि मग कहलाते थे और सूर्योपासना इनकी विशेषता थी। मगध के एक शाकद्वीपी ब्राह्मण कवि ने एक तालाब बनवाया था जिसकी प्रशस्ति में लिखा है "तीन लोक के रत्नरूप अरुण के निवास से शाकद्वीप पवित्र हुआ है, जहाँ पर ब्राह्मणों को मग कहते है। उनका वंश सूर्य के शरीर से उत्पन्न हुआ है. और उन ब्राह्मणों को साब (कृष्ण और जांबुवती का पुत्र). इस देश मे लाया था।" ऐसा अनुमान किया जाता है कि लगभग ५०० ई० पूर्व, जब डारियस ने भारत पर आक्रमण किया था तभी मग लोग भारतवर्ष मे आए।[1]

१९वी श० वि० के आरम्भ मे दिल्ली के बादशाह ने सदासुख पाठक को भोजपुर का चौधरी नियुक्त किया था। ये गर्ग गोत्री, शाकद्वीपी ब्राह्मण थे। जब बगाल के नवाब मीर कासिम ने भोजपुर पर अधिकार कर लिया तो जमीन्दारी के नष्ट हो जाने के कारण, ये अपने पुत्र गोपालराम के साथ नन्दनगर (जिला बस्ती, परगना अमरोहा) चले आये और वही बस गए। गोपाल राम ने पलिया गाव के जमीन्दार, सधईराम के घराने मे, गंगाराम मिश्र की पुत्री से अपने पुत्र पुरन्दर राम का विवाह किया और उसी गाँव मे रहने लगे।

पुरन्दर राम के पाँच पुत्र हुए। सबसे बड़े बख्तावर सिंह, ईस्ट-इंडिया-कम्पनी की सेना में थे। संयोग से लखनऊ मे नवाब सआदत अली की दृष्टि इन पर पड़ी और वे इनके व्यक्तित्व से आकर्षित हुए। रेजिडेंट से पत्र-व्यवहार

---

१. टाड, राजस्थान, पृष्ठ ४३-४५।
खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर १९१३ ई० ओझा सम्पादित।

करके उन्होंने बख्तावार सिंह को अपनी सेवा मे ले लिया। इनको दफादार का पद दिया गया और ये नवाब की अर्दली में रहने लगे। नवाब की प्राण-रक्षा करने के उपलक्ष्य में इनको पलिया की जागीर प्राप्त हो गई, और सौ सवारों के अफसर नियुक्त किए गये। इसके बाद ये रिसालदार हुए। नवाब गाजिउद्दीन हैदर की भी कृपा-दृष्टि इन पर बनी रही और उन्होंने इनको राजा की उपाधि दी। इसके बाद इन्होंने महदौना में अपना निवास-स्थान बनाने का निश्चय किया और यहाँ पर ५४ मौजे प्राप्त किये। सं० १८७८ में इन्होंने अपने तीसरे भाई दर्शन सिंह को भी दरबार में बुला लिया और उन्हें भी सेना में ऊँचा पद दिला दिया; ये दूसरे वर्ष सालीन और बैंसवाड़े के चकलेदार नियुक्त किये गए और पाँच वर्ष बाद सुल्तानपुर, बहराइच के प्रान्ताध्यक्ष बनाए गये। ये प्रबन्ध-कुशल थे अतः इन्हें राजा की उपाधि प्राप्त हुई। सं० १८९९ में ये गोंडा बहराइच के नाजिम भी नियुक्त हो गये। बलरामपुर के राजा दिग्विजय सिंह ने सरकारी मालगुजारी नहीं दी थी अतः उनसे इनका युद्ध हुआ। संयोग से युद्ध के बीच ये सेना-सहित नेपाल की सीमा मे चले गए जिसके कारण इन्हें अपना पद त्याग करना पड़ा और महदौना का प्रबन्ध भी इनके हाथ से ले लिया गया, किन्तु हानि पूरी कर देने पर वह स्थान इनको पुनः प्राप्त हो गया। अवध का प्रबन्ध भी कुछ दिन इनके हाथ मे रहा। सं० १९०१ मे इनका स्वर्गवास अयोध्या में हुआ।

बख्तावर सिंह ने मुहम्मद अली शाह की विद्रोहियों से रक्षा की जिसके फलस्वरूप इनको जागीर, महदौना के राजा की उपाधि तथा नादिरशाह की तलवार उपहार मे मिली। इनका देहावसान सं० १९१२ मे हुआ।

ये निस्सन्तान थे इसलिये अपने भतीजे तथा दत्तकपुत्र राजा मानसिंह को वसीयत कर गये थे। महाराज मानसिंह दर्शन सिंह के पुत्र थे। इनका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल ५, सं० १८७७ (१० दिसम्बर १८२० ई०) को हुआ था। ये संस्कृत, हिन्दी और फारसी के अच्छे विद्वान थे और इन्होंने अंगरेजी भी पढ़ी थी। सं० १९०१ मे दर्शन सिंह की मृत्यु के दिनों, राज्य में बहुत अशांति हो गई थी। ऐसे समय में मानसिंह ने बहुत कुछ व्यवस्था स्थापित की। अंग्रेजों को इन्होंने विद्रोह दबाने मे सहायता की थी। बादशाह ने रुष्ट होकर बख्तावर सिंह को नजरबन्द कर लिया था और उस समय मानसिंह ने ३ लाख रुपया देकर उन्हें मुक्त कराया था। सूरजपुरा में ४०० व्यक्ति कैद थे जिनको जीवित जला देने का उपक्रम हो रहा था, मानसिंह ने अपनी युद्ध-कुशलता से उनको छुड़ा लिया, जिस पर इनको राजा बहादुर की उपाधि तथा दरियाबाद रुदौली की

नाजिमत का पद प्राप्त हुआ। दो वर्ष बाद इन्होंने गर्गवंशीय राजा हरपाल सिंह के विद्रोह को दबाया, जिसके फलस्वरूप इनको 'कायमजंग' की उपाधि मिली। इसके बाद भूरे खां, अजब सिंह और जगन्नाथ चपरासी नामक तीन डाकुओं के आतंक को शान्त करके इन्होंने उनको वन्दी बनाया जिसके लिए इनको ११ तोपों की सलामी, ईरान के बादशाह की तलवार, झालरदार शमला, ताज के आकार की टोपी तथा हवादार (पालकी) उपहार दी गई।

इन्होने भिनगा के राजा पर चढ़ाई की थी, किन्तु उन्होंने अपने को इनके सम्मुख निर्बल स्वीकार करके एक छन्द लिख भेजा था।[१]

उत्तर मे इन्होने लिखा :—

"आजु तैं कोटि हजार बरीस लौं, रीति यही नित ही चलि आई।
लाहु लह्यो तिनही जग में जिन्ह, कीन्ही कछू न कछू सिवकाई।।
ऐ नृपहस ! विचार विचारु, रहो किन आपने लाज लजाई।
आप ही दूरि बसे तो कहा, कहौ 'मानसरोवर' की कृपनाई।।

दोनों राजाओं में इस साहित्यिक आधार पर सन्धि स्थापित हो गई। बख्तावर सिंह की मृत्यु पर ये पूरे महदौना राज्य के स्वामी हुए। हनुमान गढ़ी के कारण उत्पन्न होने वाले हिंदू-मुस्लिम-वैमनस्य को भी इन्होने शांत किया जिसके कारण इनको 'राजए राजगान' की उपाधि प्राप्त हुई।

स० १९१३ में बादशाहत का अन्त होने पर, अंग्रेजो की कोपदृष्टि इन पर पड़ी परन्तु बाद मे उन्होने इनसे सहायता मागी। इन्होंने बड़ी दृढ़तापूर्वक विद्रोह में अंग्रेजों की रक्षा की,[२] स्वयं हानि भी सही। १८५९ ई० (१९१६

१. बिनु मकरन्द वृन्द कुसुम समूहन के,
कौ लौं दिन बीति है मलिंद के कलीन तैं।
बिनु चारु चेटक चिलक चोखी चंद्रिका की,
कौलो हौंस राखिहै चकोर चिनगीन तैं।
जुवराज कौ लौ बिनु ब्रजराज प्रानप्यारे !
कौन जिय राखिहै या मदन मलीन तैं।
मुकुत कलित 'मानसर' बिनु आली !
अब, कौ लौं काल काटिहैं मराल पोखरीन तैं।
(शृं० लं० सौरभ-भूमिका)

२. "..... it was determined to take advantage of an offer made by Rajah Maun Singh, an influencial Talookdar in the [illegible] his [illegible]

वि०) में लखनऊ के दरबार में इनको महाराज की ओर सं० १९२६ में के० सी० एस्० आई० की उपाधियाँ मिलीं।

कार्तिक कृष्ण २, सं० १९२७, १० अक्टूबर १८७० को इनका स्वर्गवास हुआ।[1] मानसिंह का पूर्ण उपाधियुक्त नाम था : सरकोब सरकशान महाराज सर मानसिंह बहादुर, कायमजंग, के० सी० एस्० आई०। के० सी० एस्० आई० की उपाधि लार्ड लारेन्स के द्वारा इनको लखनऊ दरबार में १२ नवम्बर सन् १८६७ ई० को प्राप्त हुई थी।[2]

इनके बाद इनके 'तनया-तनय' (नाती) महाराज प्रताप नारायण सिंह 'वीरेश' 'ददुआ साहब' अयोध्या नरेश हुए। यद्यपि मानसिंह की रानी ने वसीयत के अनुसार लाल त्रिलोकीनाथ सिंह, मानसिंह के भाई रघुबरसिंह के पुत्र को उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया था परन्तु प्रताप नारायण सिंह ने अदालत से अपना अधिकार प्राप्त कर लिया। ये महामहोपाध्याय, लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य, के० सी० आई० ई० थे। इनका जीवन काल सं० १९१२ से १९६३ तक रहा। इनके बाद इनकी रानी जगदम्बा देवी इनकी उत्तराधिकारिणी हुईं और उन्होंने इच्छासिंह के वंश से श्रीमान् जगदम्बिका प्रताप सिंह को सं० १९६५ में गोद लिया, जो इस समय अयोध्या की गद्दी पर सुशोभित हैं।

वीरेश जी के आश्रय में अनेक कवि तथा विद्वान् रहे और साहित्य भाडार की वृद्धि करते रहे। लछिराम, साहित्याचार्य अम्बिकादत्त व्यास तथा द्विज मन्ना-लाल इनमें प्रमुख हैं। लछिराम ने 'प्रताप-रत्नाकर' नामक ग्रंथ में राजवंश का संक्षिप्त वर्णन भी किया है। स्वयं वीरेश जी का 'रस-कुसुमाकर' ग्रंथ रस विषयक छंदों का श्रेष्ठ संग्रह है।[3] शृंगार लतिका की सौरभी टीका भी इन्होंने प्रस्तुत की।

महाराज मानसिंह के आश्रय में लछिराम जी भी रहे। बलदेव सिंह क्षत्रिय इनके काव्य गुरु कहे गए हैं।[4] सुमेरपुर (उन्नाव) निवासी जगन्नाथ अवस्थी ने शृंगार-लतिका की ब्रजभाषा टीका इन्हीं के आश्रय में रहकर प्रस्तुत की थी। शृंगार परम्परा में द्विजदेव जी का स्थान अन्तिम कहा जा सकता है। ये वास्तव में बड़े ही सहृदय भावुक कवि थे।

---

१. शृंगार लतिका सौरभ, ज० स० चतुर्वेदी लिखित भूमिका
२. रस-कुसुमाकर, प्रतापनारायण सिंह कृत, भूमिका
३. इण्डियन प्रेस प्रकाशित, सन् १८९४ ई०
४. मिश्रबन्धु विनोद ३, १०५२ पृष्ठ

अयोध्या दरबार में रत्नाकर जी जैसे प्रतिभाशाली कवि अब तक विद्यमान रहे हैं।

६. कोटवा (बाराबंकी)

" ··· कोटवा लिखने योग्य स्थान है, यद्यपि इसका रामायण या अयोध्या के इतिहास से सम्बन्ध नहीं है। यहां भगवद्भक्त जगजीवन दास हुए थे जिनसे जगजीवनदासी पथ चला।"[१]

कोटवा जिला बाराबंकी में परगना रामगर धमेड़ी के अंतर्गत एक ग्राम है जिसका अधिकार किसी समय सतनामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबा श्री जगजीवन दास जी को प्राप्त था। आज भी इन्ही महात्मा के वंशज इस स्थान के अधिकारी तथा महन्त हैं। प्रस्तुत विवरण उन्हीं के कथन तथा उनसे प्राप्त साहित्य, के आधार पर लिखा गया है।

जगजीवन जी के पिता गंगाराम, चदेल ठाकुर थे और ग्राम सरदहा (परगना बादे सराय, जि० बाराबंकी) के निवासी थे। यही जगजीवन जी का जन्म माघ शुक्ल ७ सं० १७२७, मंगलवार को हुआ था।[२] डा० बड़थ्वाल ने इनका जन्म संवत् १७९० लिखा है[३] और अवध गजेटियर्स में यह तिथि माघ शुक्ल ७ सं० १७३८ लिखी है, परन्तु स्वयं सतनामी पंथ के महात्माओं द्वारा प्रथम तिथि, सं० १७२७ की ही पुष्टि होती है। जगजीवन जी के कनिष्ठ पुत्र जलालीदास थे, इनके पुत्र गिरिवरदास थे; गिरिवर दास के शिष्य बोधेदास ने गुरु के संरक्षण में 'भक्त-विनोद' नामक ग्रंथ लिखा (१८४८ वि०)। इस ग्रंथ में सम्पूर्ण सम्प्रदाय का एक संक्षिप्त परिचय उल्लिखित है। उक्त तिथि भी उसी ग्रंथ से प्राप्त हुई है, अतः इस पर शंका करने का कोई कारण नहीं है। यह पुस्तक जगजीवन जी के जीवन-काल में ही लिखी गई।

जगजीवन जी की माता का नाम केवला देवी था। जन्म के छैः मास पश्चात् एक अभ्यागत ब्राह्मण देवता चुपके से इनको उठा ले गए और शक्ति के सम्मुख उपस्थित किया। शक्ति ने इनके मस्तक पर स्वर्णवर्ण का तिलक करके इनको अनन्य भक्ति का वरदान दिया। विप्र देवता ने इन्हें उसी प्रकार घर पहुँचा दिया। तब से इनकी भक्ति-उत्तरोत्तर विकसित होने लगी। बाल्यावस्था में ही

---

१. अयोध्या का इतिहास, ला० सीताराम, पृष्ठ ११

२. भक्त-विनोद, बोधेदास कृत, पृष्ठ ३

३. निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोयट्री, पृष्ठ २६४

बुल्ला और गोविन्द, दो साधु इनकी सेवा से प्रसन्न हुए किन्तु इनकी प्रार्थनानुसार इनको छोटा समझकर दीक्षा नहीं दी, केवल एक काला और एक सफेद धागा इनके हाथ में बांध दिया, जो अब भी इस सम्प्रदाय में बाधा जाता है और 'आंदू' कहलाता है।[1] आठ वर्ष की आयु मे ही ये परम भक्त हो गए और घाघरा तट पर 'अवरन कुंड' में स्नान कर, नित्यप्रति छिपकर उपासना करने लगे।[2] थोड़ी ही आयु में इनके बहुत से चमत्कारपूर्ण कार्यो का उल्लेख भी मिलता है। यद्यपि इनकी साधना बहुत ऊँची उठ चुकी थी परन्तु निगुरे रहना अनुचित जानकर इन्होने अपने पिता के गुरु विश्वेश्वर पुरी से मन्त्र ग्रहण किया।

२० वर्ष की आयु मे जगजीवनदास सरदहा से कोटवा चले आए और यही रहने लगे।[3] इनके गृहस्य और पुत्रवान् होने का उल्लेख भक्त-विनोद मे मिलता है। इनकी पत्नी मोतिन देवी थी और इनके पाँच पुत्र थे जिनके नाम सभादास (शोभादास), बलादास, पत्तादास, अनतदास, तथा जलालीदास थे। जलालीदास के पुत्र गिरधरदास हुए। ये सभी भगवद्भक्त थे।[4] जगजीवन जी की कन्या का विवाह गोंडा के राजा गुमानसिंह के साथ होने का उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि बरातियों को निरामिष भोजन से सन्तोष नही हुआ और उन्होने मास मांगा। यद्यपि इन सतनामी सन्तो ने उन्हें बहुत समझाया परन्तु उन्होंने अपना हठ न छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि अपनी सिद्धि के प्रभाव से जगजीवनदास ने बैंगन की तरकारी को मास मे परिवर्तित कर दिया, और इस प्रकार बरातियो को सन्तुष्ट किया। परन्तु जगजीवन जी को इससे बड़ा क्षोभ हुआ और उन्होंने यह शाप दे दिया कि इस विवाह से सन्तान नही होगी। समय पाकर शाप फलीभूत हुआ।[5]

बैशाख कृष्ण ७, सं० १८१७, मंगलवार को ९० वर्ष की आयु में जगजीवनजी ने इस नश्वर शरीर का त्याग किया।[6] "सम्वत् अठारह सै सतरह, करि आसन भे मौन। कृष्णपक्ष और सत्तिमी, बैसाख भौम कर गौन" (भ० वि०) इनकी पुण्य-स्मृति में राय निहालचन्द (राजा निर्मलदास के पुत्र

---

१. ना० प्र० पत्रिका, भाग १५, अंक, १, पृष्ठ ८५
२. भक्त-विनोद, बोधेदास कृत, पृष्ठ ३
३. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ३६३
४. भ० वि०, पृष्ठ १९-२०
५. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ५६४
६. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ३६३ तथा भ० वि० पृष्ठ २१

और नवाब आसिफुद्दौला के दीवान टिकयतराय के भतीजे) ने कोटवा में एक समाधि बनवाई। इस समाधि पर प्रत्येक मास की पूर्णिमा को मेला लगता है; कार्तिकी और वैशाखी पूर्णिमा को यह मेला विशेष समारोह से लगता है। समाधि के निकट "अभिराम तालाव" है, जिसके जल में रोगनाशक शक्ति कही जाती है।

"मंडप तसगुरु केर बनावा, तेहिते दास निहाल गनावा।
अबरन कूप औ बाग लगाए, भक्तन तहां सुपास भल पाए॥"[1]
(भ० वि०)

जगजीवन जी के यद्यपि बहुत से शिष्य थे किन्तु उनमें ४ सर्व-प्रधान थे और इनके विषय में कोई मतभेद नही मिलता है।[2] दोनों ग्रंथों में इनके नामों का समान उल्लेख प्राप्त होता है। ये नाम इस प्रकार हैं :

(१) गोसाइँदास उपाध्याय, ब्राह्मण, कुमड़ी परगना, दरियाबाद निवासी
(२) देवीदास गोंड क्षत्रिय, लक्षमनपुर, परगना हैदरगढ़ निवासी
(३) दूलनदास सोमवंशी क्षत्रिय, धरमीपुर, परगना सतोन निवासी
(४) खेमदास तिवारी ब्राह्मण नियानपुर, परगना दरियाबाद

"दूलन देवीदास भे, खेम गोसाइँदास।
जो कोउ इनकी सरन गा, तिन्ह कै पूजिहि आस"॥३७॥
(भक्त विनोद)

भक्त विनोद के अनुसार उक्त महात्माओं के विषय में निम्नलिखित विवरण प्राप्त होते है।

१. श्री विश्वेश्वर पुरी से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् जगजीवन जी का यश-प्रकाश खूब फैला। दूलनदास ने इनकी कीर्ति सुनी और सरदहा आए। चरणों पर गिरकर उन्होने उपदेश की प्रार्थना की। जगजीवन जी ने उनको उपदेश दिया और उनको ज्ञान की प्राप्ति हुई। बड़ी अनिच्छापूर्वक वे गुरु पास से विदा होकर घर चले। समेसी ग्राम मे इनका स्थान था। कुछ दिन बाद अपना स्थान छोड़कर सरदहा में आ बसे और गुरु के चरणों मे रहने लगे। दूलनदास गुरु की आज्ञा से ही बाहर जाते थे, अन्यथा गुरु के निकट ही रहते थे। अन्त में गुरु ने इनको आज्ञा दी कि तुम धरमपुर में जाकर रहो। इनको गुरु से विलग होने का दुःख हुआ किन्तु इन्होने आज्ञा का पालन किया। १६ वर्ष तक ये गुरु के नगर मे नही आए, इस पर लोगो ने इनकी आलोचना

---

१. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ३६३ तथा भ० वि० पृष्ठ २६
२. अवध गजेटियर्स, भाग १,पृष्ठ ३६३ तथा भक्त-विनोद

करती आरम्भ की और किसी ने सद्गुरु जगजीवन से भी यह बात कही। इस पर गुरुजी ने कहा कि कहनेवाले जड़ मूर्ख हैं। दूलन के समान हरिभक्त विरले ही होते हैं। उधर दूलन को अनुभव हुआ कि गुरु ने उनका स्मरण किया है, वे तुरन्त चल पड़े और जिस समय उनकी चर्चा हो रही थी, उसी समय आ पहुँचे। निन्दकों ने यह चमत्कार देखा और चकित रह गए। वे गुरु के पैरों पर गिर पड़े। दूलन जी इस रात्रि वहीं रहे, दूसरे दिन गुरु की आज्ञा पाकर तुरन्त लौट गए। इनके पुत्र रामबख्श भी भक्त थे।

"राम बकस मे राम क जाने। दूलन के सुत बड़े सयाने।"[१]

२. गोसाईदास जगजीवनजी के शिष्य पहले से ही थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे और इन्होंने जगजीवन जी से मन्त्र ग्रहण किया। सलिता के निकट सरैया ग्राम मे रहने लगे और निरन्तर भजन करने लगे। इसके बाद इन्होंने सरैया ग्राम छोड़ दिया और कमौली (कुड़मी ?) मे निवास करने लगे यहाँ रहकर इन्होंने प्रबल साधना की और सिद्धि प्राप्त की।

३. गौड़ क्षत्रिय, नीलवर्ण सुन्दर शरीर, देवीदास एक बार सरदहा आए और गुरुदेव के चरणो पर गिर पडे। बड़ी देर तक भक्ति से शिथिल होकर वे ऐसे ही पड़े रहे। बाद मे उपदेश पाकर वे विदा हुए और सैलखपुर गए। गांव छोड़कर वे पहले ही एक वृक्ष के नीचे ध्यान धारण करके बैठ गए थे, उनका मन भक्ति से सराबोर हो गया था। वे गुरु की सेवा में आकर अब उसी स्थान पर साधना करने लगे। उनकी अखंड समाधि लग गई। सब लोग उनकी यह दशा देखकर व्याकुल हो गए। सब अपना अपना मत देने लगे। माता-पिता रोने लगे। अन्त मे सब लोग गुरु को उलाहना देने चले। उनके पास जाकर कहा कि महाराज जो बालक आपकी सेवा में आया था उसकी बुरी दशा है, न खाता है, न पीता है, गूंगा-सा पडा है। कृपया उसे कुछ प्रसाद दीजिए जिससे वह स्वस्थ हो। गुरु ने मुस्करा कर कहा कोई चिन्ता नहीं है, सब भला होगा। तुम लोग जाओ शर्करा मँगाकर उसका शर्बत उसे पिला दो, ठीक हो जायगा। लोग लौटकर आ गए। देवीदास को इस प्रकार बैठे आठ दस दिन व्यतीत हो गए थे। उनके दांत बैठ गए थे। सीप से शर्बत उनके मुख मे डाला गया। कठिनाई से उनका ध्यान छूटा, परन्तु उन्होंने संसार से विरक्ति ही प्रकट की; किन्तु जब उनसे कहा गया कि गुरु का प्रसाद तुम्हारे लिए आया है तब उन्होंने उठकर उसे बड़े प्रेम से ग्रहण किया। आगे फिर स्वस्थ होकर इन्होंने गुरु के

---

१. भ० वि०, पृष्ठ २६

ग्राम की ओर मुख करके प्रणाम किया और गुरु-निर्मित 'अघ-विनास' ग्रंथ निरन्तर पाठ करते रहे। अनूपदास इनके पुत्र थे। "एक अनूपदास जग आए, देविदास सुत मो मन भाए।"[१]

देवीदासजी का जन्म भाद्र वदी ८, मंगलवार सं० १७३४ में हुआ था और इनके पिता ठाकुर भवानीसिंह जू देव लछिमनगढ़, जिला बाराबंकी के निवासी थे। जि० रायबरेली मे पुरवा नामक गांव इनका बसाया हुआ प्रसिद्ध है और वहीं स० १८१७ मे इनका देहावसान हुआ था। इस सम्प्रदाय में पुरवा ग्राम पुरवा धाम के नाम से प्रसिद्ध है[२]।

४. खेमदास ब्राह्मण, तिवारी थे। इन्होंने योग के लिए घरबार छोड़ दिया था और अन्न फलाहार का भी त्याग कर दिया था। ये केवल नीम की पत्ती और मिर्चा खाकर रहते थे। यहाँ तक कि इनका शरीर अस्थि पंजर मात्र रह गया था। इस प्रकार १२ वर्ष तक इन्होंने साधना की। एक ब्रह्मचारी को इन्होने गुरु बनाया किन्तु उससे इन्हें सत्यनाम की प्राप्ति नही हुई। इस प्रकार रहते रहते कुछ दिन बाद इनको ज्ञात हुआ कि सरदहा में मेला होता है। बड़े-बड़े सन्त आते है। गुरु जगजीवन के सम्मुख बहुत प्रसाद चढ़ता है किन्तु वे सब बाट देते हैं। ये वहां पहुँचे और गुरु के चरणों पर गिर पडे। उन्होने कृपापूर्वक इनको उपदेश दिया। इनके हृदय मे शान्ति और दृढ़ता उत्पन्न हुई। गुरु ने इनको अन्न खिलाया। ये मधनापुर ग्राम के पूर्व ओर, एक वृक्ष के नीचे, कुटी बनाकर निवास करने लगे। नित्य वहां भंडारा होने लगा; गुरु की कृपा से कोई भी इनके यहां से भूखा न गया। न तो अन्न कम पड़ा और न धन का सग्रह ही हुआ। इन्होंने निद्रा का त्याग कर दिया और वट-छाया मे निरन्तर ध्यानमग्न रहते थे। ललकदास इनके पुत्र थे। "भये खेम के ललक रसाला"।[३]

उक्त सन्त, जगजीवन जी के प्रमुख शिष्य थे। इनके अतिरिक्त अवध गजेटियर्स मे इनके १० शिष्यों का उल्लेख और मिलता है।

१. सावलदास, ब्राह्मण, ओमालीपुर, परगना महोलार निवासी।
२. उदैराम, उडिया ब्राह्मण, हरचन्दपुर, परगना महोलार निवासी।
३. शिवदास, गौड़ ब्राह्मण, पंजाब निवासी, ये अमृतसर की सतनामी गद्दी के संस्थापक थे।

---

१. भ० वि०, पृ० २६
२. शब्द लीला, देवीदास कृत, पृष्ठ ११
३. भ० वि०, पृष्ठ २६

४. रामदास तथा बद्रीदास, कुरमी, अटवा, परगना नवाबगंज निवासी।

५. मंसादास मोची, गुवारिच निवासी।

६. भवानी दास बहरेलिया ठाकुर, बहरेलिया, परगना दरियाबाद निवासी।

७. अह्लाददास चन्देल, सरदहा, बादे सराय।

८. सुन्दरदास ब्राह्मण, हरगांव, तिलोई राज्य।

९. तुनुरदास सोमवंशी, निघानपुर।

१०. कड़ादास, ब्राह्मण।

इनके अतिरिक्त गम्भीरदास का नाम भी मिलता है, जिन्होंने अम्बाला (पंजाब) में एक सतनामी गद्दी का संस्थापन किया था।[१]

उक्त दस शिष्यों में से अधिकांश के नाम "भक्त-विनोद" में प्राप्त हैं। दो एक के उस पुस्तक मे नही मिलते, सम्भव है कि वे लोग सीधी शिष्य-परम्परा मे न आते हो इससे रह गये हो, अस्तु। 'भक्त-विनोद' के अनुसार इन महात्माओं का उल्लेख इस प्रकार मिलता है :

१. 'उदैराम की कीरति प्यारी, बरनि न सको ताहि उजियारी ॥'

२. रामदास भे बदलीदासा, गहि गुरु शब्द न दोसर आसा ॥'

बदलीदास ही बद्रीदास ज्ञात होते है।

३. 'दास भवानी थल बरहेला, जिन्ह चरनन की रेनु सकेला।'

४. तोवर औ सिष्या सुजन, भे दूलन की आस।'

तुनुर दास ही तोवर दास हैं जो दूलन के शिष्य ज्ञात होते हैं।

५. 'जन अहलाद प्रीति बस कीन्हा, सतगुरु तिन्है सरन करि लीन्हा।

'करिभल भाव भाइ-सुत केरा, कृपा किहिनि भा ग्यान उजेरा।'

अहलाद जगजीवन के भतीजे थे।

६. 'पच्छिम ते पंजाबी आए बडे केस और खाक लगाए।'

× × ×

'तब ह्वै दीन कहा शिवदासा, आयो सरन बहुत करि आसा।'

ये अमृतसर गद्दी के संस्थापक थे।

७. 'दिन नियरान अवर नहिं भावहि, डलादास तहाँ भजन सुनावहि।'

संभव है ये कड़ादास या कलादास हों। सुन्दरदास तथा मंगलदास के नाम भक्तविनोद में प्राप्य नही हैं।

८. 'दास नेवल ऊमापुर केरे रहत सो सदा चरनु के नेरे'

१. अवध गजेटियर १, पृष्ठ ३६

नेवरा दास जगजीवन के प्रसिद्ध शिष्य तथा सत्कवि थे।

इनका उल्लेख गजेटियर्स में नहीं है। यह आश्चर्यजनक है। इनका 'सुख-सागर' ग्रंथ कवित्वपूर्ण तथा प्रवाहमयी भाषा मे लिखा है।

सतनामी सम्प्रदाय का विस्तार बहुत अधिक है। इसका साहित्य भी विस्तृत है। इसके सम्पूर्ण भक्तमण्डल तथा साहित्य का विवेचन हम आगे करेंगे। अवध मे यह सम्प्रदाय स्थापित करके महात्मा जगजीवन ने इस प्रान्त को निर्गुण उपासकों के बीच महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया।

जगजीवन जी का प्रमुख धर्म ग्रंथ 'अघ-विनास' है। सम्प्रदाय के अनुयायी इसी को अपना प्रमुख ग्रंथ मानते है। इसकी रचना अभिराम कुंड के तट पर, सरदहा मे ही हुई थी।

'अवरन के तट तरुवर छाहीं। भा गुरु ग्रंथ सरदहा माही।
अघ विनास भा तेहि का नाऊँ। जिन्ह मत समुझि ताहि बलि जाऊँ।
(अ० वि०, पृष्ठ १५)

बाबा जी के अन्य ग्रंथ भी हैं जिनके नाम है :

१. मन-पूरना २. ज्ञान-प्रकास ३. महाप्रलय ४. परम-ग्रंथ

'अघ-विनास मन-पूरन पढ़ि भा ज्ञान प्रकास।
महा प्रलै महँ बचि रहै, कबहुँ न जम कै त्रास॥' (अ० वि०, पृष्ठ १५)

मिश्रबन्धु विनोद मे 'मन-पूरना' का नाम नही है तथा 'परम-ग्रंथ' का नाम 'प्रथम ग्रंथ' लिखा है, जो ठीक नहीं है। 'बानी' नाम से जिस ग्रंथ का उल्लेख है उसके सब पद इनके 'अघ-बिनास' मे विद्यमान हैं। उक्त चार ग्रंथ प्रबन्धात्मक हैं और दोहे चौपाई मे लिखे गए है। इनका विषय ब्रह्म-जीव का विवेचन ही है। गुरु-शिष्य अथवा शिव-पार्वती सम्वाद द्वारा कवि ने उपदेशात्मक रूप में नाम-महिमा, संत-महिमा, कलि-लक्षण, अहिंसा आदि विषयों पर ज्ञानपूर्ण कथन किए हैं।

पूर्व-लिखित १४ शिष्यों के अतिरिक्त इनके कितने ही दूसरे अनुयायी हैं जिन्होंने वृहत् साहित्य की रचना की है। दूलनदास भाषा-साहित्य के अनुपम रत्न हैं और इनकी वाणी मे अमूल्य उपदेश भरे पड़े हैं।

७. बिलग्राम (हरदोई)

फर्रुखाबाद के बिल्कुल दूसरी ओर, गंगा के पूर्वी किनारे पर, बिलग्राम का कस्बा स्थित है। इसका स्थापन अकबर के समय मे हुआ था। इसके पूर्व भी इस स्थान का अस्तित्व तो था, परन्तु उपेक्षित रूप में। १३ वी शताब्दी ई० से पूर्व का इसका कुछ भी इतिहास विदित नही है। एक पौराणिक कथा के

आधार पर 'बिलग्राम' की स्थापना, ऋषियों की प्रेरणा से, बलराम जी द्वारा हुई थी। बलराम जी तीर्थाटन करते हुए नैमिष पहुँचे। वहाँ ऋषिगण, भागवत का पठन-पाठन कर रहे थे। उन्होंने उठकर बलराम जी का अभिवादन किया, केवल एक ऋषि ने ऐसा नहीं किया, जिसपर क्रुद्ध होकर बलराम जी ने एक कुश लेकर उसका सिर काट डाला। इस पर ब्राह्मणों ने बलरामजी की भर्त्सना की। बलरामजी को भी पश्चात्ताप हुआ और फल-स्वरूप उन्होने भयंकर दानव बिल्ह अथवा बिल को मार कर ब्राह्मणों को उसके आतंक से मुक्त किया। इसी वधस्थल पर 'बिलग्राम' की स्थापना हुई।[1]

बिलग्राम का यह प्राचीन कस्बा अपनी कविता और बौद्धिक विकास के लिये प्रसिद्ध रहा है। यद्यपि यह बहुत प्राचीन काल से मुसलमानों का केन्द्र स्थान रहा परन्तु वे मुसलमान शासक तथा नागरिक बड़े ही सहृदय तथा भावुक रहे हैं। कहते है कि बिलग्राम में एक ऐसा कुआं है जिसका पानी चालीस दिन निरन्तर पीने वाला व्यक्ति कुशल गायक हो जाता है। यह किंवदन्ती ही हो सकती है किंतु 'बिलग्राम' के पानी मे ही कला-प्रदान करने की शक्ति विद्यमान है, यह ध्वनि तो इस कथन से अवश्य निकलती है।

सैयदवंश के मुसलमानों में साहित्य प्रेम की मात्रा अधिक दृष्टिगत होती है। वैसे तो इस नगर में कवियों और विद्वानों का एक समाज ही उत्पन्न हुआ है। सैयद रहमतुल्लाह (१७००), अब्दुल जलील (१७६५), मीर अब्दुल वाहिद जौकी (१७७०), सैयद गुलाम नबी रसलीन (१७९४-९८), मीर अहमद (१८००), तालिब अली रसनायक (१८०३), राम प्रसाद बन्दीजन (१८०३), नेवाज जुलाहा (१८३०), मिर्जामदनायक (१८६०) इत्यादि कितने ही विद्वान्, गायक तथा कवि बिलग्राम मे हुए हैं। आज भी यहाँ के कवि अपने को 'बिलग्रामी' कहने में गर्व का अनुभव करते हैं।

सै० गुलाम अली आजाद कृत 'तजकिरए सर्व आजाद हिन्द' में बिलग्राम के कुछ कवियों के विषय में साहित्यिक तथा मनोरंजक उल्लेख मिलते है। उदाहरणार्थ एक घटना यहाँ पर दी जाती है।

शाहजहाँ के समय में सैयद रहमतुल्लाह बिलग्रामी, परगना जाजमऊ के शासक थे। ये बड़े कार्यकुशल तथा साहित्य-मर्मज्ञ थे। ये औरंगजेब के समय तक जीवित रहे और १११८ हिजरी मे इनका देहान्त हुआ।

एक बार प्रसिद्ध कवि भूषण के बड़े भाई चिन्तामणि का एक शिष्य इनके

---

१. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ३१६-१७।

पास आया और उसने इन्हें सुन्दर कविताएं सुनाईं। इन्होने उसससे अपने काव्य-गुरु की कोई कविता सुनाने को कहा। उसने इनकी आज्ञानुसार निम्नलिखित दोहा पढ़कर सुनाया :

हियो हरत उर करत अति चिन्तामनि चित चैन।
वा मृगनैनी के लसे वाही फैरे नैन॥

इसके बाद एक बार सयोग से चिन्तामणि की भेंट सैयद साहब से हुई। काव्य-चर्चा होने पर सैयद साहब उनसे बहुत प्रसन्न हुए और उनके आश्रयदाता बन गए। उक्त दोहा चिन्तामणि के 'कविकुल-कल्पतरु' ग्रंथ में विद्यमान है।[1]

मीर अब्दुल वाहिद जोकी भी एक श्रेष्ठ कवि थे। इन्होंने 'शकरिस्तान-खयाल' नामक एक कविता-सग्रह प्रस्तुत किया था, जिसमें इनकी हिन्दी कविता भी विद्यमान है। इसमे हास्य का भी थोड़ा बहुत समावेश पाया जाता है। 'कालपी के ओलो' की इन्होने बडी प्रशसा की है। सम्भवतः उस समय कालपी में शकर के ओले अच्छे बनते थे।[2]

अन्य कवियो की कविताएँ भी स्फुट रूप मे प्राप्त होती है।

सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' बिलग्राम के प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठतम कवि स्वीकार किए जाते है। इन्होने अपने 'रस-प्रबोध' नामक ग्रंथ में अपना परिचय-सहित नाम इस प्रकार लिखा है :

"श्री हुसेनी वासती बिलगरामी सैयद बाकर सुत सैयद गुलाम नबी 'रसलीन'।" इससे इनके पिता का नाम सैयद बाकर ज्ञात होता है। अनुमानतः इनका जन्मकाल स० १७४६ निश्चित किया गया है क्योंकि इनके प्रथम ग्रंथ

---

१. साहित्य-समालोचक, भा० २, पृष्ठ १२४-२५, सम्पादित पं० कृ०वि० मिश्र।

२. मीठे है निपट ही सोहाय भावै नैनन को,
जाके रस चाखन को सबै ललचात है।
फीके न जरा भी सब खाय के कहा लौ कहो,
हीरा की सी जोति देखि फूले न समात है।
खाड के कबीले मधु अति ही पीवत हंसि,
रसना के प्यारे बीच ओठन बिलात है।
ऐसे सुकुमार है ये ओले यारो कालपी के,
दीठि के लखे ते देखो टूटे ही तो जात है।

वही, पृष्ठ १२५

'अंग-दर्पण' में प्रौढ़ कविता प्राप्त होती है।[1] 'अंग-दर्पण की रचना सं० १७९४, अर्थात् कवि की ४८ वर्ष की अवस्था में हुई। 'रस-प्रबोध'-इसके ४ वर्ष बाद, सं० १७९८ वि० में रचा गया। यह ग्रंथ कवि के सूक्ष्म साहित्य-ज्ञान का प्रदर्शक है। शृंगार-रस का बहुत ही विशद तथा सुस्पष्ट विश्लेषण इस ग्रंथ में किया गया है। रसलीनजी-का आचार्यत्व प्रमाणित करने के लिए यह पुस्तक पर्याप्त है।

८. बिसवां (सीतापुर)

चौधरी उमराव सिंह कायस्थ के आश्रय में सुवंश शुक्ल नाम के एक श्रेष्ठ कवि को अपनी प्रतिभा प्रस्फुटित करने का अवसर बिसवा में प्राप्त हुआ। सुवंश जी ने उमराव-शतक, उमराव-प्रकाश और उमराव-कोश (अमरकोश का अनुवाद) नामक ग्रंथ अपने इन आश्रयदाता के लिए प्रस्तुत किये। उमराव कोश का निर्माण काल इस प्रकार मिलता है।

४   ६   ८   १

"जुग रस बसु अरु निसापति संवत वर्ष बिचारि।
माघ कृष्ण प्रतिपदा को भयो ग्रंथ अवतार॥"[2]

इस प्रकार वामगति से १८६४ की तिथि प्राप्त होती है।

सुवंश जी ने इस ग्रंथ में उमराव सिंह का वंश-वर्णन भी किया है, जो इस प्रकार है:

राजा बालचन्द के पुत्र अमर सिंह हुए। इनके दो पुत्र थे, शिव सिंह और भवानी सिंह। शिवसिंह के पांच पुत्र हुए: धौकल सिंह, भूपसिंह, उमराव सिंह, बख्तावर सिंह और ईश्वरी सिंह।[3]

यही तीसरे पुत्र उमराव सिंह, सुवंश जी के आश्रयदाता थे। ये स्वयं कवि थे और 'रस-चन्द्रिका' नाम के इनके ग्रंथ का उल्लेख उमराव कोश में सुवंश जी ने किया है। उसका एक छन्द भी उद्धृत किया गया है जो इस प्रकार है:

"सीसा के सदन आइ बैठे एक आसन दै,
बाढ़े लागी हरख मनोरथ के थान की।
चपलता सुन्दर तमाल मनिमाल वारी,
दुति दामिनी की अरु घन अभिराम की।

---

१. मि० व० वि० भाग २, पृष्ठ ६११
२. उमराव-कोश सुवंश कृत ह० लि०, श्री व्रजराज पुस्तकालय, गंधौली, सीतापुर
३. वही

सिंधु तन रूप की तरंगे उठै दुहुन के,
भाखै उमराउ छवि लाजै रति काम की।
ईश चित चोभा है मुनीश मन लोभा लेखि,
कोभा कवि कहै देखि शोभा स्यामा स्याम की ॥२८॥[१]

ग्रंथ के प्रत्येक कांड के अन्त मे ग्रंथ-प्रयोजन इस प्रकार लिखा गया है :

"इति श्री विश्वनाथ पुरा खंड मडल धराधीश चौधरी शिवसिंह वंशावतंश उमराव सिंह कारिते शुक्ल सुवंश विरचिते उमराउ कोशे प्रथम कांडे......" इत्यादि।

इस ग्रंथ के आरम्भ में राजवंश वर्णन देखने से विदित होता है कि उमराव सिंह, सुवंश जी का बहुत आदर करते थे और इनको पर्याप्त दान भी दिया था, जिसके उल्लेख मे कवि ने अपने स्वामी की तुलना कर्ण, नृग, हरिश्चन्द्र आदि में की है। उमरावसिंह की वीरता का वर्णन भी एक फुटकर छन्द मे मिलता है :

"कमर कसत मे लसत चौगुनो सरीर, बिजै के बिलास हास बदन खबर में।
चमू को सजाइ मारु बाजा बजवाइ बीर, धीर सरसाइ आइ गयो है समर मे।
देखि बैरि दल को नरेस उमराव सिंह, उमडो सुवंस कहै आभा के अमर मे।
आनद अखड मे बढ़ै प्रचंड लागे अंग, लागे होन चट्ट चट्ट बंद बखतर में।[२]

सुवंश जी का उमराव-कोश बड़ा ग्रंथ है। ये टेढ़ा ग्राम (उन्नाव) निवासी तथा केशी के शुक्ल, कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम प्रयाग दत्त था और अमृत लाल और भवानीदीन दो छोटे भाई इनके और थे।[३]

टेढ़ा ग्राम की प्रशंसा सुवंश जी ने कई छन्दों मे की है। उक्त ग्राम के निवासी कात्यायन गोत्रीय मिश्र साधोराम भी इनके आश्रयदाता थे, जिसका उल्लेख इन्होंने अपने 'रामचरित' नामक ग्रंथ मे किया है। रामचरित ग्रंथ उन्ही के आश्रय मे प्रणीत हुआ था।[४]

ओयल के राजा सुब्बासिंह के आश्रय मे रहकर सुवंश जी ने 'विद्वन्मोद तरंगिणी' नामक कविवृत्त-संग्रह ग्रंथ तैयार किया था। यह ग्रंथ, साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करता है।

---

१. उमराव-कोश, सुवंश कृत, ह० लि०, श्री ब्रजराज पुस्तकालय, गंधौली, सीतापुर
२. सा० समालोचक, भाग १, अंक ४, श्री कृ० वि० मिश्र सम्पादित।
३. वही
४. साहित्य समालोचक : भा० १, सं० ४, कृ० वि० मि० सम्पादित, ('सुवंश शुक्ल' ब्रजरत्नदास)

९. अली अकबर खां मुहमदी (हरदोई)

बिलग्राम के युद्ध के समय (सं० १५९७) सैयद अब्दुल गफूर कन्नौज के काजी थे। इनके एक छोटे भाई अब्दुल मुक्तदी भी थे। शेरशाह से परास्त होकर जब हुमायूं फारस की ओर भाग गया तब कुछ बातों में अब्दुल गफूर और शेरशाह की नहीं बनी, फलतः उसे भाग कर गंगा के किनारे जंगल में शरण लेनी पड़ी। सं० १६१२ में हुमायूं ने फिर अपना साम्राज्य पाया और अब्दुल गफूर ने अपने आश्रय-स्थल से उसे बधाई का पत्र भेजा। हुमायूं ने उसे कई गांव और आसपास की वन-भूमि जागीर के रूप में दे दी। गफूर ने यहां पर जो नगर बसाया उसका नाम पिहानी रखा। पिहानी शब्द फारसी के 'पिनहां' से निकला है जिसका अर्थ 'छिपना' है। इस स्थान पर छिप कर रहने के कारण गफूर ने स्थान का नाम पिहानी रख दिया।

अब्दुल मुक्तदी का पुत्र गफूर आलम था। यह दिल्ली, विद्याध्ययन के लिए, गया था। संयोग से अपनी योग्यता के प्रभाव से यह अकबर के दरबार तक पहुँचा और आगे इसे जहांगीर का शिक्षक होने का अवसर प्राप्त हुआ। इसके अध्यापन से प्रसन्न हो कर अकबर ने इसे 'नवाब सदरजहां' की उपाधि दी और साम्राज्य का प्रधान न्याय-मंत्री तथा धर्माधिकारी बनाया। सारे साम्राज्य के अधिकारियों में इसका स्थान चौथा था। यह जहांगीर के शासनकाल में भी साम्राज्य का अधिकारी बना रहा और पिहानी में इसकी समाधि अब भी विद्यमान है।

सदरजहां ने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किए थे और इसकी एक ब्राह्मणी पत्नी, पार्वती के दो पुत्र मुर्तजा खां और इतिजा खां थे।

मुर्तजा खां गोपामऊ का फौजदार था और इतिजा खां रणथम्भौर के दुर्ग का अधिपति। बदरजहां नामक एक पुत्र खेरी और बरबार का जागीरदार था।

बरबार के प्रबंधक की मृत्यु हो जाने पर मुर्तजा खां के पौत्र मुक्तदी खां को बरबार का प्रबंधक बनाया गया। इसने औरंगजेब के समय में राज्य की बड़ी उन्नति की। अपने पड़ोसी अहबन राजा का राज्य भी धोखा देकर उससे हड़प लिया। इसकी मृत्यु पर सैय्यद खुर्रम अधिकारी हुआ। खुर्रम औरंगाबाद में रहने लगा। १७६६ वि० में इसकी मृत्यु पर इसका तालुका बहुत कुछ छिन्न-भिन्न हो गया। सैयद खुर्रम का अत्याचार ही इसका कारण था।

१७५७ वि० में इसने बदियागांव, गोपामऊ (हरदोई) के अहबन सरदार, दानशाह के राज्य के एक बाग पर अधिकार करने के लिए आक्रमण किया और मारकाट करता हुआ, दानशाह के दो नातियों को बन्दी बना ले गया। दानशाह

की कन्या सोमवंशी क्षत्रियों में ब्याही थी और बच्चे अपने नाना के पास रहते थे। दोनों भाइयों में बहादुरशाह को तो उसने छोड़ दिया किन्तु बदरसिंह को मुसलमान बनाकर अपनी कन्या ब्याह दी और उसे सेनापति बना दिया। उसका नाम इबादुल्ला खां रख दिया गया।

१७६६ वि० मे खुर्रम का बड़ा पुत्र मुहम्मद अली उसका उत्तराधिकारी हुआ। उधर खुर्रम की एक हिन्दू पत्नी भी थी जिसका पुत्र इमामुद्दीन खां था। उसने राज्य मे हिस्सा मागा। इबादुल्ला ने उसका पक्ष लिया। मुहम्मद अली ने इस झगड़े की जड, इमामुद्दीन की माता को समझा और राज्य की अस्त-व्यस्तता के सुधार के लिए उससे रुपया वसूल करने के इरादे से उसे कैद कर लिया। इबादुल्ला को उसने बरखास्त कर दिया। इबादुल्ला रात में सेंध लगा कर उसे छुडा ले गया और उसके पुत्र के साथ दिल्ली पहुँचा। वहाँ मुहम्मदशाह से फरियाद करके और सूबेदार अवध, सआदत खां की सहायता से उसने रियासत पर इमामुद्दीन का अधिकार करा दिया। इसके तीन वर्ष बाद तक इमाम की माता जीवित रही। इसके बाद इबादुल्ला ने अवध के दीवान नवलराय को अपने पक्ष में कर लिया और उसकी सहायता से खुर्रम के पुत्रों को अधिकार से वंचित करके स्वयं रियासत का स्वामी बन बैठा। इसके बाद वह औरंगाबाद से अपना स्थान मुहमदी को हटा लाया और वहाँ एक सुदृढ़ किला बनवाया। दिल्ली से उसे राजा और खान की उपाधियां भी मिली।

इबादुल्ला की मृत्यु सं० १७९४ मे हुई। उसका उत्तराधिकारी पुत्र महबूब अली १७९९ वि० में मरा और उसका भाई १८०९ वि० में। इसके बाद महबूब अली का एक पुत्र गुलाम मुहम्मद, रियासत का स्वामी हुआ।

इबादुल्ला का तीसरा पुत्र अली अकबर खा इस बात को सहन न कर सका कि उसके स्थान पर एक लड़का अधिकारी बनाया जाय। क्षत्रियों की यह रीति भी थी कि यदि उत्तराधिकारी बुद्धि, बल मे हीन हो तो भाई को राज्याधिकार मिलना चाहिए। उसने अपने सोमवंशी सम्बन्धियों से शिकायत की और उनमे से कुछ क्षत्रिय, परम्परा की रक्षा के लिए उसके सहायक बने और १८१४ वि० मे उन्होने एक रात मुहमदी आकर गुलाम मुहम्मद को समाप्त कर दिया।

गुलाम मुहम्मद की माता ने सेना एकत्र करके अली अकबर को परास्त कर दिया और अन्त में संधि द्वारा यह निश्चय हुआ कि जब तक जीवित रहे, अली अकबर रियासत की देखभाल करे और उसकी मृत्यु पर गुलाम नबी खा उत्तराधिकारी हो। १८२९ वि० मे अली अकबर ने स्वयं शासनभार छोड़ कर गुलाम नबी को दे दिया।

इस समय गौड क्षत्रियों की प्रबलता थी। उन्होने मुहमदी पर चढ़ाई करके अली अकबर को परास्त कर दिया। उसने फतेहगढ़ के नवाब अहमद खां बंगश से सहायता मागी। सहायता प्राप्त होने पर, सीतापुर-शाहजहांपुर वाली सड़क पर, मैकलगंज नामक स्थान पर घोर युद्ध हुआ, परन्तु गौड़ फिर जीते। अली अकबर पीलीभीत की तरफ भाग गया और वहाँ दोआबे के रुहेलो से सहायता मांगी। ये क्षत्रियों का उत्कर्ष न देख सकते थे, अतः सहायता देने पर राजी हो गए और मैलानी के पास एक वनभूमि मे घोर युद्ध हुआ। इसमें गौड परास्त हो गए। वे आस-पास के जंगल में छिप गये। रुहेलों ने अली अकबर को फिर राज्य दे दिया। स्वय उन्होंने अवध में घोर अत्याचार किए, एक भी मूर्ति और मन्दिर को तोड़े और अपवित्र किए विना नही छोडा। अली अकबर ने भी खुर्रम के उत्तराधिकारियों को पीडित किया था, परन्तु इस प्रकार की अमानुषता उसने नही दिखाई थी। अली अकबर के दस पुत्र विभिन्न पत्नियों से हुए, किन्तु सब अपुत्र मर गए। गुलाम नबी मालगुजारी नही दे पाता था। १८४९ वि० में वह कैद करके लखनऊ ले जाया गया और वही उसकी मृत्यु हुई।

उसके पुत्रों ने कभी-कभी विद्रोह किया पर दवा दिए गए। जाहिद अली और वाहिद अली युद्ध में मारे गए। अम्मन अली पकड़े गए पर छुड़ा दिए गए। उन्होने प्रतिज्ञा की कि विद्रोह न करेंगे। इनके बाद इनके पुत्र अशरफ अली उत्तराधिकारी हुए। ये १९२४ वि० मे दिवगत हुए और इनके पुत्र मुशर्रफ अली खां अधिकारी हुए। इन्होंने अपना ताल्लुका कोर्ट आफ वार्डस् के अधिकार मे दे दिया।[1] अली अकबर खां सहृदय, काव्य-रसिक व्यक्ति थे। उनमें धार्मिक कट्टरता नही थी। कविवर देव ने अपना श्रेष्ठ ग्रंथ 'सुखसागर-तरंग' तथा गुमान मिश्र ने नैषध का अनुवाद, 'काव्य-कलानिधि' इनके आश्रय में बनाया था। सुखसागर-तरंग मे इनके वश का वर्णन इस प्रकार मिलता है :

"खानी सिह दलीप महीपति पुरी पिहानी।
सदर जहानी सदर जहाँ जूकी रजधानी॥
जिहिं सुपुत्र मुर्तजा मुहम्मद सैंद जासु सुत।
सैंद मुकर्‍रि तासु तासु खुर्रम अति अद्भुत॥
तिहि पुत्र अवादुल्ला सुखद जाकी महिमा जग भली।
तिहि तनय महमदी महीपति खान बली अकबर अली॥"[2]

---

१. अवध गजेटियर्स २, पृष्ठ २४५-५३,

२. सुखसागर-तरंग, देव कृत, अयोध्या प्रकाशित—छन्द ५

अर्थात् पिहानी के राजा सदरजहां के पुत्र मुर्तजा थे जिनके सैयद मुहम्मद हुए। इनके पुत्र सैयद मुतक्दी हुए और उनके सुरंम हुए। सुरंम के अबादुल्ला और उनके पुत्र महमदी-पति खान अकबर अली हुए।

गजेटियर्स के अनुसार इबादुल्ला, सुरंम के जामातृ थे, पुत्र नहीं। यही बात विशेष प्रामाणिक प्रतीत होती है। गुमान मिश्र ने अकबर अली की प्रशंसा तो ग्रथ के आरम्भ मे की है परन्तु उनका वंश वर्णन नहीं किया। गुमान जी पिहानी के निवासी थे और इनका वास्तविक नाम सर्वसुख मिश्र था और इन्होने स० १८२४ मे अपने ग्रंथ की रचना की थी।

"मिश्र सर्वमुख सुकविवर, श्री गुरु चरन मनाइ।
बरनि कथा ही कहतहो होइ हैं वई सहाय ॥१७॥
सजुत प्रकृति पुरान से, संवत्सर निरदंभ।
सुरगुरु सह सित सत्तमी, किहेउ ग्रंथ प्रारंभ ॥२०॥"[१]

प्रकृति २४ और पुराण १८ हैं। इनकी वाम गति से १८२४ की संख्या मिलती है, यही इस ग्रथ का रचना काल है। काव्य-कला-निधि बड़ा और श्रेष्ठ काव्य है। सुखसागर तरंग की रचना भी प्रायः ऐसे ही समय हुई थी। "सुखसागर-तरग सवत् १८२४ और १८२५ के लगभग" निर्मित हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है।[२]

अकबर अली खा जैसे उदार, गुण-ग्राहक शासकों द्वारा अवध प्रान्त की शोभा थी जो किसी प्रकार का धार्मिक भेदभाव न रखकर सच्चे गुणियों का आदर करते थे।

१०. दौलतपुर (रायबरेली)

युग-प्रवर्तक आचार्य द्विवेदी जी की जन्म-भूमि, दौलतपुर, जिला रायबरेली मे, गंगा तट पर स्थित है। इतिहास-प्रसिद्ध राव मर्दन सिंह के डौंडियाखेरे से यह स्थान केवल दो मील की दूरी पर है। द्विवेदी जी के जन्म से गौरवान्वित, यह स्थान आधुनिक हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम मे अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है किन्तु अवध के शृंगार-युगीन साहित्यिकों का उल्लेख करते हुए भी इस स्थान के नाम की उपेक्षा नही की जा सकती। आचार्य द्विवेदी जी से पूर्व, १८वी शताब्दी मे आचार्य सुखदेव मिश्र ने दौलतपुर को अपने निवास से गौरवान्वित

---

१. काव्य-कलानिधि, गुमानकृत, सा० स० प्रयाग
२. सा० समालोचक भाग १, अंक १, कृ० वि० मि० सपादित

किया था। उनके कई उत्तम काव्य-ग्रंथ, उनकी अद्भुत प्रतिभा तथा काव्य-पटुता के पूर्ण परिचायक है। दौलतपुर केन्द्र पर विचार करते हुए हम इस कवि के जीवन-वृत्त तथा उनकी साहित्य-सेवा का परिचय देने का प्रयत्न यहा पर करेंगे।

हमारे प्रस्तुत विवरण के प्रमुख आधार चार है (१) शिवसिंह-सरोज (२) महावीर प्रसाद द्विवेदी के दो लेख (अ) 'सरस्वती' अक्टूबर १९०४ (ब) 'सरस्वती' फरवरी १९०५ (३) मिश्र-बन्धु विनोद तथा (४) साहित्य-समालोचक भाग ३ संख्या १ (सन् १९२७) प० कृष्ण बिहारी मिश्र सम्पादित। इस सामग्री के अतिरिक्त ग्रियर्सन के 'वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" में भी सुखदेव जी का उल्लेख मिलता है, किन्तु वह सब 'सरोजकार' के आधार पर है, अतः उस पर अलग विचार करना व्यर्थ है।

शिवसिंह सरोज मे सुखदेव नाम के तीन कवियों का उल्लेख किया गया है :

(१) सुखदेव मिश्र : कम्पिला वासी स० १७२८ मे उ०

इन्होने "प्रथम राजा अर्जुन सिंह के पुत्र राजा राजसिंह गौर के यहां जाकर कविराज की पदवी पाकर वृत्त विचार नामक पिंगल सब पिंगलो मे उत्तम ग्रंथ रचा।"

"तत्पश्चात् राजा हिम्मत सिंह बंधल गोती अमेठी के यहा आय छद विचार नाम पिंगल बनाया।"

"फिर नवाब फाजिल अली खां औरगजेब बादशाह के मन्त्री के नाम भाषा साहित्य का फाजिल अली प्रकाश नाम ग्रंथ महा अद्भुत रचा।"

इन तीनों ग्रंथों के अतिरिक्त 'अध्यात्म प्रकाश' और 'दशरथ राय' नामक अन्य दो ग्रंथों का उल्लेख भी सरोज में मिलता है, परन्तु इन दो ग्रथों के 'कहीं लिखे देखने' मात्र का कथन है।

(२) दूसरे सुखदेव, दौलतपुर (रायबरेली) निवासी हैं; इनका समय सं० १८०३ (उ०) दिया गया है। ये बैसवारे के श्रेष्ठ कवि, राव मर्दन सिंह बैस (डौंडियाखेरा) के आश्रित कहे गए हैं; उन्हीं के नाम पर 'रसार्णव' ग्रंथ की रचना की थी। शम्भुनाथ आदि कवि इनके शिष्य थे।

(३) अन्तर्वेद निवासी तीसरे सुखदेव का समय सं० १७९१ (उ०) दिया गया है। ये भगवंतराय खीची असोथर वाले के आश्रित कहे गए है और इनके विषय में यह सन्देह है कि "कुछ आश्चर्य नहीं कि यह महाराज सुखदेव मिश्र दौलतपुर वाले ही हों।"

उक्त उल्लेखों के कारण सर्वप्रथम, कवि के व्यक्तित्व का प्रश्न हमारे सम्मुख आता है। हमें यह देखना है कि सुखदेव जी एक ही थे अथवा कई ? और

उनका समय क्या था ? सेंगर जी ने सरोज मे यद्यपि तीन सुखदेवों का उल्लेख किया है, किन्तु दौलतपुर निवासी, राव मर्दन सिंह आश्रित रसार्णव के रचयिता, तथा अन्य भगवंतराय राय खीची आश्रित सुखदेव के विषय में उन्हें स्वयं सन्देह है कि ये दोनो एक ही हो सकते हैं।

मर्दन सिंह का समय १८ वी शताब्दी वि० का उत्तरार्द्ध रहा है। १७५७ से १८०० वि० तक उसका यश अपनी चरम महत्ता को पहुँचा हुआ था। इसके बाद उसने अपना राज्य अपने पुत्रों में विभाजित कर दिया था।[१] भगवत राय खीची का समय १७९७ वि० तक रहा है, जैसा कि गजेटियर्स आफ अवध तथा बा० श्यामसुन्दर दास सम्पादित 'हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' भाग १ की भूमिका से प्रमाणित होता है।[२] गजेटियर्स के अनुसार सन् १७३२ ई० अर्थात् १७८९ वि० मे सआदत खां अवध का शासक नियुक्त हुआ और इसी से युद्ध करके भगवन्त राय मारे गए। बाबू श्यामसुन्दर दास ने सदानन्द कृत 'भगवन्त-रासा' का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसमें स्पष्ट रूप से इस युद्ध का समय सं० १७९७ दिया गया है और इसी में भगवन्तराय की मृत्यु हुई। मिश्रबन्धुओं ने मल्ल नामक कवि का उल्लेख किया है जो इनके आश्रित था। उसका कविता-काल १८०७ दिया गया है। इसने भी अपने एक छन्द मे भगवन्त राय की मृत्यु का उल्लेख किया है :

"भूप भगवन्त सुरधाम को पयान कियो,
आजु कविगन को कलपतरु टूटिगो।"[३] इत्यादि

इन प्रमाणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग १८०० वि० के आस-पास मर्दन राव तथा भगवत सिंह खीची दोनो विद्यमान थे। सुखदेव जी यदि दोनो ही के आश्रय मे रहे हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। दोनों ही अद्वितीय वीर तथा गुण-ग्राहक थे। अत: दोनों के सम्पर्क में आना, कोई भी कवि गौरव की वस्तु समझता। इस प्रकार एक ही सुखदेव जी का इन दोनों के आश्रित होना असम्भव नहीं, और न 'सरोज' में उल्लिखित दूसरे और तीसरे सुखदेव का एक होना ही असम्भव है। द्विवेदी जी ने तो इन सुखदेवों का एक व्यक्तित्व स्वीकार ही किया है।[४]

---

१. अवध गजेटियर्स ३, पृष्ठ २३८
२. पृष्ठ २३
३. मि० ब० वि० भाग २, पृष्ठ ६८३
४. 'सरस्वती' अक्टोबर १९०४

इसके बाद सरोज में उल्लिखित प्रथम सुखदेव पर हमें दृष्टि डालनी है। इनके द्वारा रचित 'वृत्त-विचार' (सं० १७२८) तथा 'फाजिल-अली-प्रकाश' (सं० १७३३) ग्रंथ प्राप्य हैं।[1] 'छन्द विचार' नामक ग्रथ, जो अमेठी के हिम्मत सिंह के लिए बना, आरम्भ में कुछ खंडित अवस्था मे श्री ब्रजराज पुस्तकालय, गन्धौली (सीतापुर) में विद्यमान है।[2] इस ग्रन्थ मे आश्रयदाता का वंश, विस्तृत रूप में वर्णित है। हिम्मत सिंह के पुत्र, कविवर महाराज गुरुदत्त सिंह 'भूपति' थे, जिनकी सतसई एक श्रेष्ठ रचना है। ये जैसे कवि थे, वैसे ही वीर भी थे। सं० १८०० वि० मे ये अमेठी के शासक थे। अपनी स्वाभिमानी और स्वतन्त्र प्रकृति के कारण इन्होंने नवाब वजीर सफदर जंग के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और उनसे इनका घमासान युद्ध हुआ, जिसमें इन्होंने अतुल पराक्रम दिखलाया।[3] अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि हिम्मत सिंह का शासनकाल भी प्रायः १८०० वि० तक रहा होगा क्योंकि भूपति जी की सतसई का रचनाकाल सं० १७९१, ग्रंथ में ही कहा गया है; कम से कम १७९० तक तो अवश्य ही रहा होगा, क्योंकि यदि शासक-रूप मे गुरुदत्त सिंह ने यह युद्ध किया हो तब भी उनके पिता प्रायः १७९० तक शासक रहे होंगे। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि हिम्मत सिंह और मर्दन सिंह भी सम-सामयिक थे, यद्यपि मर्दन राव १८०० तक विद्यमान थे और सम्भव है वे कुछ अधिक समय तक भी रहे हों। द्विवेदी जी का लेख, सुखदेव जी के वंशजो के कथन पर आश्रित है और इसके अनुसार सुखदेवजी हिम्मत सिंह और मर्दन सिंह के आश्रय में साथ ही साथ रहे थे। कुछ दिन ये अमेठी मे रहते थे और कुछ दिन डौंड़ियाखेरे में। इस प्रकार सं० १८०० के लगभग वे इन दो राजाओं के आश्रित थे। इस निष्कर्ष के आधार पर पहले और दूसरे सुखदेवजी भी एक ही कहे जा सकते हैं। इस प्रकार तीनों सुखदेवो का व्यक्तित्व एक ही ठहराया जा सकता है।

जन्मकाल

द्विवेदी जी के अनुसार सुखदेवजी के सर्वप्रथम आश्रयदाता, भगवन्त राय खीची थे। यद्यपि इनके लिये उन्होंने किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया है तथापि फुटकर काव्य में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। यदि राजसिंह गौर के

---

१. सर्च रिपोर्ट, १९२०-२२, नं० १८ तथा भूमिका अंश, तथा उक्त दोनों ग्रंथ
२. छन्द-विचार, हस्त-लिखित, श्री ब्रजराज पु०, गंधौली
३. अवध गजेटियर्स १, पृष्ठ ४७ तथा मि० ब० वि० भाग २, पृष्ठ ६४०

"पद्मनाभ तो शुक्ल थे पर उनके पुत्र ईश्वरजी मिश्र कैसे हुए ? भारद्वाज गोत्री मिश्र तो कान्यकुब्जो में नही सुने जाते है। इस शंका का समाधान करने के लिए हमने कुछ कान्यकुब्ज वंशावलियाँ टटोली तो एकाध में हमें यह लिखा मिला कि कुछ भारद्वाज गोत्री शुक्ल ऐसे भी थे जिनको लोग मिश्र भी कहते थे। यथा—

"शिवमणि के तीन पुत्र १. दिनकर २. महगू ३. पटोरे। दिनकर चौसा के शुक्ल कहाए, महंगू और पटोरे को कोई शुक्ल कहता था और कोई मिश्र इससे ये दोनो शुक्ल मिश्र कहाए और चौसा में रहे।"

कान्यकुब्ज वंशावली (भारद्वाज गोत्र वर्णन) न० कि० प्रे० से प्रकाशित, पृष्ठ १२६।

इस प्रकार शुक्ल-पूर्वजो से इस मिश्र-वंश का उद्भव स्पष्ट हो जाता है।

प्रौढ़ावस्था में सुखदेवजी ने काशी मे जाकर अध्ययन किया और संस्कृत, तंत्र और साहित्य मे निपुणता प्राप्त की। इनके आश्रयदाताओं का उल्लेख हो चुका है। सबमे पहले ये असोथर के भगवन्तराय खीची के यहाँ गए परन्तु उनसे रुष्ट होकर दौलतपुर से दो मील दूर, गगा के किनारे वकसर मे रहने लगे। डौड़ियाखेरे के राव मर्दनसिह ने यही आकर इनको अपना गुरु बनाया। उसने भी इनकी सिद्धि की परीक्षा लेनी चाही परन्तु उसे इन्होंने क्षमा कर दिया। किन्तु अन्त मे ये वहाँ से भी असन्तुष्ट हुए और फिर वकसर में आकर रहने लगे। इसके बाद ये औरंगजेब के मंत्री फाजिल अली के आश्रित रहे।

मुरारमऊ दौलतपुर मे ५ मील दूर है। देवीसिंह वहाँ के शासक तथा मर्दन राव के प्रतिद्वन्द्वी थे, मर्दन राव को नीचा दिखाने के लिए उन्होने सुखदेवजी को अपने यहाँ बुलाकर उनका सम्मान किया। सुखदेवजी इनसे प्रसन्न रहे और इनके आग्रह से दौलतपुर ग्राम भी इन्होंने ग्रहण कर लिया और अपना परिवार कम्पिला से लाकर यही रहने लगे। यही इनकी मृत्यु भी हुई, परन्तु तिथि का निश्चय नही है।

अवसान

द्विवेदीजी ने आश्रयदाताओं के समय का विचार रखते हुए इनका समय १७२० अनुमान किया है। अपने फरवरी १९०५ (सरस्वती) के लेख में सुखदेव जी के 'अध्यात्म प्रकाश' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हुए कहा है: "मध्य-प्रदेश में रायगढ से २४ मील दूर पारसापाली निवासी, पडित मेदिनीप्रसाद ने यह पुस्तक हमारे पास भेजी है। सं० १९३५ मे काशी से गए हुए चार संन्यासियों

ने यह पुस्तक पारसापाली में पंडितजी के पिता को दी थी। इसका लिपिकाल सं० १८२३ है। इसे स्वामी गिरिजानन्द ने काशी में लिखा था। अनुमान होता है कि सं० १८२३ में सुखदेवजी का देहान्त हुए थोड़ा ही समय हुआ था। शायद उनके काशी जाने पर उन्हीं से लेकर उक्त पुस्तक की नकल स्वामीजी ने कर ली हो। अतः हमारा सिद्धान्त पुष्ट होता है कि सुखदेवजी का देहान्त हुए प्रायः १५० वर्ष से अधिक नहीं हुआ। यह एक छोटी सी वेदान्त सम्बन्धी पुस्तक है। गुरु-शिष्य सम्वाद शैली में वर्णन है। कविता अच्छी है। सुखदेवजी की कविता से मिलती-जुलती है। निर्माण काल और कारण नहीं प्राप्य हैं।"

उक्त कथन से ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि सुखदेवजी प्रायः १८०० वि० तक जीवित रहे। उनके १५० वर्ष पूर्व देहान्त होने की अवधि १९०५ ई० में निश्चित करने का यही अर्थ है और यह कथन प्रमाणित भी किया जा सकता है।

हम कह चुके हैं कि भगवन्त राय खीची की मृत्यु सं० १९९७ वि० में, युद्ध-क्षेत्र में हुई। सुखदेवजी के शिष्य शम्भुनाथ, असोथर निवासी ने इस युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया है :

"आजु चतुरंग महाराज सैन साजत भो
घौंसा की धुकार धूरि परि मुँह माही के।
भय के अजीरन ते जीरन उजीर भये
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के।
बीर खेत बीर बरछी लै बिरझानो इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।
भूप भगवंत सब ग्वाही हैं खलक बीच
स्याही लाई बदन तमाम बादसाही के॥

(शि० सि० स०, पृष्ठ ३३४)

इस युद्ध में गत हो जाने के बाद खीची के अनेक प्रशंसकों ने उसकी अक्षय कीर्ति का वर्णन किया। सुखदेवजी भी इनमें से एक थे। 'सरोज' में यह छन्द दिया हुआ है :

भानु प्रभा बिन जैसे सरोज सरोज बिना गति ज्यों सरसी की।
ज्यों रजनीस बिना निसि को रजनीस बिना निसि लागत फीकी।
द्यौहरा ज्यों बिन देव हरा बिन ज्यों छतिया औ तिया बिन पी की।
त्यों भुवकंत बिना भगवंत लगै सब अन्तरबेद न नीकी॥२॥

(शि० सि० स०, पृ० ३२४)

इससे यह विश्वास होता है कि खीची की मृत्यु के समय सुखदेव जी विद्यमान

"पद्मनाभ तो शुक्ल थे पर उनके पुत्र ईश्वरजी मिश्र कैसे हुए ? भारद्वाज गोत्री मिश्र तो कान्यकुब्जो मे नही सुने जाते है। इस शंका का समाधान करने के लिए हमने कुछ कान्यकुब्ज वशावलियाँ टटोली तो एकाध में हमें यह लिखा मिला कि कुछ भारद्वाज गोत्री शुक्ल ऐसे भी थे जिनको लोग मिश्र भी कहते थे। यथा—

"शिवमणि के तीन पुत्र १. दिनकर २. महंगू ३. पटोरे। दिनकर चौक्षा के शुक्ल कहाए, महगू और पटोरे को कोई शुक्ल कहता था और कोई मिश्र इससे ये दोनो शुक्ल मिश्र कहाए और चौसा मे रहे।"

कान्यकुब्ज वशावली (भारद्वाज गोत्र वर्णन) न० कि० प्रे० से प्रकाशित, पृष्ठ १२६।

इस प्रकार शुक्ल-पूर्वजो से इस मिश्र-वश का उद्‌भव स्पष्ट हो जाता है।

प्रौढ़ावस्था मे सुखदेवजी ने काशी मे जाकर अध्ययन किया और सस्कृत, तंत्र और साहित्य मे निपुणता प्राप्त की। इनके आश्रयदाताओं का उल्लेख हो चुका है। सबसे पहले ये असोथर के भगवन्तराय खीची के यहाँ गए परन्तु उनसे रुष्ट होकर दौलतपुर से दो मील दूर, गंगा के किनारे बकसर मे रहने लगे। डौडियाखेरे के राव मर्दनसिंह ने यही आकर इनको अपना गुरु बनाया। उसने भी इनकी सिद्धि की परीक्षा लेनी चाही परन्तु उसे इन्होंने क्षमा कर दिया। किन्तु अन्त में ये यहाँ से भी असन्तुष्ट हुए और फिर बकसर में आकर रहने लगे। इसके बाद मे औरगजेब के मंत्री फाजिल अली के आश्रित रहे।

मुरारमऊ दौलतपुर से ५ मील दूर है। देवीसिंह यहाँ के शासक तथा मर्दन राव के प्रतिद्वन्द्वी थे, मर्दन राव को नीचा दिखाने के लिए उन्होंने सुखदेवजी को अपने यहाँ बुलाकर उनका सम्मान किया। सुखदेवजी इनसे प्रसन्न रहे और इनके आग्रह से दौलतपुर ग्राम भी इन्होंने ग्रहण कर लिया और अपना परिवार कम्पिला से लाकर यही रहने लगे। यही इनकी मृत्यु भी हुई, परन्तु तिथि का निश्चय नही है।

अवसान

द्विवेदीजी ने आश्रयदाताओं के समय का विचार रखते हुए इनका समय १७२० अनुमान किया है। अपने फरवरी १९०५ (सरस्वती) के ले
जी के 'अध्यात्म प्रकाश' नामक ग्रंथ का उल्लेख करते हुए कहा
में रायगढ़ से २४ मील दूर पारसापाली निवासी, पंडित म.
पुस्तक हमारे पास भेजी है। सं० १९३५ में काशी मे गए

ने यह पुस्तक पारसापाली में पंडितजी के पिता को दी थी। इसका लिपिकाल सं० १८२३ है। इसे स्वामी गिरिजानन्द ने काशी में लिखा था। अनुमान होता है कि सं० १८२३ में सुखदेवजी का देहान्त हुए थोड़ा ही समय हुआ था। शायद उनके काशी जाने पर उन्हीं से लेकर उक्त पुस्तक की नकल स्वामीजी ने कर ली हो। अतः हमारा सिद्धान्त पुष्ट होता है कि सुखदेवजी का देहान्त हुए प्रायः १५० वर्ष से अधिक नही हुआ। यह एक छोटी सी वेदान्त सम्बन्धी पुस्तक है। गुरु-शिष्य सम्वाद शैली मे वर्णन है। कविता अच्छी है। सुखदेवजी की कविता से मिलती-जुलती है। निर्माण काल और कारण नहीं प्राप्य हैं।"

उक्त कथन से ऐसा निष्कर्ष निकलता है कि सुखदेवजी प्रायः १८०० वि० तक जीवित रहे। उनके १५० वर्ष पूर्व देहान्त होने की अवधि १९०५ ई० मे निश्चित करने का यही अर्थ है और यह कथन प्रमाणित भी किया जा सकता है।

हम कह चुके हैं कि भगवन्त राय खीची की मृत्यु सं० १९९७ वि० में, युद्ध-क्षेत्र मे हुई। सुखदेवजी के शिष्य शम्भुनाथ, असोथर निवासी ने इस युद्ध का वर्णन इस प्रकार किया है :

"आजु चतुरंग महाराज सैन साजत भो
धौंसा की धुकार धूरि परि मुंह माही के।
भय के अजीरन ते जीरन उजीर भये
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के।
बीर खेत बीर बरछी लै बिरझानो इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।
भूप भगवंत सब ग्वाही हैं खलक बीच
स्याही लाई बदन तमाम बादसाही के॥

(शि० सिं० स०, पृष्ठ ३३४)

इस युद्ध में गत हो जाने के बाद खीची के अनेक प्रशंसकों ने उसकी अक्षय कीर्ति का वर्णन किया। सुखदेवजी भी इनमे से एक थे। 'सरोज' मे यह छन्द दिया हुआ है :

भानु प्रभा बिन जैसे सरोज सरोज बिना गति ज्यों सरसी की।
ज्यों रजनीस बिना निसि को रजनीस बिना निसि लागत फीकी।
द्यौहरा ज्यों बिन देव हरा बिन ज्यों छतिया औ तिया बिन पी की।
त्यों भुवकंत बिना भगवंत लगे सब अन्तरबेद न नीकी॥२॥

(शि० सिं० स०, पृ० ३२४)

इससे यह विश्वास होता है कि खीची की मृत्यु के समय सुखदेव जी विद्यमान

थे। इनके अन्य आश्रयदाताओं का समय सं० १८०० तक हम पहले ही सिद्ध कर चुके है अतः सुखदेव जी का सं० १८०० तक वर्तमान रहना कोई असम्भव घटना नहीं है।

सुखदेव जी गम्भीर विद्वान् तथा सत्कवि थे। साथ ही वे एक सिद्ध महात्मा भी थे। पारिवारिक बन्धनों की बाधा इनके लिए नगण्य हो गई थी और ये विरक्तवत् गंगा-सेवन करते थे। अतः इनका जीवन-काल यदि १६९० से १८०० वि० तक, लगभग १०० वर्ष, हो तो कोई असम्भव बात नही है। वास्तव में सुखदेव जी भाषा-काव्य के गौरव तथा अवध प्रान्त के श्रेष्ठ आचार्यों में थे।

सुखदेव जी के अनेक शिष्यों में शंभुनाथ बन्दीजन (१७९८ विद्यमान) तथा शम्भुनाथ त्रिपाठी (१८०९ वि०) उल्लेखनीय हैं। इनके ग्रंथ क्रमशः राम-विलास-रामायण तथा बैताल-पचीसी हैं। जयदेव नाम के इनके एक अन्य शिष्य फाजिल अली के आश्रित थे।

सुखदेव जी के प्रपौत्र शीतला दीन भी सत्कवि थे और उन्होंने 'राधा भोग विलास' नामक ग्रंथ लिखा था परन्तु वह अप्राप्य है।

ग्रंथ :

द्विवेदी जी ने सुखदेव जी के प्रमुख चार ग्रंथों का उल्लेख किया है :

१. रसार्णव (नायिका-भेद ग्रंथ) राव मर्दनसिंह को समर्पित
२. वृत्त-विचार (पिंगल ग्रंथ) हिम्मत सिंह, अमेठी-नरेश को समर्पित
३. शृंगार लता, देवीसिंह (मुरार मऊ) के लिए निर्मित, अप्राप्य
४. फाजिल अली 'प्रकाश (काव्यांग'निरूपण) नवाब फाजिल अली के लिए रचित

इनके अतिरिक्त छन्दोविचार पिंगल तथा दशरथ राय नामक दो ग्रंथों का उल्लेख करते हुए उन्होंने इन्हे सन्दिग्ध ठहराया है। अध्यात्म प्रकाश की प्राप्ति बाद मे स्वीकृत हुई है।

इस प्रकार कुल सात ग्रथों का उल्लेख द्विवेदी जी ने अपने सरस्वती के लेखों मे किया है। सरोजकार ने इनमें से शृंगार-लता को छोड़कर शेष छै ग्रंथों का उल्लेख किया है। ग्रियर्सन ने केवल रसार्णव का ही उल्लेख किया है। मिश्रबन्धु-विनोद मे द्विवेदी जी के सात ग्रथो के अतिरिक्त एक 'पिंगल' का उल्लेख और है।

उक्त ग्रंथों में से दो के विषय में द्विवेदी जी को कुछ भ्रम था जिसका निवारण हम यहा पर कर देना आवश्यक समझते हैं।

रसार्णव का समर्पण, राव मर्दनसिंह को किया गया, इस विषय में मतभेद नहीं है। फाजिल-अली-प्रकाश-नवाब फाजिल अली को समर्पित है इसे भी सब इतिहासकारों ने स्वीकार किया है, ग्रंथ से भी यह बात स्पष्ट है। दशरथ राय नामक ग्रंथ देखा नहीं गया और शृंगार-लता भी अप्राप्य है यद्यपि सभी ने इसका देवी सिंह के लिए निर्माण होना लिखा है। अध्यात्म-प्रकाश एक अध्यात्म सम्बन्धी ग्रंथ है और किसी को समर्पित नहीं है, यह भी ठीक है।[1] पिंगल नामक ग्रंथ का उल्लेख केवल 'मिश्रबन्धु विनोद' में मिलता है जिसका आधार १९०३ की खोज रिपोर्ट है; ग्रंथ देखा नहीं गया। अब दो ग्रंथ शेष रहते हैं। १. वृत्त-विचार और २. छन्द-विचार।

वृत्त-विचार को द्विवेदी जी ने हिम्मत सिंह को समर्पित बताया है। उनका कथन है : "ग्रियर्सन और सरोजकार के अनुसार उन्होंने अर्जुन सिंह के पुत्र राज सिंह, गौड़-नरेश के लिए काव्य रचना की और वहीं कविराज की पदवी पाई, किन्तु सुखदेव जी के वंशजों का कथन है कि वे कभी गौड गए ही नहीं। 'वृत्त-विचार' के आरम्भ में अमेठी-नरेश हिम्मत सिंह को आशीर्वाद दिया गया है 'सुखदेव सदाशिव मुदितमन हिम्मत सिंह नरिन्द कहं'। तथा फाजिल अली प्रकाश में उनके कविराज की पदवी प्राप्त करने का उल्लेख है :

"अलह यार खां भुजबली सुमति सूर सिरताज।
जिन्हें दियो कविराज पद बड़े गरीब निवाज॥"

ग्रियर्सन और सरोजकार ने इनका 'छन्दोविचार पिंगल' ग्रंथ बतलाया है किंतु वह शायद किसी दूसरे सुखदेव का है।" (सरस्वती, अक्टोबर १९०४)

इस विषय में हमे यही कहना है कि सरोजकार ने स्वयं इस ग्रंथ के सम्बंध में भ्रामक उल्लेख किया है। परिचय-अश मे तो कहा गया है कि 'वृत्त-विचार', राजसिंह, गौड़-नरेश अर्जुन सिंह के पुत्र के लिए निर्मित (पिंगल ग्रंथ) है, इन्ही राजसिंह द्वारा इनको कविराज की पदवी मिली। परन्तु काव्य-उद्धरण देते हुए जिस छप्पय को उद्धृत किया गया है उसमें निश्चयपूर्वक द्विवेदीजी द्वारा उद्धृत उक्त अन्तिम पंक्ति विद्यमान है, जिसमें अमेठी-नरेश हिम्मतसिंह का उल्लेख है। वास्तव में यह छप्पय 'वृत्त विचार' नामक ग्रंथ में है ही नहीं। वृत्त-विचार स्पष्टतया 'राजसिंह अरजुन तनय गौर गरीब नेवाज' के लिए निर्मित हुआ है, जिन्होंने 'दियो साज बहुतै कछू कियो जिनै कविराज"। इस प्रकार इनका गौड

---

१. संगीत-राग-कल्पद्रुम, द्वितीय खण्ड, स्वर्गीय कृष्णानन्द राग सागर विरचित। पृष्ठ ३४७-३६२

अस्तित्व को रजकण से भी अकिंचन स्वीकार करनेवाले महात्मा तुलसी अथवा *श्याम-रंग में आपाद-मस्तक-निमज्जित, अनुराग की अरुणिमा से अनुरंजित*, स्नेहमयी मीरा के उद्‌गारों से आगे कभी कोई दूसरा कवि निकल भी सकेगा ?

किन्तु परिवर्तन-प्रिय मानव-प्रकृति इस भाव-विभोरता को भी अधिक समय तक सहन न कर सकी । तल्लीनता के इस चढ़े हुए तार को, इस खिंचे हुए स्वर को, उतार की ओर लाने के लिए उसका मन चंचल हो उठा । इस सूक्ष्मता से वह स्थूलता की ओर झुकी; उसे वाह्य-सौन्दर्य ने आकर्षित किया । युग के बदले हुए मूल्यों ने इस प्रवृत्ति का समर्थन किया । वह भाव-परिष्कार से भापा-सस्कार मे प्रवृत्त हुई । इस वाह्यालंकरण की प्रेरणा से साहित्य-क्षेत्र मे रीति-शृंगार काल का जन्म हुआ ।

विकास-क्रम की दृष्टि से यह घटना बिल्कुल स्वाभाविक है, 'वस्तु' और 'रूप', 'भाव' और 'कला' दोनों दृष्टियों से । नैसर्गिक स्वच्छंद भाव-प्रवाह के उपरान्त रूप-प्रसाधन एवं वाह्यालंकरण की प्रवृत्ति, विश्व के किसी भी साहित्य मे लक्ष्य की जा सकती है । भक्ति की शृंगारिक परिणति भी इस सहज नियम का अपवाद नही । सामाजिक एव ऐतिहासिक कारणों से देव-विषयक रति, मानव-रति मे पर्यवसित हुई और वैष्णव भक्ति-साहित्य का 'मधुर रस', 'शृंगार रस' मे परिणत हुआ । अतः रीति-शृंगारकाल को भक्ति काल का विकसित रूप ही स्वीकार किया जा सकता है ।

हिन्दी साहित्य के आचार्यो तथा इतिहास-लेखकों ने इस युग को 'कला-काल', 'अलंकृत-काल', 'रीति-काल' तथा शृंगार-काल' आदि अनेक नामों से अभिहित किया है । 'अलंकृत काल' और 'कला काल' संज्ञायें आदरणीय मिश्र-बन्धुओं की दी हुई हैं ।[१] 'अलंकृत-काल' कहने मे मिश्रबन्धुओं के सामान्यतः दो प्रधान तर्क थे । एक तो 'इस काल का सर्व प्रधान गुण यह है कि इसके कवियों ने भापा को अलकृत करने मे पूरा बल लगाया'[२] अतः इस युग को अलंकृत-काल कहना अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता । दूसरे इस युग में सिद्धान्त-ग्रंथों के प्रणयन की प्रवृत्ति प्रधान थी और "संस्कृत के आचार्य सारे दशांग साहित्य को 'जिसमें सभी काव्य सिद्धान्त आ जाते हैं' अलंकार कहकर ही मानते हैं"[३] मिश्रबन्धुओं के उपर्युक्त दोनो तर्क बहुत कुछ सत्य होने पर भी पूर्णतः

१. हिन्दी सा०.का इति० 'मिश्रबन्धु', पृष्ठ १८७
२. *मिश्रबन्धु विनोद, भाग २*, पृष्ठ ३८७
३. हि० सा० का इति०, मिश्रबंधु, पृष्ठ १८७

उचित नहीं माने जा सकते; केवल भाषागत प्रवृत्ति के आधार पर पूरे युग का नामकरण सर्वथा समीचीन नहीं है। इसके अतिरिक्त इस युग के सभी कवियों में भाषालंकरण की ही प्रवृत्ति प्रधान थी, यह भी नहीं कहा जा सकता। कम-से-कम इस युग के स्वच्छन्दतावादी कवियों का भाषा-सौष्ठव, कोरा अलंकरण नहीं है। उनमें अनुभूतिसापेक्ष्य सूक्ष्मता, सरलता तथा लाक्षणिकता ही प्रधान है। अतः इस नाम में अव्याप्ति दोष भी है। मिश्रबन्धुओं का दूसरा तर्क भी विचार करने पर उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। संस्कृत के आचार्यों ने भले ही दशांग-काव्य के लिये 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया हो, हिन्दी में अलंकार शब्द, सीमित अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है। इससे केवल काव्य के अलंकरण मात्र का अर्थ ग्रहण किया गया है। 'अलंकार' शब्द अपनी पूरी व्याप्ति में भी काव्य की अन्तरात्मा या 'वस्तु-तत्व' का संस्पर्श नहीं कर पाता। यह, सब मिलाकर काव्य-शैली का ही द्योतन करता है, काव्य विषय का नहीं। 'कला-काल' इस अलंकरण की प्रवृत्ति को ही यूरोपीय अर्थों में स्वीकार करने का परिणाम है।[1] अतः उसे स्वीकार करने में भी वे सभी आपत्तियाँ की जा सकती हैं जो अलंकृत-काल मानने में।

'रीतिकाल' आचार्य शुक्ल की दी हुई संज्ञा है। यह नाम स्वीकार करने में प्रधानतः दो आपत्तियाँ हैं। एक तो इस युग के सभी कवि रीतिबद्ध नहीं थे; रीति-सापेक्ष्य भी नहीं। इसीलिए आचार्य शुक्ल को अनेक रससिद्ध कवियों को फुटकल खाते में डालना पड़ा है। दूसरे 'रीति' इस युग के कवियों का साध्य नहीं था। पंडित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के शब्दों में "विचार करने पर रीति-ग्रंथ-प्रणेता अधिकतर आचार्य नहीं सिद्ध होते। इन्होंने 'रीति' का पल्ला सहारे के लिए पकड़ा, कहना यह चाहते थे शृंगार ही।"[२] स्वयं शुक्ल जी ने भी हिंदी के रीतिकारों को साहित्य-शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ माना है। ऐसी स्थिति में 'रीतिकाल' संज्ञा भी सर्वथा उचित नहीं मानी जा सकती।

हिन्दी के कुछ साहित्य-मर्मज्ञों ने इस युग को 'उत्तर-मध्यकाल' भी कहा है। उनकी दृष्टि में 'भक्तिकाल', 'पूर्व मध्यकाल' और 'रीतिकाल', 'उत्तर मध्यकाल' है। इस प्रकार के काल-विभाजन में औचित्य का कौन सा आधार लिया गया है, समझ में नहीं आता। अविच्छिन्न काल-प्रवाह को 'आदि', 'मध्य' जैसे टुकड़ों में बांटकर नहीं देखा जा सकता; विशेषतः साहित्य

१. हि० सा० का इतिहास, मिश्रबंधु, पृष्ठ १८७
२ 'बिहारी', पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ९

रूप से किसी काल-विशेष के साहित्य-निर्माण का पथ-निर्देशन करता है। इनका परोक्ष प्रभाव स्वतः साहित्य-धारा को दिशा-विशेष की ओर प्रवाहित कर देता है। वास्तव में यही युग-विशेष के प्रमुख पोषक उपादान हैं। संक्षेप में हम शृंगारकाल के अवधवासी कवियों के काव्य-रचना सम्बन्धी, उक्त पोषक उपादानों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक समझते हैं।

१. समाज :

ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग हाल ने अपनी प्राकृत-सतसई का निर्माण किया था। इस ग्रंथ मे आभीरों के दैनिक-जीवन का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। अनेक प्रकार के माधुर्य-पूर्ण दृश्य चित्रित किये गये हैं। प्राकृत की इस रचना का प्रभाव बहुत कुछ गोवर्धनाचार्य विरचित आर्या-सप्तशती पर भी पड़ा था। आर्या-सप्तशती शृंगार-प्रधान काव्य-ग्रंथ है, अतः इसमे दैनिक-जीवन के साथ शृंगार का सुन्दर समावेश मिलता है। यह समय बौद्ध धर्म के पतन का था। तथागत का सात्विक धर्म विकार-ग्रस्त हो रहा था। धर्म और तपस्या की आड़ मे भिक्षु-वर्ग अपनी ऐहिक लालसा तृप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। संघ व्यभिचार के अड्डे बन रहे थे। अलंकार-ग्रंथों में भिक्षुनियों अथवा संन्यासिनियों को दूती कार्य दिया जाना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उस युग में यह वर्ग, केवल धार्मिक क्षेत्र को ही नही वरन् सामाजिक-जीवन को भी भ्रष्ट कर रहा था। भक्ति मे तन्त्र-मंत्र का समावेश हो जाने के कारण, परकीय भाव का भी प्रचलन हो गया था और नैतिकता के बन्धन शिथिल हो रहे थे। इन परिस्थितियों का प्रभाव भागवत-धर्म पर भी पड़ा था, अतः उस धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के भक्तगण, किसी न किसी सीमा तक, इस प्रवृत्ति से प्रभावित हो गए थे। ईसा की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में आकर वल्लभ-सम्प्रदाय पर भी यह प्रभाव पड़ा; उधर तत्कालीन समाज की दशा भी बहुत कुछ उच्छृंखलतापूर्ण थी। सूर के समय की दशा का कुछ परिचय इतिहासकार डा० ईश्वरी प्रसाद के इस कथन से मिलता है : तत्कालीन मुगल शासन विलासितापूर्ण था। सम्राटों के समान उनके आश्रित सरदार भी अपव्ययी तथा विलासी थे; अधीन हिन्दू राजे भी उन्ही का अनुकरण करते थे। मद्यपान एक बहुत साधारण दुर्गुण था, कितने ही व्यक्ति इसके कारण प्राणों से भी हाथ धो बैठते थे। बहु विवाह एक प्रचलित रीति थी। प्रेमिकाओं और वेश्याओं पर अपार धन व्यय किया जाता था। जुआ भी प्रचलित था। एकत्र किया हुआ धन लोग देश से बाहर नहीं ले जा सकते थे। अतः उसे व्यक्तिगत सुख के

के क्षेत्र में। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, साहित्य के क्षेत्र में प्रवृत्तिगत परिवर्तन, परिमार्जन एवं उन्नयन होता है, प्रवृत्तियों के टुकड़े नहीं होते। यदि विचार-गत शैथिल्य को मध्ययुग की विशेषता मानकर उसका आरोप हिन्दी की 'भक्ति' और 'रीति' पर करना चाहे तो भी यह आधार उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। चिंतन और दर्शन के क्षेत्र में तो इस तर्क की मान्यता समझ में आ सकती है। किन्तु काव्य-क्षेत्र में तो प्रवृत्ति एवं अनुभूति की सरसता पर ही दृष्टि रखनी होगी। तथ्य तो यह है कि साहित्य के इतिहासों में विभाजन और नामकरण का सर्वोत्कृष्ट ढंग, वर्ण्य-विषय की व्याप्ति के अनुसंधान से सबद्ध है।[१] इस दृष्टि से इस युग की सर्वथा उचित और मान्य संज्ञा 'शृंगारकाल' ही होनी चाहिए। क्योंकि इस युग के कवियों का लक्ष्य 'शृंगार' ही था। 'रीति-बद्ध', 'रीतिमुक्त' तथा रीतिसापेक्ष्य, सभी प्रकार के कवियों का काव्य-विषय 'शृंगार' ही है। 'अलंकार', 'रस', 'नायिका-भेद', 'ऋतुवर्णन' आदि सभी में उदाहरण-रूप में प्रस्तुत छंदों में शृंगार का प्राधान्य है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य शुक्ल ने भी कहा है "इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है।"[२] पं० विश्वनाथ प्रसाद जी ने तो स्पष्टतः घोषित किया है "इस प्रकार चाहे जिस दृष्टि से देखें 'अलंकृत-काल' और रीति-काल नाम व्याप्ति के बोधक नहीं प्रतीत होते। उन्हें हटाने की आवश्यकता है और उनके स्थान पर 'शृंगारकाल' की स्पष्ट अपेक्षा जान पड़ती है।"[३]

इस युग के अवध के प्रसिद्ध और प्रमुख कवि भी मुख्यतः शृंगारिक ही थे। शास्त्रीय-पद्धति पर रीतिबद्ध रचना करने वाले सुखदेव मिश्र, बेनी प्रवीन, भिखारीदास, बेनी भट्ट', रसलीन आदि का वर्ण्य-विषय शृंगार ही था। दूसरी ओर अमेठी-नरेश गुरुदत्त सिंह 'भूपति' तथा अयोध्या-नरेश 'द्विजदेव', जो रीति-बद्ध नहीं थे, उनका काव्य भी मुख्यतः शृंगारिक है। अतः इस युग के अवध के कवियों को दृष्टि में रखकर विचार करने पर भी यह काल 'शृंगारकाल' ही कहा जायगा।

पोषक उपादान :

समाज, साहित्य और धर्म की अविच्छिन्न परम्परा का प्रभाव, सम्मिलित

---

१. 'बिहारी' पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ५, भूमिका
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६८
३. 'बिहारी' पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० ११।

रूप से किसी काल-विशेष के साहित्य-निर्माण का पथ-निर्देशन करता है। इनका परोक्ष प्रभाव स्वतः साहित्य-धारा को दिशा-विशेष की ओर प्रवाहित कर देता है। वास्तव में यही युग-विशेष के प्रमुख पोषक उपादान हैं। संक्षेप में हम शृंगारकाल के ब्रजवासी कवियों के काव्य-रचना सम्बन्धी, उक्त पोषक उपादानों पर एक दृष्टि डाल लेना आवश्यक समझते हैं।

१. समाज :

ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग हाल ने अपनी प्राकृत-सतसई का निर्माण किया था। इस ग्रंथ मे आभीरों के दैनिक-जीवन का सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। अनेक प्रकार के माधुर्य-पूर्ण दृश्य चित्रित किये गये हैं। प्राकृत की इस रचना का प्रभाव बहुत कुछ गोवर्धनाचार्य विरचित आर्या-सप्तशती पर भी पड़ा था। आर्या-सप्तशती शृंगार-प्रधान काव्य-ग्रंथ है, अतः इसमे दैनिक-जीवन के साथ शृंगार का सुन्दर समावेश मिलता है। यह समय बौद्ध धर्म के पतन का था। तथागत का सात्विक धर्म विकार-ग्रस्त हो रहा था। धर्म और तपस्या की आड़ मे भिक्षु-वर्ग अपनी ऐहिक लालसा तृप्त करने का प्रयत्न कर रहा था। संघ व्यभिचार के अड्डे बन रहे थे। अलंकार-ग्रंथों मे भिक्षुनियों अथवा संन्यासिनियों को दूती कार्य दिया जाना इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि उस युग में यह वर्ग, केवल धार्मिक क्षेत्र को ही नहीं वरन् सामाजिक-जीवन को भी भ्रष्ट कर रहा था। भक्ति में तन्त्र-मंत्र का समावेश हो जाने के कारण, परकीय भाव का भी प्रचलन हो गया था और नैतिकता के बन्धन शिथिल हो रहे थे। इन परिस्थितियों का प्रभाव भागवत-धर्म पर भी पड़ा था, अतः उस धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो के भक्तगण, किसी न किसी सीमा तक, इस प्रवृत्ति से प्रभावित हो गए थे। ईसा की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी मे आकर वल्लभ-सम्प्रदाय पर भी यह प्रभाव पड़ा; उधर तत्कालीन समाज की दशा भी बहुत कुछ उच्छृंखलतापूर्ण थी। सूर के समय की दशा का कुछ परिचय इतिहासकार डा० ईश्वरी प्रसाद के इस कथन से मिलता है : तत्कालीन मुगल शासन विलासितापूर्ण था। सम्राटों के समान उनके आश्रित सरदार भी अपव्ययी तथा विलासी थे; अधीन हिन्दू राजे भी उन्ही का अनुकरण करते थे। मद्यपान एक बहुत साधारण दुर्गुण था, कितने ही व्यक्ति इसके कारण प्राणों से भी हाथ धो बैठते थे। बहु विवाह एक प्रचलित रीति थी। प्रेमिकाओं और वेश्याओं पर अपार धन व्यय किया जाता था। जुआ भी प्रचलित था। एकत्र किया हुआ धन लोग देश से बाहर नहीं ले जा सकते थे। अतः उसे व्यक्तिगत सुख के

लिए व्यय कर देना ही उसका एक मात्र उपयोग था। औरंगजेब के समय में दशा और भी गिर गई थी। नैतिक बल क्षीण हो गया था। सरदारों की संतान अधिकतर स्त्रियों और हिजड़ों के बीच में लालित-पालित होती थी और उनके सम्पूर्ण दुर्गुणों को अपनाती थी। शिक्षा आदि की ओर से प्रवृत्ति हट चली थी। विलासिता पराकाष्ठा तक पहुँच गई थी। खाद्य-सामग्री सस्ती थी। प्रायः लोगों को भोजन की चिन्ता नहीं सताती थी। थोड़े में निर्वाह हो जाता था।[1] स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थितियों में जनता केवल मनोरंजन, प्रेम आदि के नवीनतम साधनों को खोजकर अपना समय व्यतीत करे। कवि भी उक्त घटनाओं के वर्णन के अतिरिक्त और क्या करते ? वे व्यक्तिगत रूप से विलासी ही हों, ऐसा सबके लिए नहीं कहा जा सकता। कितने ही कवियों की सात्विक प्रवृत्ति, विलास-वर्णन के बीच से भी झलकती है, किन्तु समाज के इस पतन का प्रभाव तो उनके काव्य पर पड़ना अनिवार्य था ही, फलतः उनको ये विलासपूर्ण वर्णन करने पड़े और उनकी काव्य-धारा को बलात् इस मार्ग पर प्रवाहित होना पड़ा।

अवध की उर्वर भूमि में निवास करते हुए राजा-नवाबों में यह विलास-वृत्ति पराकाष्ठा को पहुँची हुई थी। उन्हें खा-पीकर मनोरंजन के ही साधनों की खोज रहती थी। बैसवारे की वीर-भूमि में निवास करता हुआ क्षत्रिय सामन्त भी अपने शान्त क्षणों में नृत्य-गीत का ही आश्रय ग्रहण करता था। यदि युद्ध का अवसर आ पड़ता तो जय-पराजय का निश्चय कन्यापहरण से भी होता था। नारी को सुसभ्य समाज भी उपभोग की ही वस्तु समझता था। यही कारण है कि सुखदेव मिश्र जैसे साधु-प्रकृति कवि ने भी, राजाश्रय के कारण, वासनात्मक सुन्दरता का वर्णन किया। वेनी प्रवीन, वेनीभट्ट जैसे कवि तो अवध के नवाबों के आश्रित राज-कवि थे ही। दासजी ने शृंगार-वर्णन को पराकाष्ठा पर पहुँचाया अवश्य किन्तु उनके भक्ति-विषयक उद्गारों से उनके हृदय की वास्तविक श्रद्धा प्रकट होती है :

"क्यों लिखो राम को नाम हिए कहाँ कागद ऐसो पुनीत मैं पाऊँ।
आखर आछे अनूठे तिहारे क्यों जूठी जबान सों हों रट लाऊँ।
दास जू पावनता भरे पुंज हौ मोह भरे हियरे क्यो बसाऊँ।
काम है मेरो तमाम यहै सब जाम गुलाम तिहारो कहाऊँ।

(का० नि०, पृ० २४०)

---

१. ए हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया, डा० ईश्वरी प्रसाद, अध्याय १७

कौन कह सकता है कि उक्त छन्द में कवि ने अपने उपास्य देव के सम्मुख अपना हृदय खोलकर रख देने का प्रयत्न नहीं किया है ?

मनोरंजन-वृत्ति का एक रूप, साहित्य में हास्य-विनोद सम्बन्धी काव्य में भी प्रतिफलित हुआ। दरबारी-संस्कृति का प्रभाव इस पर भी प्रत्यक्ष है। केवल कुछ परम्परागत गिने चुने आलम्बन लेकर कवियों ने कुछ वासना अथवा ईर्ष्या से प्रेरित हास्य की सृष्टि की है।

एक उदाहरण लीजिए : कविवर को कहीं पेड़े मिले। किसी पुत्र ने पिता का श्राद्ध किया था। भट्ट जी भी पहुँच गए, उन्हें भी उसने दो चार प्रदान कर दिए। सम्भवतः पेड़े कुछ छोटे थे और रखे रहने के कारण कुछ बिगड़ भी गए होंगे। कविराज इसे सहन न कर सके कि सड़े पेड़े देकर उनका अपमान किया जाय। इसी ईर्ष्या की प्रेरणा से उन्होने पेड़ा-प्रदाता का नाम अमर कर दिया :

चीटी न चाटत मूसे न सूंघत, बास ते माछी न आवत नेरे।
आनि धरे जबतें घर में, तब तें रहै हैजा परोसिन घेरे।
माटिहुँ में कछु स्वाद मिलै, इन्हैं खात सो ढूढत हर्रे बहेरे।
चौंकि परयो पितु लोक में बाप, सुपूत के देखि सराध के पेरे॥

(वेनीभट्ट, स्फुटकाव्य)[१]

सूम का नाम-माहात्म्य बेनीभट्ट ने इस प्रकार वर्णन किया है :

भोर नाम लीन्हे मिलै भोजन न साम लग,
साम नाम लीन्हें सोयवेहू में जलल है।
तीसरे पहर नाम लेत कोऊ साहजी को,
और कहा कहिए वियारू में खलल है।
हीरा की कनी है कीधौं उदित फनी है नाम,
कीधौं हालाहल कीधौं चील्ह को पलल है।
घर घर नगर नगर गांव गांव याते,
नाम को न लेत कोऊ कोने की अलख है।

(वेनीभट्ट, स्फुट काव्य)[१]

प्रभुओं का दान ग्रहण करने की प्रवृत्ति कवियों में इतनी प्रबल हो उठी थी और वैभव-विलास, तड़क-भड़क देखने के वे इतने आदी हो गए थे कि देवताओं की भी कंजूसी और उनकी दरिद्र वेश-भूषा का उपहास करने लगे। भगवान् शंकर

१. हस्त लिखित, व्रजराज पुस्तकालय, गंधौली, सीतापुर

इसके लिए उपयुक्त आलम्बन प्रमाणित हुए। समाज-सुधार की प्रेरणा से लिखे हुए काव्य के मूल मे भी उनकी ईर्ष्या की प्रवृत्ति ही कुछ अधिक झलकती है।

राजनैतिक परिस्थितियों की प्रेरणा से आश्रयदाताओं को समय-समय पर आपस मे युद्ध भी करने पड जाते थे। इन युद्धों का वर्णन भी कवियों ने किया। युद्ध-वीरता का यह वर्णन अतिरजना से पूर्ण होकर कहीं-कही उपहासास्पद हो उठा है, यद्यपि वीर-काव्य की क्षीण धारा का आभास इससे मिल जाता है। सुखदेव जी हिम्मत सिंह का शौर्य-वर्णन इस प्रकार करते हैं :

"झुकि चलत उद्दड, मद गलित मे तुड,
उर डरत नवखंड, घन बजत नीसान।
दल मलत रिपु देश, सटपटत अति सेस,
चक चकित अमरेश, रुकि रहत रज भान।
गज धकन धुकि होत, गिरि गरुअ अरि गोत,
प्रसि करत उद्दोत, कहि अहित अवनीस।
को सकत जुरि जंग, दल साजि चतुरंग,
जब चढ़त रन रग, हिम्मत धराधीस।"

(छं० वि०, ह० लि०, छं०६३)

उक्त छन्द मे यद्यपि शेषनाग, इन्द्र, सूर्य का हिम्मत सिंह की सेना द्वारा प्रभावित होना उपहासास्पद तथा अत्युक्ति-पूर्ण है तथापि वीरगाथा-कालीन परम्परा का प्रदर्शन करने में ऐसा काव्य सफल कहा जायगा।

२. साहित्य :

भरत का नाटयशास्त्र रसवादियों का प्रमुख ग्रंथ है। नाटय-साहित्य तथा काव्य में रस-चर्चा का प्रमुख आधार यही ग्रंथ रहा है। उधर अलंकार-शास्त्र भी फुटकर पदो द्वारा अलंकार-चर्चा करता रहा। ई० सन् १ मे इसका प्रचलन हो गया था। पहले तो ये दोनो सम्प्रदाय अलग-अलग चलते रहे। बाद में ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनंदवर्धनाचार्य ने इनका एक में सन्निवेश कर दिया। आगे आने वाले सस्कृत के कवि इस-प्रवृत्ति से प्रभावित हुए। माघ, भारवि, श्रीहर्ष, कालिदास आदि ने रसात्मकता और अलंकरण, दोनों ओर समान ध्यान दिया। एक ही काव्य मे रस का सांगोपांग वर्णन तथा अलकरण, दोनों ही प्राप्त होते हैं। रस के प्रदर्शन में केलिक्रीड़ा का अतिरेक-पूर्ण वर्णन प्राप्त होता है। १२-१४वीं शताब्दी में समाज, नैतिक दृष्टि से आदर्शच्युत हो रहा था। अपने उपास्य देव, शंकर-पार्वती के भी घोर शृंगारिक चित्र अंकित करने में भक्त कवियों को

संकोच नहीं हुआ। इसी प्रकार जयदेव आदि कवियों ने राधाकृष्ण के शृंगारिक चित्र प्रस्तुत किए। सूरदास इनसे प्रभावित हुए हैं। अतः वैष्णव भक्ति पर शृंगारिकता का परोक्ष प्रभाव पड़ता गया। संस्कृत-साहित्य में स्तोत्रों की प्रचुरता भी इस शृंगार-लीला के विकास का एक कारण है। कवियों ने अपने उपास्य देवों के प्रति कितने ही आत्म-निवेदन-विषयक पद्य रच डाले। उनके रूप-सौंदर्य, केलि-क्रीड़ा आदि का विशद तथा मार्मिक वर्णन भी इनमें किया गया। शृंगार-लीला का वर्णन भी इनमें आया, और आगे, भागवत धर्म में समाविष्ट होकर यह केलिक्रीडा राधाकृष्ण पर आरोपित हो गई। यद्यपि उसका आध्यात्मिक अर्थ भी ग्रहण किया जाने लगा, फिर भी सामान्य-वृत्ति का व्यक्ति उसमें ऐन्द्रियता के ही दर्शन कर पाता था। मनोवैज्ञानिक आधार पर भी इसमें काम-भावना ही प्रधान मानी जा सकती है। "मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध हो रहा है कि मनुष्य के जितने विचार और व्यापार हैं उनके मूल में अहत्व एवं लिंगत्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से विद्यमान है।"[1]

संस्कृत कवियों ने रस-विवेचन में कामशास्त्र का आधार भी ग्रहण किया था। नायिका-भेद आदि का सांगोपांग विवेचन हमारे कवियों में इसी मूल से आया है, यद्यपि हमारे कवियों ने उसे अपनी आवश्यकतानुसार संक्षेप में ही अपनाया है। संस्कृत-काव्यकार, रस आदि के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, अन्य कवियों के पद्य, श्लोक आदि उद्धृत कर दिया करते थे। ब्रजभाषा कवियों ने इनके स्थान पर स्वयं अपने बनाए हुए छन्द रखने आरम्भ कर दिए, इस प्रकार लक्षण ग्रंथों की परम्परा प्रस्तुत हुई।

संस्कृत ग्रंथो के बन्धन में बंधने का एक कारण यह भी था कि १७वीं १८वीं शताब्दी का समय, संस्कृत, प्राकृत के पठन-पाठन का युग था। 'भाषा' को लोग हेय दृष्टि से देखते थे, फलतः उसमें काव्य-रचना की ओर भी उत्साह नहीं था। भाषा में रचना करने वाला कवि अपनी हीनता को पहले से ही स्वीकार कर लेता था। तुलसी ने भी इसी विश्वास से अपनी 'भाषा भनिति' को 'हँसिबे जोग' स्वीकार कर लिया था और केशव ने भी भाषा-काव्य लिखने के कारण अपने को 'मन्दमति शठ कवि' कहा। अस्तु; कहने का तात्पर्य यह है कि साहित्य-परम्परा का पथ-प्रदर्शन उस समय संस्कृत-काव्य ही कर रहा था और इसलिए तत्कालीन कवियों को इच्छा अथवा अनिच्छा के वश होकर उसी मार्ग

---

१. ब्रजभाषा साहित्य का नायिका-भेद, भूमिका, डा॰ रामप्रसाद त्रिपाठी, पृ॰ २

कलात्मक बन गई। मुसलमान अधिकारियों का प्रभाव भी इस पर कम नहीं पड़ा।[1]

बेनी प्रवीन की निम्नलिखित दिव्याभिसारिका के चित्रण में तत्कालीन मुस्लिम-संस्कृति के अनुरूप भाषा का उपयुक्त प्रयोग दृष्टिगत होता है :

"पगनि में कौस करि हौस चौस ही को चली,
पिय महबूब पै अजूब यह बात है।
घेरदार जामा पायजामा पै प्रवीन बेनी,
भर्तिहि सकामा बामा मुख अरुनात हैं।
केस कसि पगरी मे बबरी बनाय बाल,
मुगुल बचे लौ एक पेंचा सजे जात है।
बाधे बखतरी कांधे परी समसेर फरी,
लखि न परी हैं काहू सखिन सकात हैं।"

(नवरस तरंग, पृ० २६)

इस प्रकार ब्रजभाषा, साहित्य-क्षेत्र मे एक प्रौढ़ और सुस्थिर रूप धारण करके आ उपस्थित हुई थी और कवियो ने उसे पूर्ण रूप से अपना लिया था। अवध प्रान्त मे प्रयुक्त ब्रजभाषा मे अवधी का भी पर्याप्त मिश्रण हो गया था और उसने उसे साहित्यिकता और व्यापकता प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई थी। इसी साहित्यिक भाषा के दर्शन हमको १८ वी, १९ वी शताब्दी वि० में विद्यमान् अवध के कवियों की तत्कालीन रचनाओं मे होते हैं।

३. धर्म :

धर्म, भारतीय जीवन की नस-नस में भिदा हुआ है। जीवन का कोई क्षेत्र नही जिस पर धर्म का नियन्त्रण न हो। ऐसी परिस्थिति मे साहित्य पर इस

---

१. "The sweetness and melody of Braj Bhasa appealed powerfully to the nobles of the imperial court at Agra, and their contact proved highly beneficial to its growth. In the hands of Hindu officers who had learnt Persian, the langue lost much of its old crudity, and became sweet, chaste and artistic. No less was the influence exerted upon it by Muslim officers ········"

A History of Muslim Rule in India
I. Prasad — P. 778.

धर्म का प्रतिबिम्ब पड़ना स्वाभाविक ही है। युद्धकालीन अथवा विलासमय वातावरण में भी साहित्य पर इस धर्म का प्रभाव निरन्तर झलकता रहता है। प्राचीन परम्परा ने भारतीय व्यक्ति को धर्मावलम्बी बना दिया है। इस धर्म का अत्यन्त लोकप्रिय रूप "भक्ति" था, जिसने दक्षिण से आकर अन्य सम्पूर्ण पद्धतियों को पराजित कर दिया। पौराणिक अवतारों के आधार पर भक्तों ने अपने उपास्य के प्रति आत्म-निवेदन तथा आत्मार्पण करने का प्रयत्न किया। प्रभु की अनन्त लीलाओं का गान करते हुए उन्होंने अपनी रागात्मक वृत्तियों को उन पर केन्द्रित कर दिया। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार भक्तों ने विभिन्न प्रकार से अपने हृदयोद्‌गार, अपने इष्टदेव के सम्मुख व्यक्त किए। इसी के आधार पर अगणित प्रकार की उपासना-प्रणालियाँ भी उद्भूत हुई। भक्तों की दृष्टि भगवान् के परम प्रेममय रूप और उनकी मनोहारिणी लीलाओं पर केन्द्रित रही। "इसमें भक्त भगवान् को अपने प्रियतम रूप से ग्रहण करता है तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत् धाम को प्राप्त करता है। व्रज-गोपिकाओं मे प्रत्यक्ष दृष्ट इसी उत्तमा भक्ति का सुन्दर वर्णन" उपलब्ध होता है। "भगवत्प्रीति भगवान् की आनन्द-रूपा-ह्लादिनी शक्ति ही है।"[1] किन्तु इन भक्तों की अन्तर्दृष्टि तथा तल्लीनता उन साहित्यिकों को नहीं प्राप्त थी जो प्रधानतया भक्त न होकर अलंकार-शास्त्री थे।

"विघन विनासन है सदा गणपति को शुभ नाम।
लोक - लोक में धाम है लोक - लोक मे धाम॥" (भूपति सतसई)

गणपति की इस प्रकार वन्दना करके ग्रंथारम्भ करने वाले कवि को भक्त की उपाधि नही प्राप्त हो सकती। प्रत्यक्षतः गणेश का स्मरण करने के स्थान पर उसके हृदय में दोहे को अनुप्रासमय बनाने की इच्छा विशेष परिलक्षित होती है। ऐसे काव्यकारों के द्वारा भक्ति-तत्व की उपेक्षा स्वाभाविक ही थी; फलतः काव्य पर बाह्य-अलंकरण का प्रभाव बढ़ गया, यहाँ तक कि उपास्य देव केवल नायक रह गए और भक्ति का आध्यात्मिक भाव केवल ऐहिक विलास-वासना तक ही सीमित हो गया। गोपिकाओं के वृन्दावन-गमन में कुसुम-शर ही प्रधान बाधक हो गया। कुसुमावृत सरों के दर्शन ने स्मर-पीडा का उद्दीपन होने लगा।

"पाइ निकट बहु कुसुम सर करत कुसुम सर जोर।
अब वृन्दाबन जाइबो सखी कठिन नहिं थोर॥"
(भू० स०, दो० ३९)

---

१. भारतीय-दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ५३०-३१

फिर भी इतना कहा जा सकता है कि ये कवि, साहित्य-शास्त्री होते हुए भी भक्ति भाव से रहित नहीं थे। एक ओर शृंगार-शिरोमणि नन्दलाल को नायक का रूप देकर यदि उन्होंने मानवीय विलास-क्रीड़ा का वर्णन किया है, तो दूसरी ओर आत्म-तुष्टि के लिए उसी वर्णन को "राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो" भी मान लिया है। इस आत्मतोष में बहुत कुछ सत्य है। कवि आडम्बर द्वारा जनता को धोका नहीं दे रहा है:

"छैल छबीलो छितीशन में मुख की छबि छाया छपाकर छार है।
आपु गुनी गुन बूझै गुनीन के चारि पदारथ देत न वार है।
है करता करतार हूं को कवि वेनी उदारन हूं ते उदार है।
रे मन, तू भरमै न कहूं वह बांसुरी वारो बड़ो रिझवार है॥"
(रस-विलास, बेनी भट्ट, ह० लि०)

सासारिक लालसाओं में भटकते हुए मन के लिए इससे बढकर सान्त्वना क्या हो सकती है? अथवा, एक ओर नायक कृष्ण की विविध लीलाओं का वर्णन करने वाला कवि, दूसरी ओर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम, भगवती दुर्गा, पतितपावनी गंगा अथवा देवादि देव शंकर के सम्मुख अत्यन्त दीनभाव से आत्म-निवेदन करता हुआ दिखलाई पड़ता है।

"जानो न भक्ति न ज्ञान की शक्ति हौ दास अनाथ अनाथ के स्वामि जू।
माँगों इतौ वर दीन दयानिधि दीनता मेरी चितै भरौ हामि जू।
क्यों बिन नाम के नेह को ब्योर है अंतर्यामि निरंतर यामि जू।
मो रसना को रुचै रस ना तजि राम नमामि नमामि नमामि जू॥"
(दास, का० नि० २४८)

वास्तव में यह अकिंचनता का प्रदर्शन तथा आत्मार्पण, छल नहीं है। वरन् यदि यह कहा जाय कि यही इनके हृदय की निश्छल वृत्ति है तो कोई अनुचित बात न होगी।

यद्यपि इन्द्र, वरुण, वृत्र, ऊषा, आदि कितनी ही प्राकृतिक शक्तियाँ, वैदिक काल से ही देव-तुल्य स्वीकार की जा चुकी थी और उनका तदनुकूल वर्णन भी प्राप्त होता है, तथापि भारतीय मूर्ति-पूजा का क्रमिक आरम्भ, पुराण-काल से ही हुआ जान पड़ता है। पंचदेवोपासना के आधार पर हिन्दू-धर्म के प्रमुख देवताओं का विकास दृष्टिगोचर होता है। विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य और गणेश, ये पाँच प्रधान देवता हैं और इनमें से प्रथम तीन के आधार पर खड़े होने वाले, वैष्णव, शैव और शाक्त सम्प्रदाय, हिन्दू समाज के प्रमुख स्तम्भ हैं। गणपति की पूजा, मंगलारम्भ के लिये, प्रायः सब सम्प्रदायों में होती है; हाँ, सूर्य की उपासना का

उतना महत्व अब हिन्दू समाज में नहीं रहा है। अस्तु, अब हम पहले उक्त सम्प्रदायों की उपासना की उत्पत्ति और उनके विकास पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात करेंगे।

विष्णु का परिचय हमको वेदो से ही प्राप्त होने लगता है। वहाँ ये एक दयालु देवता के रूप में वर्णित हैं, किन्तु इनको विशेष महत्व नही प्राप्त है। ब्राह्मण-काल में इनका महत्व बढ़ता है। कृष्ण का भी कुछ आभास मिलने लगता है। बौद्ध-काल तक कृष्ण ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया था। वैसे तो भक्ति-मार्ग में कृष्ण का समावेश तीसरी शताब्दी ई० पूर्व में ही हो गया था। हरिवंश पुराण में कृष्ण आभीरों के बाल-देवता कहे गये हैं।

बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के प्रभाव के कारण, धीरे-धीरे हिन्दू-धर्म में मूर्ति-पूजा का समावेश होने लगा था। अब तक बुद्ध भगवान् को ईश्वर स्वीकार कर लिया गया था और उनकी मूर्त्तियों की पूजा होने लगी थी। इसमे कर्म-कांड भी ग्रहण किया गया था। इसी काल में मध्य-देशान्तर्गत, मथुरा के निकट शूरसेन देश के निवासी, वासुदेव नामक सुधारक ने धर्म-सिद्धान्तों में परिवर्तन किए। इन्होंने बौद्धों के समान, ईश्वर की भावना का त्याग नहीं किया वरन् ईश्वरवादी बने रहे। ये ईश्वर को व्यक्तिरूप, इष्टदेव (Personal God) मानते रहे; दूसरे, इन्होंने ज्ञान और उपासना के स्थान पर भक्ति को प्राधान्य दिया। कर्म-काड का त्याग तो नहीं हुआ किन्तु हिंसा-पूर्ण यज्ञों में विश्वास नही रक्खा गया। महापुरुषो के आदर्शों पर चलने के कारण ये सब सुधार, सरलता के साथ ग्रहण किए जा सके। यह परिष्कृत-धर्म वासुदेव या भागवत धर्म कहा गया।

महाभारत के शान्ति पर्व में कहा हुआ नारायणी धर्म भी यही है। श्री मद्भगवद्गीता मे इस धर्म के दार्शनिक विचारों का पूरा विकास मिलता है। आगे चलकर यही वैष्णव-धर्म हुआ। वसुदेव, कृष्ण के पिता का नाम था, अतः वासुदेव और कृष्ण को एक मानने की भावना का प्रचार भी आगे चलकर हो गया। इस काल में रामायण और महाभारत के राम और कृष्ण हमारे सम्मुख, वीर महापुरुषों के रूप मे ही आते हैं, अवतारों के रूप में नही।

हम कह चुके हैं कि हरिवंश पुराण में कृष्ण, आभीरों के बाल देवता के रूप में आ चुके थे। आगे, पुराणों की रचना के साथ-साथ विष्णु, शिव आदि की उपासना-पद्धति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। पुराणो की कथाओं मे वर्णित देवताओं की मूर्तियां बनाकर बुद्ध के समान पूजित होने लगीं। इन देवताओ को स्थायी रूप देने के लिए इनके अवतारों की कल्पना की गई; राम और कृष्ण इनमे प्रधान रहे। स्वर्ग के रूप में अनन्त, आदर्श-लोक की कल्पना

भी की गई और अहिंसा का सिद्धान्त सर्वमान्य रहा। इस प्रकार पुराणों और बौद्ध-धर्म के आधार पर विष्णु के अनेक अवतारों की पूजा आरम्भ हो गई। श्री मद्भागवत् ने भक्तों का ध्यान चौबीस अवतारों की ओर आकर्षित किया था। इनकी पूजा भी अनेक रूपों में होने लगी थी। विभिन्न आचार्यों के आधार पर देवताओं की मूर्त्तियों में भी थोड़ा बहुत विभेद स्थापित हो गया और देव-मूर्तियों के नाना वर्ण, नाना वेशों की कल्पना कर ली गई। वीर-पूजा की भावना ने भी इस बहुदेवोपासना को प्रोत्साहित किया था और यह सम्पूर्ण विकास, भक्ति के आधार पर ही हुआ था।

इस विकास-क्रम का प्रत्येक अंश, प्राय: यथातथ्य रूप में, हमारे अवध के कवियों में पाया जाता है। स्वयं विष्णु का वर्णन कवियों द्वारा अधिक नहीं हुआ तथापि गजेन्द्र-मोक्ष जैसी बहु-प्रचलित कथाओं को लेकर उसकी महिमा का थोड़ा-बहुत वर्णन कविगण करते हैं।

"दीन पुकारत बेनी प्रवीन ज्यों, दीन दयाल जू त्यों सुनि लीन्हों,
जोरे खरी कमला सी तिया कर, ताहि न ता दिन रंचक चीन्हों।
पाइ पयादे चले गये धाइ तहाँ बनिता सुतऊ तजि दीन्हों,
बार न कीन्हों पलौ भरि की हरि ग्राह ते बारन बारन कीन्हों।।

(न० त०, पृ० ७०)

राम-कृष्ण का महापुरुषत्व, दशावतार अथवा चौबीस अवतारों के मध्य में इनका चित्रण तथा देवता-रूप में इनकी उपासना, अनेक कवियों द्वारा वर्णित हुई है। दासजी ने दशावतार का दीन-प्रतिपालक रूप में इस प्रकार वर्णन किया है :

"मच्छ ह्वै कै वेद काढ्यो कच्छ ह्वै रतन काढ्यो,
कोल ह्वै कै गोलरद राख्यो सविलास है।
बावन ह्वै इन्द्र कै नृसिंह प्रहलाद राख्यो,
कीन्ह्यो ह्वै द्विजेस जाहि छिति छत्र भास है।
राम ह्वै दसासि वंश कान्ह ह्वै सँहारयो कंस,
बौध ह्वै कै कीन्ह्यो जिन सावक प्रकास है।
कलिकी ह्वै राखे रहे हिन्दूपति पति दै,
मलेछ हति मोक्ष गति दास ताको दास है।।"[२]

(शृं० नि०, ह० लि०)

महापुरुषत्व इनके शौर्य में ही दृष्टिगत होता है, चाहे वह शूरता युद्ध की हो चाहे दया, दान, धर्म आदि की। राम-विषयक ऐसे चित्रण, कृष्ण के चित्रणों

से अधिक प्राप्त होते हैं। निम्नलिखित उदाहरण में विष्णु भगवान् की प्रधानता, उनके अवतारों का पौरुष तथा उनका देवत्व बहुत कुछ व्यक्त होता है :

"ह्वै नरसिंह महा मनुजाद हन्यो प्रहलाद को संकट भारी,
दास विभीषनै लंक दयो जिन रंक सुदामा को सपति सारी।
द्रोपदी चीर बढायो जहान मे पाण्डव के जस की उजियारी,
गर्विन को खनि गर्व बहावत दीननि को दुख श्री गिरधारी॥"

(का० नि०, दास, पृ० १६७)

वैष्णव-धर्म के प्रमुख आचार्य १२ वीं से १३ वी शताब्दी विक्रमीय के बीच हुए। इनके द्वारा भक्ति का पूर्ण विकास हुआ। श्री मद्भागवत् की रचना इसके पूर्व हो चुकी थी। निम्बार्काचार्य ने कृष्ण के साथ राधा की भक्ति को भी समाविष्ट किया। राधा का नाम गाथा-सप्तशती में प्राप्त होता है। गाथा-सप्तशती विक्रमादित्य के शासन काल में बनी थी, अतः उसका समय अब से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पडता है। अस्तु, ४थं श० ई० मे राधा की अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन कृष्ण के साथ सयुक्त हो चुका था और उसका प्रचुरता से वर्णन होने लगा था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये आर्यों के पूर्व की कोई प्रेम की देवी रही होंगी। सम्भवतः इनका सम्बन्ध भी अभीर जाति से रहा होगा, अतः कृष्ण के साथ इनका सम्बन्ध जुड़ गया और इस प्रकार राधाकृष्ण की सम्मिलित लीलाओं का गान आरम्भ हुआ। भक्ति-मार्ग के आरम्भ से पूर्व ही यह हो चुका था।

राधाकृष्ण की इस भक्ति का चरम विकास चैतन्यदेव में मिलता है। वे प्रेम, भक्ति के आधार को ही प्रधान मानते थे। उनकी भक्ति रागानुगा थी। चैतन्य ने राधा मे परकीयत्व-भाव को माना। यद्यपि उन्होंने समाज में परकीय भाव का निषेध किया तथापि भक्ति के लिए परकीयत्व को श्रेष्ठतम स्वीकार किया। भक्त, परकीय भाव से भगवान से प्रेम करे। उनके अनुयायी श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्वल नीलमणि' नामक ग्रंथ में, श्री राधा जी को कृष्ण की स्वरूपाह्लादिनी शक्ति माना है, इसलिए वस्तुतः वे स्वकीया हैं, परकीया नही। कृष्ण सत्-चित्-आनन्द रूप है। इसमे राधा का अंश 'आनन्द' है। "पुरुष रूप ईश्वर के साथ जो स्त्री रूप है वह अद्वैत वैष्णव-सम्प्रदायों के अनुसार उसी की वशवर्तिनी शक्ति है। भगवान् और उसकी महाशक्ति दोनो अभिन्न हैं; एक के ही दो रूप हैं।"[१] अत. वे कृष्ण का ही एक अंश होने के कारण स्वकीया हैं,

१. अष्टछाप और बल्लभ-संप्रदाय,' भाग २, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ५९९

परकीया नही। फिर भी उनका प्रेम, कृष्ण के प्रति, परकीय भाव का है जिसमें विरहानुभूति अत्यन्त तीव्र है। चैतन्य स्वयं ऐसी ही भक्ति करते थे।

इस प्रकार निम्बार्क द्वारा प्रचारित दार्शनिक रहस्यवाद में राधा की मधुर कल्पना का समावेश हो गया और इसी का प्रभाव आगे आनेवाले कवियों पर बहुत कुछ पड़ा। बंगाल मे शक्ति-पूजा का प्रचार था ही, दक्षिण की भक्ति आकर इसमें सम्मिलित हो गई और प्रकृति-पुरुष की भावना के कारण, कृष्ण के साथ राधा की कल्पना कर ली गई। इस प्रकार बगाल की, स्त्री-रूप, आदि-शक्ति, राधा के कलेवर में अवतीर्ण हुई। यों, राधा यद्यपि पहले प्रकृति के रूप मे ही स्वीकृत हुई थी, तथापि आगे चलकर इनको आत्मा के रूप में भी स्वीकार किया जाने लगा और आत्मा का यह रूपक, गोपियो के विकास की भावना का कारण बन गया। इस प्रकार साम्प्रदायिक तथा धार्मिक दृष्टि से यह सम्पूर्ण शृंगार-लीला केवल रूपक के रूप मे ही हमारे सम्मुख आती है।

उक्त रूपक को हिन्दी कवियो के सम्मुख सागोपांग रूप में लाने का श्रेय सर्वप्रथम कविवर सूरदास को है। यद्यपि वल्लभाचार्य ने बाल-लीला की ओर अधिक ध्यान दिया था और कृष्ण का बाल-रूप ही उनके इप्टदेव के रूप में प्रतिष्ठित था, तथापि गोस्वामी विट्ठलनाथ के समय मे उस सम्प्रदाय में किशोर-लीला का भी समावेश हो गया।

सूर के समय मे वृन्दावन में राधा-कृष्ण की लीलाओं का गान मुक्त-कंठ से होने लगा था। "राधा को समान रूप से आठों (अप्टछाप के) भक्तों ने कृष्ण की विवाहिता पत्नी रूप मे चित्रित किया है।"[१] दार्शनिक रूपक, सूर के काव्य मे शृंगार के आवरण में पूर्णतया आवृत है और भावी शृंगार-काल के कवियों के पथ-प्रदर्शन मे वह बहुत कुछ सहायक हुआ है, इसमें सन्देह नही।

यह स्पष्ट है कि सूर के काव्य मे, दार्शनिक और साम्प्रदायिक दृष्टि से जितना यह रूपक स्पष्ट है उतनी ही शृंगार-भावना भी। किन्तु सूर के विषय में यह बात भी स्मरण रखने की है कि वे धर्म-प्रचारक की अपेक्षा कवि अधिक थे। उनमें पांडित्य की अपेक्षा भक्ति की अनुभूति गहरी थी। पुष्टि-मार्गीय होते हुए भी उनमें साम्प्रदायिकता की अपेक्षा भक्ति-भावना विशेष प्रबल दिखलाई पड़ती है। उनका सम्पूर्ण काव्य भक्ति के सभी अगों का प्रतिपादन, मण्डनात्मक ढंग से करता है। उसमे भक्ति-पंचरस के पांचो अग, शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृंगार, व्यापक रूप से सम्मिलित दिखलाई पड़ते हैं। हाँ, पुष्टिमार्ग से

१. अप्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, भा० २, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ६२६

विशेष सम्बन्ध रखनेवाले, शृंगार, वात्सल्य और सख्य भावों के पद विशेष रूप से प्राप्त होते है। यह किसी सीमा तक साम्प्रदायिकता का प्रभाव कहा जा सकता है। किन्तु साधारण दृष्टि से देखने पर सूर के पदों में साहित्यिकता, भावुकता और कला के मनोरम दर्शन होते हैं। इन गुणों के कारण काव्य में लौकिकता भी विशेष आ जाती है, यही कारण है कि आगे आनेवाले कवियो ने विशेषतः सूर को शृंगारी रूप मे ही देखा और अपनी काव्य-रचना के लिए पथ-प्रदर्शक के रूप मे ग्रहण कर लिया। अपनी विलास-वासना की दृष्टि से देखते हुए उन्होने सूर की दार्शनिकता की तो उपेक्षा की और केवल काव्य-शास्त्र के अंगों को ग्रहण कर लिया। इसमे सन्देह नही कि शृगारी कवियों के लिये सूर अवश्य ही एक सुदृढ़ और व्यापक पृष्ठ-भूमि प्रदान कर सके। रस-राज शृंगार का उन्होने व्यापक वर्णन किया। रागात्मकता को केवल दाम्पत्य प्रेम तक ही सीमित न रखकर उन्होंने वात्सल्य और सख्य तक उसके क्षेत्र को विस्तृत किया। अतः उनके काव्य मे प्रमुख रस शृंगार ही है, जिसके दोनो रूप, संयोग और वियोग, सारे काव्य मे विस्तारपूर्वक वर्णित है।

राधाकृष्ण के प्रेम-विकास में नायक-नायिका-भेद का पर्याप्त प्रभाव देख पड़ता है। विभावों का भी शास्त्रीय ज्ञान सूर को था, ऐसा उनके काव्य से प्रत्यक्ष आभास मिलता है।

वृन्दावन के रमणीय वर्णन मे ऋतुवर्णन भी आता है जो उद्दीपन रूप में प्रयुक्त हुआ है। विलास-लीलाओं में अनेक हाव-भावों का भी वर्णन प्राप्त होता है। अलकारों का प्रयोग बहुत कुछ स्वाभाविक रूप में मिलता है। यद्यपि कूट के पदों में चमत्कार-प्रवृत्ति तथा अस्वाभाविकता भी मिलती है किन्तु इसका कारण सस्कृत के चमत्कारवादी कवियों का प्रभाव कहा जा सकता है। पुष्टि-मार्ग की उपासना स्वयं कलात्मक थी। शृंगार, अलंकरण उसके प्रधान साधन थे, सौन्दर्य का उसमें महत्वपूर्ण स्थान था, इसी कारण सूर मे भी हमको पर्याप्त अलंकरण, सौन्दर्य-साधना आदि के दर्शन होते है। रस-परिपाक भी सूर ने सांगोपांग किया है; नखशिख, दूतीवर्णन, सात्विक भाव आदि काव्य के शास्त्रीय अंग, पग-पग पर दृष्टिगोचर होते है। संचारी भावों का सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन सबसे अधिक मिलता है; हर्ष, विषाद, अमर्ष, वितर्क, उत्कण्ठा, जड़ता, आवेग आदि कितने ही संचारी भावो का सूक्ष्म तथा विस्तृत वर्णन देखकर सूर की गहरी पैठ का पता चलता है। भ्रमरगीत ऐसी सूक्ष्मताओं का कोश ही है। उक्त सब परिस्थितियों के सहित, सूर, शृंगारी कवियों के सम्मुख उपस्थित थे। उन कवियों ने उन्हें अपनी दृष्टि से देखा और अपने साँचे में ढाल लिया।

कृष्ण वही रहे, उनकी गोपिकाएँ, लीलाएँ भी ज्यों की त्यों चलती रहीं, केवल भक्ति-भावना की आध्यात्मिकता के स्थान पर ऐहिकता तथा विलास-वासना ने अपना प्रभुत्व जमा लिया। इस प्रकार कृष्ण के शृंगारी रूप ने अपनी रसात्मकता तथा लौकिकता के साथ सम्पूर्ण उत्तरी भारत के साहित्य क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व जमाया। सामयिक प्रवृत्तियों के अनुसार जनता मर्यादावाद की ओर इतनी उन्मुख नहीं होना चाहती थी, जितनी रसवाद की ओर; फलतः कृष्ण का आदर्श साहित्य क्षेत्र में स्थापित हो गया और अवध जैसे केन्द्र में भी, जहां मर्यादा-पुरुषोत्तम राम अवतीर्ण हुए थे और जहां के प्रत्येक निवासी ने अपने को उनके व्यक्तित्व में तन्मय कर देने का प्रयत्न किया था, वहां भी साहित्य क्षेत्र में कृष्ण की ही रूप-माधुरी का गान होने लगा। केवल सत्तनाम का आश्रय ग्रहण करनेवाले अथवा रामनाम के साधन से ही भगवद्भजन करने वाले जगजीवन भी मुरली की मधुर स्वर लहरी की उपेक्षा न कर सके, उन्हें भी उस मुरलीवाले की खोज में वियोगात्मक उद्‌गार व्यक्त करने पड़े :

"कहाँ गयो मुरली को बजैया, कहाँ गयो रे ॥ टेक ॥
एक समय जब मुरली बजायो, सब सुनि मोहि रह्यो रे।,
जिनके भाग भये पूर्बज के, ते वहि संग रह्यो रे ॥१॥

इससे साहित्य-क्षेत्र में कृष्ण के व्यापक प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। यह दूसरी बात है कि जीवन की गम्भीर परिस्थितियों को लेकर जनता राम के ही गीत गाती रही और राम उसके इष्टदेव बने रहे।

वाल्मीकीय रामायण में राम, अवतार न होकर आदर्श मानव के रूप में ही हमारे सम्मुख आते हैं। नारद ने वाल्मीकि से उनको सर्वगुण सम्पन्न, महाकाव्य के उपयुक्त नायक कहा है।[1] श्री मद्भागवत् में यही राम विष्णु के अवतार रूप में आविर्भूत होते है। साक्षात् ब्रह्मस्वरूप भगवान हरि अपने अंशांश से राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का रूप धारण करते है।[2] इस प्रकार राम के

---

१. "बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणा: ।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्त: श्रूयतां नर: ॥७॥
इक्ष्वाकुवंश प्रभवो रामो नाम जनै श्रुत: । -- ८"

वाल्मीकि रामायण (बाल० १)

२. तस्यापि भगवानेष साक्षाद्ब्रह्ममयो हरि: ।
अशांशेन चतुर्धागात्पुत्रत्वं प्रार्थित: सुरै: ।
राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्ना इति संज्ञया ॥२॥ (श्रीमद्भागवत् स्क० ९, अ० १०)

गम्भीर मानव-चरित्र को, उपयुक्त देवत्व-पद प्राप्त हो जाता है। तुलसी इसके साक्षी हैं। इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित राम का स्वरूप आज भी समाज में पूजित है। सुखदेवजी ने तुलसी के आदर्श राम को विष्णु के अवतार तथा लोकरक्षक अलौकिक महापुरुष के रूप में देखा है :

"राम राम रघुनन्दन देवा। वीरभद्र मम मानहु सेवा।
जानुकी रवन जै जगदीशा। युद्ध वीर विजई भुज बीसा।

स्पष्ट है कि इस दृष्टिकोण में प्राचीन परम्परा अविच्छिन्न रूप से विद्यमान है।

रामोपासना का प्रचार रामानुजाचार्य द्वारा, लगभग ११ वीं शताब्दी ई० मे आरम्भ हुआ। इस सम्प्रदाय में नियम-बन्धन कठोर थे और आदर्शवाद ऊंचा था। एक अंग्रेज विद्वान् के अनुसार रामोपासक सम्प्रदाय में बौद्ध-धर्म की दया और त्याग भावना विद्यमान है। पशु-जीवन के लिये भी उसमें कोमलता को स्थान है।[1] किन्तु कठोर नियमों के कारण उक्त गुणों का विकास पर्याप्त मात्रा में तब तक नहीं हो पाया जब तक रामानन्द ने नियम-बन्धन को पर्याप्त शिथिलता न प्रदान की और कबीर ने उनका अधिकांश में उल्लघन न किया। फिर भी रामोपासना के प्रधान लक्षण, मर्यादा-मार्ग के अनुसरण में ही दृष्टिगत होते रहे। भक्त-मण्डली राम के उसी पतितपावन स्वरूप को अपनाती रही और उनके सम्मुख आत्मनिवेदन करती हुई, दास्य-भाव से कृपा-कोर की अभिलाषा करती रही। मौलिक रूप से रामोपासना का यही स्वरूप रहा। जनता इसी आदर्श को लेकर राम की पूजा करती रही।

राम की उपासना मे श्रृंगार-भाव को स्थान नही है। कृष्णोपासना से वह गम्भीर और संयत है। समाज की मर्यादा के समान ही व्यापक तथा विस्तृत होने के कारण, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों मे उसका प्रवेश हो गया। जन्म से लगाकर मृत्यु तक होने वाले सम्पूर्ण संस्कारों में अवध प्रदेश में राम ही आदर्श माने जाने लगे थे। फलतः प्रत्येक माता कौशल्या, प्रत्येक पिता दशरथ, तथा प्रत्येक भाई, भरत, लक्ष्मण अथवा शत्रुघ्न के पद पर आसीन हो गया। वधुएं सीता के समान होने का आशीर्वाद पाने लगीं। जनता का जीवन राममय हो गया। आदर्श होकर भी राम उसके आत्मीय हो गये। आदर्श की सफलता का यह बहुत बड़ा लक्षण है।

किन्तु कृष्ण के रसिक-जीवन की छाप, राम के इस गम्भीर चरित्र पर भक्तों

---

१. इम्पीरियल गजेटियर्स आफ इण्डिया (१९०७-०९) रेलिजन्स, टब्लू क्रुक, पृ० ४२४

ने न लगाई हो, ऐसा नही हुआ। राम के पूर्ण आदर्श को और भी अधिक सर्वांगीण बनाने के प्रयत्न में कुछ रसिक भक्तों ने उनको कृष्ण का रूप भी प्रदान कर दिया। अयोध्या के महन्तों ने इसमें सहयोग दिया। "चित्रकूट की भावना वृन्दावन के रूप में की गई और वहाँ के कुंज भी व्रज के से क्रीडा कुञ्ज माने गये।"[१] होली सबधी निम्नलिखित पद मे मर्यादापुरुषोत्तम राम के कटाक्षपात का वर्णन करते हुए कवि ने उस महान् चरित्र को एक हलकेपन मे डुबो दिया है। न तो राम की रसिकता ही प्रमाणित हो पाती है और न पाठक के हृदय में अतिरिक्त-श्रद्धा का ही उद्रेक होता है। केवल कवि की विशेष प्रवृत्ति-धारा अवश्य लक्षित हो जाती है।

"पिचकारि तिहारी रगदार लला जनि डारौ मो पै।
सी उपजावत कप बढ़ावत रहत न देह संभार॥
रसिक पिया दृग चोट चलावत सुन्दर राजकुमार॥"
(षट्ऋतु पदावली, रसिक अलि)

इतना ही नही, वरन् कुछ सीमा का उल्लंघन करनेवाले भक्तों ने भगवान् राम की मर्यादा को बिल्कुल ही तिलाजलि दे दी और इनका नग्न शृंगार वर्णन करने लगे। "नीवी करपत बरजति प्यारी" और "पिय हसि रस रस कंचुकि खोले" जैसे कथनो द्वारा राम-सीता की रति का वर्णन किया जाने लगा और राम के पवित्र नाम पर छीटे उछाले गए। किन्तु यह स्पष्ट है कि यह रामोपासना का यथार्थ रूप नही है। सर्व-सम्मत दृष्टि मे राम की पूजा सात्विक तथा आदर्शमय है। राम दशरथ-सुत भी है और परब्रह्म भी; साकार भी हैं और निराकार भी; व्यक्ति भी है और प्रतीक भी। यह राम, भारतीय जनता के अवलम्ब है, जीवन के प्रत्येक मार्ग के सम्बल हैं। इस प्रकार यह उपासना मौलिक रूप में आज भी प्रचलित है। यह दूसरी बात है कि शृंगार-प्रधान भक्त कवियों का थोड़ा बहुत प्रभाव इस धारा पर भी पडा हो। इस प्रकार रामकाव्य की भक्ति-भावना, जो मर्यादा से ही संचालित थी, कुछ निर्बल पड गई और उसमें ऐहिकता की झलक आ गई, क्योकि "पहले के महात्मा लोग विशेष त्यागी निर्विकार तथा विरक्त थे; अतः इनकी रचनाओं मे भक्ति का प्राधान्य देख पड़ता है, परन्तु आगे चलकर विकारी कवियों द्वारा भक्ति का तिरोभाव हो गया, और भाषा साहित्य मे भक्तिहीन शृंगार रस ने बल पाया।"[२] यही

१. इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १७२
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, "मिश्रबन्धु", पृ० १११

कारण है कि हृदय में रामभक्ति की भावना होते हुए भी दास जैसे कवि ने राम को एक सम्राट की श्रेणी में रखकर उनकी तलवार, उनके वैभव आदि का वर्णन अधिक विस्तार के साथ किया, फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उनका हृदय भक्ति से शून्य था क्योंकि दूसरी ओर भगवान् राम की असीम दयालुता और प्रणत-वत्सलता पर अटल श्रद्धा भी उसी कवि के काव्य में दृष्टि-गत होती है। संक्षेपतः रामभक्ति की जो धारा मर्यादावाद को लेकर चली आ रही थी वह प्रायः ज्यों की त्यों बनी रही, उसमें समय के अनुसार परिवर्तन हुए अवश्य, किन्तु उनका प्रभाव व्यापक तथा स्थायी नहीं हुआ।

भगवान् शंकर की उपासना का महत्व समाज में वैष्णवोपासना से किसी प्रकार कम नहीं रहा है। शैव-वैष्णवों का जो संघर्ष, शृंगारकाल की काव्य रचना आरम्भ होने के पूर्व चल रहा था उसका आभास हमको तुलसी के काव्य द्वारा मिल ही जाता है, अतः यह भी निश्चित हो जाता है कि धर्म-क्षेत्र में दोनों समान प्रतिद्वन्द्वी अवश्य थे। शैवोपासना भी वेद-काल से आरम्भ हुई थी। "ऋग्वेद मे रुद्र, शिव तैंतीस देवताओ में से थे" और "हानिकर अधिक थे।" [१] "रुद्र भयानक देवता है और यह मरुत का पिता है" "भयानक गर्जन वाले आंधी तूफान" से इसका अभिप्राय लिया गया है। "उपनिषदों में काली, कराली आदि नाम उन भयानक बिजलियो के है जो रुद्र (तूफान) के साथ गर्जन तर्जन से आती है" [२] अतः यह स्पष्ट है कि रुद्र का स्वरूप ऋग्वेद में भयप्रद तथा हानिकर ही विशेष रूप से चित्रित किया गया है। यद्यपि "यह भी देवता विष्णु की तरह वेद मे छोटा सा ही देवता है।" [२] अथर्व वेद में रुद्र का महत्व बढ़ गया है; वे समस्त संसार के स्वामी माने जाने लगे। खेतों तथा चोर-डाकू, ठगों के भी वे स्वामी कहे जाने लगे। अथर्व वेद में वे भव, शर्व, पशुपति, भूतपति आदि कहे गये और साथ ही साथ उनका शिवत्व भी प्रकट हुआ। एक ओर तो वे भयप्रद हैं और दूसरी ओर प्रार्थना करने पर "शिव" कल्याणकर, कृपालु भी। वास्तव में शिव की उपासना, मानव-समाज के ऊपर प्रकृति के व्यापक प्रभाव की छाप को व्यक्त करती है। अनवरत, कठोर परिवर्तन, विध्वंस का आभास इस उपासना के रूप मे मिलता है। साथ ही साथ शक्ति-संयुत शिव की उपासना मे उनका सृष्टि-निर्माता रूप भी व्यक्त होता है। लिंग-पूजा इसी सृष्टि-उत्पादक रूप की उपासना है।

---

१. धर्म-तत्व, मिश्रबन्धु, पृ० ३३

२. वेद और उनका साहित्य, चतुरसेन शास्त्री, पृ० ६३

महाभारत में शिव का प्रभाव बहुत कुछ स्थापित हो गया था, जैसा स्थान-स्थान पर उनके पूजा-वर्णन से व्यक्त होता है। आगे चलकर इस प्रभाव में और भी वृद्धि हुई। सातवी-आठवी शताब्दी भारतीय-दर्शन के इतिहास मे विशेष महत्वपूर्ण है। प्रसिद्ध मीमासक कुमारिल भट्ट का जन्म इसी युग में हुआ। कुमारिल ने बौद्धो और जैनो के दर्शन का प्रबल खंडन किया। आचार्य शंकर स्वामी भी इसी युग मे हुए जिन्होने अद्वैत वेदान्त की स्थापना की।

"आचार्य श्री विद्या के उपासक परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण आप भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं।"[१] इन्होने स्मार्त सम्प्रदाय की स्थापना की और इन्ही के द्वारा शिव की उपासना का प्रचार हुआ। यद्यपि उस समय यह उपासना अधिकतर निम्नश्रेणी के लोगो में ही प्रचलित हुई थी किन्तु सम्भवतः इनकी उपासना की सरलता, "आशुतोष" भावना ने इसे अधिक लोकप्रिय बना दिया। यहाँ तक कि भारतीय ग्रामो में शिव की उपासना ने प्रमुख रूप धारण कर लिया। डब्लू० क्रुक महोदय, पाश्चात्य विद्वान् ने अपने भारतीय-धर्म-विषयक लेख मे लिखा है कि "छोटे से छोटा कोई ही गाव होगा जहा शिव की उपासना के लिए (कम से कम) एक मठिया न हो।"[२]

अथर्व वेद में स्त्री-देवताओं की भी कल्पना मिलती है। शक्ति की भावना दृढ होती दिखलाई पड़ती है। वे देवताओं की सहायिका शक्ति के रूप में, उनके साथ निर्माण अथवा विध्वंस का कार्य करती हुई दिखलाई देती है। इसी आधार पर आगे चलकर तन्त्र-साधना की नीव पडी। किन्तु यह शक्ति-पूजा आर्येतर जातियो से उत्पन्न हुई थी। विन्ध्य की पहाड़ियो के बीच निवास करनेवाली कुछ जातिया दुर्गा की पूजा करती थी। यह दुर्गा विध्वंस की देवी मानी जाती थी और इनकी पूजा के मूल मे भय की प्रेरणा विशेष थी। उधर आर्यो में शिव भी संहारक देवता थे, अतः जब आर्य उक्त अनार्यो के सम्पर्क मे आये तब उन्होंने दुर्गा की उपासना को अपनाया और उनका संबंध शिव से जोड दिया। "उमा" नाम से उनका नवीन नामकरण भी हो गया। यही उमा आगे चलकर ऋग्वेद की रुद्राणी, भवानी आदि की परम्परा मे सम्मिलित हो गई।[३] इस प्रकार शिव और शक्ति की उपासना आरम्भ हुई। परन्तु शक्ति संबंधी काव्य अवध के कवियों मे प्रचुर नही है। अवध के कवियों में अधिकतर यह उपासना

---

१. भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ० ४५५

२. इम्पीरियल गजेटियर्स, रेलिजन्स, डब्लू क्रुक, पृष्ठ ४२१।

३. हमारा देश, डा० सत्यनारायण पी-एच्० डी०, पृ० १०-१२।

भगवान् शंकर के सान्निध्य से ही प्राप्त होती है। भगवान् शिव की शक्ति-रूप मे ही देवी का उल्लेख प्राप्त होता है। दास जी ने इसी आर्या शक्ति के चरणों की वन्दना इस प्रकार की है :

परमेश्वरी परसिद्ध है पशुनाथ की पविनी प्रियो।
परचंड चाप चढ़ाइ कै पर रौन छय पल में कियो।
खल छै करी सब कोइ कहै सरि जाहि को न कहूं दियो।
पद पद्म चारु सुध्याइ कै करि दास छेम दसो दियो।६५।

(दास, का० नि०, पृ० २)

अन्य कवियों ने भी जहाँ-तहाँ सूत्र रूप मे देवी का स्मरण मात्र कर लिया है।

पुराणो द्वारा शिव के योगी, साधक, आत्मज्ञानी रूप का विकास हुआ, इनकी उपासना से संबंध रखनेवाले अनेक सम्प्रदायो मे इसी कारण बड़ी कठोर साधना को महत्व दिया गया है। अघोर-पंथ आदि ऐसे ही सम्प्रदाय हैं जिनमें श्मशान सिद्धि और निर्लिप्तता के भाव एक साथ दृष्टिगत होते हैं। भूत-पिशाचों विषधर जीवों का स्वामित्व, श्मशान-निवास भी शिव की कठोर साधना को व्यक्त करता है। "शैवों के अन्य दो सम्प्रदाय, कापालिक और कालामुख, के अनुयायी शिव के भैरव और रुद्र रूप की उपासना करते हैं। इस सम्प्रदाय के माननेवाले मनुष्य की खोपड़ी मे खाते हैं, श्मशान की राख से शरीर मलते तथा उसे खाते भी हैं, एक डंडा और शराब का प्याला अपने पास रखते हैं और पात्रस्थित देवता की पूजा करते है। इन बातों को इहलोक और परलोक में इच्छापूर्ति का साधन समझते है।"[1] अवध के कवियों ने भी अपने काव्य में इनको चित्रित किया है। सुखदेव जी द्वारा किया हुआ यह वर्णन बहुत कुछ परम्परागत है।

"जिन हनिअ अनंगा सिर धरि गंगा सोभंता सीमन्त सखी।
त्रिपुरारि त्रिलोचन भव भय मोचन नवंता भू धार धसी।।
ऋत सर्प विभूषा पति पियूषा राजै माला मुंड गरे।
शिव शिव शिव शंकर असुर भयंकर रक्षौ गौरी अंग धरे।।

(वृ० वि०, ह० लि०, सुखदेव, पृ० १५)

शिव का यही पौराणिक अद्भुत रूप, समाज मे पूजित होता रहा है। इनकी भक्ति में रूप की विलक्षणता के कारण हास्य का समावेश भी थोड़ा बहुत हो गया है। कहीं-कहीं पर तो भक्ति के आवेश में आकर भक्तों ने इन

---

१. प्राचीन भारतीय संस्कृति, ओझा, पृष्ठ २३

पर व्यंग-वाणों की बौछार भी की है। मैथिल-कोकिल विद्यापति से राशाकर श्रृंगारकालीन कवि वेनी, दास आदि तक ने इस प्रकार का व्यंग्य-काव्य शंकर के विषय मे लिखा है। यह काव्य वक्रता-पूर्ण शैली का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि अब से कई सौ वर्ष से आरंभ होने वाली शिव की पौराणिक उपासना ही प्रायः अविकृत रूप मे समाज मे निरन्तर प्रचलित रही है और समय-समय पर कवियो ने प्रधानतः भक्ति और हास्य के आलम्बन-स्वरूप उनका उपयोग किया है।

शिव के साथ-साथ गंगा की उपासना भी समाज में प्रचलित हुई। शिव-शीर्षवासिनी के रूप मे अथवा स्वतन्त्र रूप मे इनकी उपासना प्रचलित हुई। ऋग्वेद में गंगा का महत्व सर्वोपरि नही जान पडता है, यद्यपि गगा का उल्लेख उसमे प्राप्त होता है। ऋग्वेद मे सरस्वती नदी विशेष महत्वशालिनी जान पड़ती है। "जिस समय गगा और यमुना का भरत खण्ड में प्रवाह नहीं हुआ था उस समय सरस्वती नदी ही भारतवर्ष की सर्व-प्रधान नदी थी। इसका प्रवाह अत्यन्त विस्तीर्ण और प्रबल था। ऋग्वेद के षष्ठ और सप्तम मण्डल में सरस्वती का वर्णन है।" [१] किन्तु पौराणिक काल तक आते-आते सरस्वती का यह महत्व समाप्त हो गया। "सरस्वती नदी महाभारत के काल मे नष्ट हो चुकी थी।" [२] इसी के बाद गंगा का महत्व आरम्भ हुआ प्रतीत होता है। गंगावतरण की पौराणिक कथा ने गगा की पवित्रता का साका स्थापित कर दिया और उन्हे शंकर की चिरसंगिनी बना दिया। इस प्रकार गंगा पाप-नाशिनी मुक्ति-दायिनी के रूप मे समाज में प्रवाहित हुई और साहित्य ने उनके इन गुणों को आलंकारिक रूप मे अपनाया। आज भी गगा का यही परम्परागत रूप सर्व-ग्राह्य है। अवध के श्रृंगारी कवियों ने अपने भक्ति-भाव या आत्मग्लानि के क्षणों में इनकी पर्याप्त स्तुति की है। इनका मुक्ति-दाता रूप कवियों ने बड़े ही चमत्कार-पूर्ण ढंग से चित्रित किया है। एक ओर तो ये तत्काल गति देकर अपनी अद्भुत शक्ति की महत्ता स्थापित कर देती हैं, दूसरी ओर यमराज और उनके दूतों की दुर्दशा और असहायता दिखलाकर विनोद के साथ-साथ अलौकिकता और देवत्व का प्रदर्शन करती हैं। बेनी ने इस प्रकार इनका माहात्म्य वर्णित किया है :

> "लीजिए शंभु दियो अधिकार जो जातना दायक जात हैं रूठे।
> जाग न जोग औ पाद सजोग चलें सुरलोक देखाय अगूठे।

---

१. वेद और उनका साहित्य, चतुरसेन, पृ० ५५

२. वही, पृ० ५७

बेनी कहाँ कहिबे की नहीं सुनो भागीरथी के नियाय अनूठे।
कागद सांचे लिगे जम के परवाह में बैठि करै सब झूंठे।"

(स्फुट काव्य, ह० लि०)

पंचदेवोपासना में गणपति की पूजा विशेष महत्व रखती है, किन्तु इनकी उपासना के विषय में नई खोज यह है कि ये अनार्य देवता हैं। "वैदिक काल में जब आर्य लोग सप्त-सिन्धव प्रदेश में रहते थे, गणेश की पूजा नहीं होती थी। आर्य लोग गणेश का अस्तित्व नहीं जानते थे। ... ... अपने अनार्य पड़ोसियों से आर्यों ने नाग, गधे पर सवार होनेवाली शीतला और कुत्ते पर चढ़नेवाले भैरव के साथ मूषक वाहन हस्तिमुख विनायक को भी लिया।" इस प्रकार गणेश की पूजा अपेक्षाकृत नवीन है और स्पष्ट रूप से इनका उल्लेख प्रधान उपनिषदों तक में नहीं मिलता।[१] स्मृतियों में रुद्र भगवान् के गणों के स्वामी गणपति अथवा विनायक कहे गए हैं। सूत्र ग्रंथों में ये विनायक चार कहे गए हैं किन्तु आगे स्मृति-ग्रंथों में एक ही रह गए हैं। ये रुद्र और ब्रह्मा के द्वारा मनुष्यों के कार्यों में विघ्न डालने के लिए नियुक्त किए गए। "गणेश जी के अर्थ में विनायक शब्द का प्रयोग एकवचनान्त होता है। ... ... परन्तु विनायक शब्द सदा एक ही व्यक्ति के अर्थ में नहीं आता था। विनायक बहु-संख्यक थे परन्तु ये सब दुष्ट स्वभाव वाले।"[२] अम्बिका इनकी माता थीं और इनका नाम पद था। वास्तव में अपने कर्तव्य की दृष्टि से ये शत्रुतापूर्ण तथा हानिकर भाव ही रखते हैं, किन्तु उपासना करने से प्रसन्न होकर सहायता भी करते हैं। इलोरा की गुफाओं में गणपति के चित्र मिलते हैं, जिससे अनुमान होता है कि इनकी उपासना छठी से ९ वीं शताब्दी के बीच प्रचलित हुई थी। यद्यपि इनके हाथी का सर होने के विषय में कथाएँ प्रचलित हैं तथापि वे विशेष अधिकारी न होने के कारण मान्य नहीं हैं।[३]

गणपति का पूजन प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ में किया जाता है, अतः इनको प्रमुख देवता भी माना जाता है। ये प्रकाण्ड विद्वान् तथा सुलेखक हैं। महाभारत को लिपिबद्ध करने के लिए महर्षि व्यास को इन्हीं की सहायता लेनी पड़ी थी, ऐसी कथा प्रचलित है। अष्ट सिद्धियां इनकी दासी है और जिस पर ये कृपा करते है उसे सरलता से प्राप्त होती हैं। इनका स्वरूप तो बहु-विश्रुत है ही। अरुण वर्ण, गजशिर, त्रिनेत्र, एक-दन्त, लम्बोदर, चतुर्भुज और भोजन में

१-२. गणेश, सम्पूर्णानन्द, भूमिका तथा पृ० ४
३. सुमनोञ्जलि, मिश्रबन्धु, पृ० ९४, ९५

मोदक-प्रियता इनकी विशेषताएं हैं। पौराणिक-काल से गणपति इसी रूप मे पूजित होते रहे हैं; इसके पूर्व का उनका विघ्नकर स्वरूप लुप्त हो गया और अब उनका केवल विघ्न-विनाशक रूप ही सर्वमान्य है। आज भी प्रत्येक शुभ कार्य के आरम्भ मे गणपति का पूजन अनिवार्य है, यद्यपि अपेक्षाकृत महाराष्ट्र प्रदेश मे गणपति का पूजन विशेष प्रचलित तथा महत्वशाली है। इसमें सन्देह नही कि "पृथ्वी भर मे किसी दूसरे उपास्य के जीवन की गणेश-चरित के साथ तुलना नही हो सकती। ... ... विघ्नकर्ता ग्राम्य अपदेव से उठकर सर्व देवाग्रगण्य बनना, फिर परमात्मा और ब्रह्म दृष्टि से मान्यता लाभ करना, विदेशों मे पहुँचकर वैरोचन और अवलोकितेश्वर बोधिसत्वों से तादात्म्य प्राप्त करके योग के अनिर्वचनीय रहस्यों का प्रतीक बनना, गणेश का ही कार्य है। उनके अप्रतिम व्यक्तित्व के सामने सिर झुकाना ही पड़ता है।"[१] काव्यकारों मे से विरला ही ऐसा मिलेगा जो ग्रथारम्भ मे इनकी वन्दना न करता रहा हो। गणेश की वन्दना के उदाहरण अवध के कविवर्ग में प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। बेनी कवि का एक छप्पय उदाहरण रूप में प्रस्तुत है :

लसत भाल शशि कला चारु सिन्दूर विराजत,
एक दन्त दुति देत विघन घन सुमिरे भाजत।
सुडादड उदंड महा सोभा को साजत,
भौर भूरि गुजरत झरत मद जल घन लाजत।
देवाधिदेव गिरिजातनय सनकादिक सेवत चरन,
दीजै सुबुद्धि सुखदान मोहिं लम्बोदर असरन सरन॥
(टि० रा० प्रकास, ह० लि०, १)

सूर्य देवता की पूजा भी भारतवर्ष मे अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद मे इसका उल्लेख प्राप्त होता है। "ज्योतिकारक, प्रकाशक, तुरगच्छक और मित्र वरुण तथा अग्नि की आख है। इनके रथ मे सात घोड़े जुते है, और ये प्रेमी की भांति उषस् के पीछे चलते तथा कांवर रोग को नाश करते है।"[२] ब्राह्मण ग्रंथों मे भी सूर्य की उपासना का वर्णन है। कहा जाता है कि भारतवर्ष में सूर्य की उपासना कृष्ण-पुत्र साब ने प्रचलित की। वे सूर्योपासना से नीरोग हुए थे और इसलिए उन्होंने सूर्य-मन्दिर स्थापित करना चाहा किन्तु ब्राह्मणों ने यह कहकर इस कार्य को अस्वीकार कर दिया कि देव-पूजा से प्राप्त होनेवाले द्रव्य से

१. गणेश, सम्पूर्णानन्द, भूमिका
२. बुद्ध पूर्व भा० इति०, मिश्रबन्धु, पृ० १०३

ब्रह्मक्रिया नहीं होती। तब राजा ने शाक द्वीप (ईरान के दक्षिणी-पूर्वी भाग) से मग जाति के ब्राह्मणों को बुलाया। इसका उल्लेख भविष्य पुराण में है। मग लोग अपनी उत्पत्ति ब्राह्मणी-माता और पिता सूर्य से मानते हैं और सूर्य की ही पूजा करते हैं। अलबारूनी ने लिखा है कि भारत के तमाम सूर्य-मन्दिरों के पुजारी ईरानी मग होते हैं।[1] यह सूर्योपासना, गणेश और स्कन्द की पूजा के साथ साथ ही प्रचलित थी। नवग्रह-समूह में स्थापित करके सूर्य की उपासना बराबर होती रही, कर्मकाण्ड में आज भी यह उपासना प्रचलित है। नैष्ठिक उपासकों की पूजा का एक आवश्यक अंग सूर्याञ्जलि भी है। रविवार-व्रत भी कितने ही लोग अभीष्ट-सिद्धि के लिए रखते हैं। लोक-साहित्य में सूर्य की उपासना का उल्लेख स्थान-स्थान पर मिलता है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि शृंगार-कालीन कवियों के सम्मुख सूर्यदेव उतने महत्वपूर्ण नहीं रहे जितने राम, कृष्ण, शिव, शक्ति आदि। अतः काव्य में उनका व्यापक वर्णन नहीं मिलता। अवध के प्रस्तुत कवियों ने भी सूर्यदेव की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया; यद्यपि कहीं-कहीं पर नाम मात्र को उल्लेख मिल जाता है। दासजी ने काव्य-निर्णय के आरम्भ में इस प्रकार गणेश की वन्दना की है :

"एक रदन द्वै मातु त्रिचख चौबाहु पंचकर,
षट आनन वर बंधु सेव्य सप्तार्चि भाल धर।
अष्ट सिद्धि नव निद्धि दानि दश दिशि जस विस्तर,
रुद्र इग्यारह सुपट् द्वादशादित्य ओज वर।
जो त्रिदश वृंद वंदित चरन चौदह विद्यनि आदि गुरु,
तिहि दास पंचदशहू तिथिन धरिय षोडसो ध्यान उर॥"

गणपति पर द्वादशादित्य का ओज, कवि ने यहां पर आरोपित किया है। स्पष्ट है कि यह सूर्य की प्रतिभा केवल उपमान रूप में ही ग्रहण की गई है। तात्पर्य यह है कि सूर्योपासना का प्रभाव बहुत कुछ लुप्त-प्राय सा दृष्टिगत होता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि परम्परागत इस पंचदेवोपासना ने क्रमशः भक्ति और शृंगार-कालीन कवियों के लिए आधार-भूमि प्रस्तुत की। शृंगार-मूर्ति होने के कारण कृष्ण का प्राधान्य दोनों काल के कवियों के बीच अक्षुण्ण बना रहा, यद्यपि दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। उपास्यदेव कृष्ण केवल नायक-मात्र रह गए। कवियों ने उनके दर्शन, आलम्बन-रूप में ही

---

१. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, ओझा, पृ० ३०

किए। राम, शिव, शक्ति, गंगा, गणेश, सूर्य आदि की उपासना यद्यपि कम पड़ गई, तथापि उसमें अधिक विकार उत्पन्न नहीं हुआ और वह कवियों के भक्ति-विषयक उद्‌गारों को व्यक्त करती रही। जहाँ कृष्ण को लेकर कवियों ने अपने वासनात्मक उद्‌गार व्यक्त किए, वहाँ अन्य देवताओं के आधार पर निश्छल रूप से अपने भक्ति सम्बन्धी भावों को भी साकार किया। शृंगारकाल की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियां इसी सगुण उपासना के आधार पर विकसित हुई हैं, निर्गुण की नीरसता से तत्कालीन कवि आकर्षित नहीं थे और न उसे कोई महत्व देना चाहते थे, तथापि उक्त धारा से सम्बन्ध रखनेवाले कवियों का भी इस काल में अभाव नहीं था और इसलिए उनका उल्लेख मात्र यहाँ पर पर्याप्त है। उक्त धारा की प्रवृत्तियों में परम्परागत प्रवृत्तियों से कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता।

तृतीय अध्याय

प्रमुख काव्य-धाराएं

निर्गुण सन्त-काव्य

रामानुजाचार्य की नारायणोपासना तथा उनके कष्टसाध्य कर्मकाण्ड की उच्चता से उतरकर रामानन्द ने रामोपासना के सिद्धान्त को विशेष सर्वसुलभ बनाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने भक्तिवाद तथा भगवान् राम की उपासना प्रचलित करके केवल अवतारवाद पर ही अपना आग्रह नहीं दिखलाया वरन् जनता की भक्ति के लिए एक उपयुक्त आलम्बन भी प्रस्तुत कर दिया। निम्न-श्रेणी के व्यक्तियों तथा स्त्रियों को अपने सम्प्रदाय में ग्रहण करके तथा कर्मकाण्ड के नियम-बंधन शिथिल करके उन्होंने उपासकों को हृदयवाद की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया। जनता अपने सांसारिक जीवन के ही उच्चस्तर पर भगवान् के दर्शन करने लगी, उसकी आदर्श भावनाएं प्रस्तुत संसार में ही प्रतिफलित होने लगीं। परन्तु सम्प्रदाय के दो एक अनुयायी इतने से ही संतुष्ट न थे, वे रामानन्द के आश्रम-धर्म तथा वर्णव्यवस्था को भी व्यर्थ की वस्तु समझते थे। रामानन्द इस रूढ़ि का त्याग नहीं कर सके थे। उनके अनुसार द्विजवर्ग शूद्रों से श्रेष्ठ था, शूद्रों को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था। अतः ये प्रगतिवादी महापुरुष, मानव-धर्म के सम्मुख, यह सम्प्रदाय का बंधन भी तोड़ना चाहते

थे; वे केवल एक मनुष्यता का सम्प्रदाय चाहते थे। इनके लिए उन्हें किसी प्रकार के बाह्याडम्बर की आवश्यकता प्रतीत नही होती थी। अपने उपास्य को वह नारायण अथवा अवतारी राम के संकीर्ण घेरे में नहीं बांधना चाहते थे। उनके लिए तो राम वह था जो चराचर मे रमण करता हो, विश्व-ब्रह्मांड का कोई भी कोना जिसकी सत्ता से रिक्त न हो। माला, छापा, तिलक उनके लिए अनिवार्य न थे और बाह्य वेश उनके लिए व्यर्थ था। कबीर जैसे दैवी पुरुष इस प्रकार के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए उठ खड़े हुए थे।

बहुश्रुत कबीर भारतीय वेदान्त के आधार पर एकेश्वरवाद को लेकर चले थे जिसके अनुसार मूर्ति में ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इस्लाम के प्रभाव के कारण मूर्ति-पूजा और अवतारवाद की ओर से उन्हे और भी विरक्ति रही। उनके एकेश्वरवाद के पीछे आडम्बरहीनता की जो भावना थी उसने उन्हे वज्र-यानी सिद्धों तथा नाथपंथी योगियों के सिद्धान्तों से प्रभावित होने पर बाध्य किया। ये सम्प्रदाय कर्मकाण्ड, आडम्बर आदि की निस्सारता प्रमाणित करने का प्रयत्न करते रहे। परन्तु इन सम्प्रदायों में हृदय-पक्ष की कमी थी, ज्ञान और योग के कोरे उपदेशों के कारण इनमें नीरसता अधिक थी, अत: राग-प्रधान भक्ति-मार्ग के विकास में इनसे उपयुक्त सहायता प्राप्त होनी असम्भव थी। कबीर ने इस कमी की पूर्ति के लिए "प्रेम की पीर"-संयुक्त सूफी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को ग्रहण किया। हृदय-पक्ष-प्रधान इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों द्वारा कबीर ने दाम्पत्य-प्रेम के रूपक को ग्रहण किया और मानवता के अधिक निकट आ गए। इस प्रकार कबीर ने अपने पंथ को प्रशस्त कर दिया और उनके धर्म की व्यावहारिकता, तत्कालीन परिस्थितियों में, जन-साधारण के लिए उपयुक्त सिद्ध हुई।

एकेश्वरवाद की दृष्टि से भी इस सम्प्रदाय की भावना, वेदान्त-भावना के समान ही थी, अत: हिन्दू और मुस्लिम दोनों के लिए यह समन्वित-धर्म उपयुक्त पड़ा। उनके निर्गुन राम, भक्ति के आलम्बन हुए और सब प्रकार के आडम्बरों को दूर हटाकर उन्होने एक-मात्र आचार-धर्म पर अनेक विचारों को केन्द्रित किया जिससे मनुष्य का नैतिक विकास हुआ। इसी के आधार पर राम-रहीम और काबा- काशी का भेद मिटा देने का प्रयत्न हुआ।

तंत्रवादी शाक्तो के प्रति कबीर की उपेक्षा स्थान-स्थान पर मिलती है। वैष्णव-समाज तांत्रिकों के सदैव प्रतिकूल रहा है, अत: कबीर मे पाई जानेवाली हिंसा आदि की उपेक्षा में इसी वैष्णवता का प्रभाव जान पड़ता है। यह वैष्णव प्रभाव कबीर में बहुत प्रमुख है। प्राय: निर्गुणवाद बहुत कुछ वैष्णव प्रभाव के

आधार पर ही आश्रित कहा जा सकता है। केवल अवतारवाद तथा मूर्ति-पूजा का विरोध अवश्य इस्लामी प्रभाव द्वारा आया। दूसरे, दाम्पत्य प्रेम का रूपक लेकर जिस प्रेम की पीड़ा की अभिव्यंजना निर्गुणवादियों ने की, वह सूफी सम्प्रदाय से आई हुई जान पड़ती है। इस प्रकार संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि वैष्णव तथा सूफी प्रभाव ही निर्गुण पंथ के निर्माण में प्रमुख है।

केवल कर्मकाण्ड की प्रमुखता के कारण तथा कर्मकाण्ड को लेकर वाद-विवाद में लग जाने के कारण, धर्म की समस्या जटिल हो रही थी। ऐसे समय में कबीरपंथ ने सर्वसुलभ मार्ग-प्रदर्शन करके जनता को सहारा दिया। जन-साधारण को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अवलम्बन मिला और धीरे-धीरे इस प्रभाव से प्रेरित होकर अगणित सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और थोड़े बहुत अंतर से उसी एक सिद्धान्त का प्रचार करने लगे।

सतनामी सम्प्रदाय एक ऐसा ही सम्प्रदाय था जो कि १९वीं शताब्दी वि० के प्रथम चरण में स्थापित हुआ। जगजीवनदास चंदेल इसके संस्थापक थे जिनका उल्लेख प्रथम अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है। यह सतनामी सम्प्रदाय, कबीर के समान ही, अवतारवाद की उपेक्षा, निर्गुण की उपासना, गुरु में दृढ़ आस्था, बाह्याडम्बर आदि की व्यर्थता का सिद्धान्त स्वीकार करता है परन्तु एक दृष्टि से देखने पर ऐसा अनुमान होता है कि इसमें बहुदेवोपासना की झलक स्पष्टतः विद्यमान है; स्थान-स्थान पर अनेक देवताओं का उल्लेख उनके भक्तों के निस्तार के सम्बन्ध में किया गया है। राम और कृष्ण इनमें प्रमुख है। यद्यपि इनका पर्यवसान निर्गुण ब्रह्म में ही होता है:

"विपुन ताहि कर कीन्ह, जे बैरी भे भक्त के,
युग-युग ऐसे कीन्ह, भक्तन पर दाया करी।"[१]

इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने रावण मारा, लंका जलाई, विभीषण को तिलक किया। कंस, कृष्ण-भक्तों को सताता था, अतः कृष्ण के नाम से यादव-बालक होकर अपने जनों की रक्षा की।

"रावन औ हरनाकुस मारा कछू बिलंब न लाई।
नर केतान कवनि गिनती मंह कीट की नहिं समताई।"[२]

अनेक भक्तों का उल्लेख बार-बार किया गया है जिससे पौराणिकता की

---

१. मनपूरना, जगजीवनदास कृत, ह० लि०, (महन्त जगन्नाथ बख्श दास कोटवा, बाराबंकी, से प्राप्त)

२. बानी, भाग १, पृष्ठ ४८, श० २१, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

ओर प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महावीर जी के जन्म की कथा इसको व्यक्त करती है।[१] जगजीवन जी के ग्रन्थ गुरु-शिष्य-संवाद अथवा शिव-पार्वती-संवाद या नारद-ब्रह्मा-संवाद के रूप में लिखे गए हैं। इससे भी पौराणिकता का परिचय मिलता है।[२] कर्मकाण्ड की ओर भी विशेष विरक्ति नहीं दिखलाई पड़ती; हवन होता है, उसकी राख का तिलक मस्तक पर लगाया जाता है, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्पहार, कपूर, पान, सुपारी, भोग आदि का विस्तृत उल्लेख सद्गुरु की उपासना के सम्बन्ध मे मिलता है :

पान चून और खैर सुपारी, गरी जायफल दोहरा,
कपूर इलायची मेवैं खवावों, पूजा इहै हमारा।
कटहर कोवा मेवा ल्यावों, सोऊ पावों प्यारा।५।[३]

मंगलवार तथा रविवार को हनुमान और सूर्य की उपासना के लिए व्रत भी रक्खे जाते हैं। जहाँ तक साकार उपासना का संबंध है महावीर हनुमान की उपासना इस सम्प्रदाय मे प्रचलित है। प्रति मंगलवार को इस सम्प्रदाय के अनुयायी, उनकी मूर्ति के सम्मुख धूप जलाते हैं।[४] स्वयं जगजीवन जी ने हनुमान की स्तुतियाँ लिखी हैं, जिनमें पौराणिकता का पूरा समावेश है। उनके जन्मदिवस, कार्त्तिक चतुर्दशी मगलवार का उल्लेख करके पूजा का विधान किया गया है। 'स्वयं पवित्र होकर तथा भूमि को पवित्र करके, कोई लाल वस्त्र बिछाकर पवित्र प्रसाद आगे रखे ; लाल तिलक लगा, दो नारियल मगाकर 'आगच्छ' 'तिष्ठ' कहकर हनुमान जी का आवाहन करे। मंत्र का जाप करके धूप, पूजा चढावे, हृदय मे रूप का स्मरण करके मस्तक नवावें और फिर स्थापना करें। इसके बाद प्रशाद बाटे। महावीर उसके विकट कष्टों को काट देते हैं।' उक्त कथन मे बहुत कुछ कर्मकाण्ड लक्षित होता है।

उक्त विशेषताओं को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि जगजीवन जी ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों को, यथासम्भव व्यावहारिक बनाए रखने का प्रयत्न किया था। कुछ तो ऐसा अनुमान होता है कि समाज मे प्रचलित कर्मकाण्ड, पौराणिकता, मूर्ति-पूजा, बहुदेवोपासना आदि को दूरकर पाना असम्भव समझ-

---

१. "जन्म साखी महावीर जो" ज० जी० कृत, (ह० लि०)
२. परम ग्रंथ, मनपूरना, ज० जी० दास कृत, (ह० लि०)
३. शब्दावली भाग २, पृ० ११, श० २८, जगजीवनदास कृत, वेलवेडियर प्रेस
४. "जन्मसाखी महाबीर जो" ज० जी० दास कृत (ह० लि०), महन्त जगन्नाथ बख्श दास, कोटवा, बाराबंकी से प्राप्त।

कर उन्होंने इन साधनों को अपना लिया हो। महावीर हनुमान की उपासना का क्रम देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि सम्पूर्ण रूप से निर्गुणोपासक सम्प्रदाय में मूर्तिपूजा का इतना पुट कहाँ से आ गया !

बाबा जगजीवन दास जी के गुरु श्री विश्वेश्वरपुरी, शैव थे। कुछ सतनामियों का यह विश्वास है कि इनके सम्प्रदाय के अनुयायियों द्वारा कलाई में धारण किया जानेवाला "आंदू" नामक काला-श्वेत धागा, शंकर के सर्पों का प्रतीक है। इसी प्रकार गले में पहनी जानेवाली "सेली" का रंग भी काला श्वेत मिश्रित होता है। यह भी वही संकेत देता है। "आदू" शब्द का अर्थ बेड़ी अथवा हाथी बांधने का सीकड़ होता।[१] सतनामी सम्प्रदाय के पहुँचे हुए महात्मा पैर में एक लोहे का कड़ा पहना करते थे। सम्भवतः यही नाम इस धागे को दे दिया गया है। सांकेतिक अर्थ इस नाम का, यह भी सम्भव है कि जिस प्रकार पैर में सीकड़ डालकर अथवा बंधन में रखकर हाथी की उच्छृंखलता दूर की जाती है उसी प्रकार यह धागा ग्रहण करना अपनी वृत्तियों को वशवर्ती करने का प्रतिज्ञा-चिह्न है। जो हो, यह धागा सतनामियों का प्रमुख चिह्न है। दूसरी वस्तु चौगोशिया टोपी है जो प्रत्येक सतनामी पहनता है, इसके उपरान्त काले विभूति के तिलक का महत्व है जो हवन कुण्ड से राख लेकर मस्तक पर धारण किया जाता है। वेश की और कोई विशेषता सतनामियों में नहीं पाई जाती क्योंकि गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी इन्हें उपासना का अधिकार प्राप्त है। अतः ये साधारण वस्त्र, कुरता, धोती आदि धारण करते हैं।

गृहस्थाश्रम में रहने के कारण, कबीर के समान, जगजीवन जी ने भी आचार-धर्म पर विशेष बल दिया है। उन्होंने जीवन में सात्विकता बरतने का उपदेश बराबर दिया है। सत्संग, निश्छलता, अहिंसा, सत्य, संतोष आदि को अपनाने की बराबर प्रेरणा दी गई। ये ईश्वर तक पहुँचने के सफल साधन हैं। भक्ति का विकास इनके बिना हो नहीं सकता। वास्तव में ये सब गुण, मन को वश में करने से प्राप्त हो सकते हैं। सतनामी सम्प्रदाय में मन को वशीभूत करना ही सर्वश्रेष्ठ योग है :

> "मनहिं चढ़ावैं मनहिं उतारैं, मन थिर होइ ठहराना रे।
> मन संग प्रान पवन सुख पावैं, तबहीं जोग दिढ़ाना रे॥"[२]

काया को कष्ट देकर योग-साधना के पक्ष में जगजीवन जी नहीं थे :

---

१. हिन्दी शब्दसागर, ना० प्र० सभा, पृ० २१५।

२ महाप्रलय, ह० लि०, जग० जी०

"काया नष्ट करै जो कैसो सूझि बूझि नहिं आवै रे।
पवन वंद करि गगन चढावै ऐसी भक्ति न भावै रे॥"[१]

संवाद शैली में लिखे हुए सतनामी भक्तों के काव्य, सत्संग की महिमा प्रतिपादित करते हैं। गुरु-शिष्य-संवाद में उपदेश द्वारा, धर्म तथा साधना-उपासना के रहस्य खोलने का प्रयत्न किया गया है। "सतसंग ही सतनाम की निशानी है।" (मनपूरना)। गुरु का उपदेश है कि "कुमति त्यागकर सुमति ला, सुमिरन कर और कुसंग त्याग दे" (मनपूरना)। निश्छलता मन को पवित्र करने का साधन है। इसके लिए आडम्बर, मिथ्या आदि का त्याग करना आवश्यक है। केवल वेश बनाने से कोई लाभ नहीं। वास्तव में भगवन्नाम से परिचय होना चाहिए। संसार को धोखा देने से मुक्ति नहीं होती :

नाम ते पारिख परिचय नाहीं, भेप सवांरि फिरै जग मांही।
जग जानै हरिजन आही, उनतै राम ते परचै नाही॥[२]

"कलि आने पर लोग विवादी हो जाते हैं। पढ़ लिखकर पंडित बकलाई करते हैं। भक्त-वचन उन्हें भले नहीं लगते। पाखंड अधिक, हरि से हेत कम रहता है। यही कलि की भक्ति है।" (मनपूरना)

तिरथ बरत कहूं सब कोई धावै। जेहि का जौन समुझि मन आवै॥
काहू समुझि अचार विचारा। काहू चंदन तिलक संवारा॥
काहू पुतरी बहुतक आनी। पूजहिं चित हित बहुत बखानी॥

× × ×

बहुतन अलप अहार विचारा। बहुतन दूध कीन्ह फरहारा॥
बहुतक कंदमूल खनि जंगल खायो जाइ।
सुत बनिता का त्यागि कर कतहूं कुछो न पाइ॥[३]

मिथ्या-भाषण इस कलियुग का सबसे बड़ा दोष है। "यह संसार में प्रधान हुआ, लोग दिन रात झूठ बोलने लगे। सत सुकृत नष्ट हो गए।"

सत सुकित ते मनते गयऊ। झूंठी कहत रात दिन रहेऊ।
झूठै भएउ जन्म संसारा। तरत न सुन्दर वृथा संवारा॥[४]

झूठ को ही सब सच्चा कहते हैं और सच्चे को देख मन में संकोच होता

---

१. महाप्रलय
२. परम ग्रंथ, ह० लि०
३. वही
४. वही

है। जो दूध आदि का आहार करके रहे वह तो सिद्ध कहा जाता है चाहे उसके मन में भजन भाव न हो।

> कलि वक्ता सो भक्त कहावै, चुपके जपै तेहि मिथ्या गावै।
> पय जो पियै सिद्धि कहै सोई, मन मंह भजन नहीं है कोई ॥[1]

कलि में "माया की ओस-पिपासा में मनुष्य अतृप्त आकांक्षाओं को लेकर भटकता है।" मन की अस्थिरता, संशय आदि के कारण पाप की खानि उत्पन्न होती है। ज्ञान सुमति की हानि, शील, सुखवाणी, संतोष, क्षमा, आवभाव-रीति का अभाव, कपट-प्रीति, कुमति, अपकार, दया, धर्म की नितान्त हीनता, स्वार्थ-भाव आदि ही शेष रह गए हैं।[2]

हिंसा, धर्म-नाश का एक मात्र कारण है। यह हिंसा नरक में पड़ने का साधन है। जो लोग पराये प्राण मार कर पूजा करते हैं, वे अनेक जन्म नर्क में पड़ते हैं। ऐसे लोग माला-मुद्रा-तिलक लगाते हैं और बेदर्द होकर जीव को मारते हैं। वे भवानी की स्थापना करके पूजा करते हैं और क्रूरता धारण करते हैं।

> थापि भवानी पूजा करहीं, होंय बेदर्द सोई चित धरहीं।
> अजया मेंड़ा शूकर मारहिं, शीश ताहि के पानि उधारहिं।
> कर खुर धोवहिं भाम करि अक्षत माथ लगाइ।
> काटत दरद न आई, लेउ भवानी आइ ॥[3]

ऐसे लोगों को यह ध्यान नहीं है कि यद्यपि वध किया हुआ जीव अपना कर्म-भाग भोगकर जहाँ से आया था वहीं चला गया, ससार में जन्म लेकर भाग्य-लेख के अनुसार भुगत गया परन्तु वह फिर वधिक से अपना बदला चुकाने संसार में आवेगा और वधिक ने घट-घटवासी भगवान् को भुलाकर, जैसे हिंसा-कर्म जिह्वा के स्वाद के लिए किए है उसी के अनुसार उसे भोगना पड़ेगा।

> जो जस करिहु सो तैसा पाइहि। दांव लेन वोह फिरि जग आइहि ॥
> मारा जीव सुगंध लगावा। सालन करिकै स्वाद बनावा ॥
> जे उपजायो तेहि सिधि नाही। करता पुरुष सकल घट माही ॥[4]

उक्त दुर्गुणों को त्यागने वाला व्यक्ति ही संत है। ये कर्म और धर्म दोनों से न्यारे हैं, पाप पुन्य से परे हैं, सदैव गुप्त रहते है। तीर्थव्रत से ये निवृत्त है।

---

१ मनपूरना, ह० लि०

२. परमग्रंथ, ह० लि०

३. मनपूरना, ह० लि०

४. परमग्रंथ, ह० लि०

ये निरंतर सुरति-छवि-जल में स्नात हैं और अमृत सत्य की छाया में रहते हैं। ये निरन्तर गुरु के चरणों मे बैठकर ज्ञान प्राप्त करते हैं और तब (परमात्मा के) बाह्य रूप की चर्चा करने वाले हैं।

करम भरम दुनहूँ ते न्यारे, निरखि परखि छवि रहहिं विचारे,
तिरथ बरत के आसा नहीं, सुरति छवि जल निरखि नहाही।
नितहिं नहान करैं तहँ सोई, और क आश न राखै कोई,
गुरु के पास बैठि गुन पाई, तब बाहेर की कथा चलाई।[1]

ऐसा पुरुष संसार त्याग देता है और सम्पूर्ण वेशभूषा तथा माया से मुक्त हो जाता है। केवल अपने अंतर में चित्त लगाता है। यद्यपि वह संसार में निवास करता है, परन्तु अत्यन्त युक्तिपूर्वक, क्योंकि वह किसी से भी लिप्त नहीं होता:

"तजि जग संग भेष सब माया, होय न्यारा अन्तर चित लाया,
जग संग वास जुक्ति ते रहई, लिप्त नहीं काहू ते रहई।"[2]

"ऐसे ही महापुरुष को उस सत्य की प्राप्ति होती है जो संसार का आदि कारण है और जिसमे सारा संसार पर्यवसित होता है। जल-प्रलय के बाद जो सृष्टि-विध्वंस होगा उसके बाद ज्योति से ज्वाला की उत्पत्ति होगी। केवल एक योजन शेष रहेगा। इसके बाद यह भी घटते-घटते जोति-प्रमान रहेगा। यह जोति महा निर्मल, निरवान, अलख है। यह जोति, शब्द में समायगी, केवल शब्द रह जायगा; शब्द, शून्य मे लीन होगा; अनेक कल्प शून्य रहेगा। निरंकार निर्गुन शब्द के जाने पर भी शून्य वर्तमान रहेगा। इस शब्द-ब्रह्म से परिचय प्राप्त करने के लिए केवल ज्ञान ही आवश्यक नही है। भक्ति-सुरति के बिना इसकी प्राप्ति असम्भव है। इस शब्द को बिरला ही जानता है। ज्ञानी व्यक्ति जानता है अवश्य, परन्तु यदि वह भजन भाव नही करता, विवेक नही रखता तो उसका जन्म व्यर्थ है। क्योकि सिख पढ़कर भी जो व्यक्ति हठ करता है वह नरक में पडता है। मुक्त नही होता, जंजाल मे पडा रहता है।" इस निरंकार को प्राप्त करने के लिए दृढ़ आस्था की आवश्यकता है, जिसके हृदय मे दृढ़ विश्वास है उसके सम्मुख वह प्रकट होता है। "निरंकार निर्गुण प्रकट है, छिपा नही, जो उसे नही मानता वह उसे शरण नही लेता।" यह निरंकार काल-रूप है। ससार को समय आने पर अपने में पर्यवसित कर लेता है। निरंकार के मन में आई तो वह रूप-धारण करके सबको खाता है, कोई बचता नही।

---

१. परमग्रंथ
२. मनपूरना

"भक्ति सुरति मन जीव एक होइ, जोतिहिं जोति समाइ रे।"
आगे भानु, बेवान, शशि, तारा, शेष, महेश, ब्रह्मा, लोक, इन्दु, नरक, बैकुंठ ब्रह्म, बाम, धाम कुछ भी नहीं रहेगा, सब कुछ एक जोति में मिल जायगा। इस प्रकार महाप्रलय होगी। और इस महाप्रलय के बाद फिर शून्य से सृष्टि की उत्पत्ति होगी। महाप्रलय के व्यतीत होने पर बहुत कल्प तक शून्य रहेगा। इसके बाद इच्छा उत्पन्न होगी। शून्य में शब्द, सोऽहं करके घुमड़ेगा, बाद में न्यारा होगा। इसके बाद शब्द मध्य में चमककर निरंकार होगा। यह निरंकार एक जोति प्रकाशित करेगा, यह जोति निर्गुण से अलग होगी और आदि जोति कहलायगी। यह जोति "सत अस्थान मध्य करि आसन, सृष्टि करै अनुसारा रे।" सृष्टि का संवरण करती है। यह माया हुई और इच्छाचारिणी हुई। इससे ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीन लोक, रवि, शशि, शेष आदि बनाए, शेष के मस्तक पर पृथ्वी का भार दिया, यह सब एक क्षण में निर्मित कर दिया। इस सृष्टि प्रसार के साथ मोह उत्पन्न हुआ जिसके प्रभाव में पड़कर विस्मृति, अनुराग आदि से प्राणी भटकने लगा। इस प्रकार प्रलय से सृष्टि और सृष्टि से प्रलय का क्रम चलता रहेगा। और यह सब "जानि परत सब संग ज्ञान सें प्रकट कहत हौ सोई रे।" (महाप्रलय)।

ऐसे विराट स्वरूप को महात्मा लोग हृदयंगम कर पाते हैं। इसको हृदयंगम करने का एक मात्र नाम–"स्मरण" है। "राम अच्छर दुइ अच्छर नाही, करता पुरुष आदि सो आही।" राम नाम के केवल दो अक्षर नहीं है, वरन् आदि कर्ता पुरुष है। यह जोति का प्रकाश करते हैं। यह काया में निर्मल होकर विद्यमान हैं। (परमग्रंथ)। शंकर ने पार्वती से अपनी साधना के फलस्वरूप राम का ब्रह्मस्वरूप देखना कहा है। यद्यपि वे दशरथ कौशल्या के पुत्र थे तथापि वे अनादि, अनन्त थे। लोग उनको बालक कहते थे परन्तु उनका अंत किसी को न मिला। इस निर्गुण स्वरूप को "कलि में जिन्होंने सुधारा है उन्होंने गुरु से राम-मंत्र लिया है। राम के अक्षरों का स्मरण करते-करते यह अक्षर अलख, अमूर्ति हो गए, ब्रह्माण्ड में इनका प्रसार हो गया, इनका रूप अवर्ण्य हो गया।" इस 'नाम-स्मरण से निस्तार होता है। नाम को आदि कर्ता पुरुष समझकर स्मरण करें।" (नाम तो आही आदि अनादी। सुमिरण बिना जन्म है बादी।) हाँ, यह बात अवश्य है कि इस कलिकाल में लोगों के हृदय में नाम के प्रति आस्था नहीं है क्योंकि लोगों को उसमें न तो कोई रस मिलता है और न उसके स्मरण से तत्काल फल, इस कारण लोग विमुख हैं।

सुमिरत मीठ न षटरस लागा, को सुमिरइ कवने अनुरागा।
नहिं कछु तुरतइ परचै परई, केहि हित लागि पच्छ दिद धरई।
यहि कलि धीरज धरै न कोई, नाम ते परचै केहि विधि होई॥[1]

इसलिए दृढ आस्था की आवश्यकता है :

गुप्त प्रगट समुझा चहै, भजै नाम करि हेत॥
काया आसन दिढ़ करै, सुमिरत रहै सचेत॥

सुमिरन रंग पागि रस रहई। संशय नाम अनल ते दहई॥[2]

और इस अजपा-जाप का निरंतर जप करते हुए सुरति संभालनी चाहिए। मरकटी-सुत, मकड़ी के जाले और भृंगी-कीट न्याय से मन को गगन में लगा दे और "मन की मणि" प्राप्त करे।

"जिनका सुमिरन सूत, दाया करि प्रभु दृढ़ कियो।
तवही मन मजबूत, इत उत टारे ना टरै॥"[3]

इस प्रकार संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सतनामी सम्प्रदाय के प्रमुख सिद्धान्त, प्रधानतः कबीर-पंथ से मिलते जुलते हैं। मानव-धर्म का निचोड़ कबीर ने प्रस्तुत किया था। उनमे सांसारिक जीवन की सात्विकता की ओर विशेष प्रेरणा थी। सतनामी संत यद्यपि पारिवारिक जीवन व्यतीत करते हुए भजन-भाव मे संलग्न रहते थे तथापि उन्होने सद्गुणो को ही ईश्वर-प्राप्ति का साधन स्वीकार किया है। कबीर की झाड़-फटकार, डाट-डपट उनका आदर्श नही है और न साम्प्रदायिक-ऐक्य ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इस्लाम-सम्बन्धी विचारों का उपयोग इन सिद्धान्तों में नही मिलता। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति इनकी दृष्टि में अधिक व्यावहारिक तथा श्रेष्ठ है, क्योकि ज्ञान मे जड़ता है और भक्ति में सहृदयता। हठयोग की साधना कष्ट-साध्य है, अतः सतनामियो को प्रिय नही है; वे शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देने के पक्ष में नहीं हैं। डा० बड़थ्वाल ने, फरकुहर के आधार पर, इन सतनामियो में 'गायत्री क्रिया' नाम की प्रथा का उल्लेख किया है जिसके अनुसार, सम्प्रदाय के अनुयायी अघोर पंथियो के समान मल-मूत्र का भक्षण कर जाते है।[4] परन्तु सतनामियों से पूछने पर उन्होंने इसका घोर प्रतिवाद किया है। सम्भव है कि कोई व्यक्ति-विशेप इस प्रकार की क्रियाएँ करने लगा हो। अतः इसका आरोप सम्पूर्ण सम्प्रदाय पर करना अनुचित होगा।

१, २, ३. परमग्रंथ, ह० लि०

४. निर्गुण स्कूल आफ हिन्दी पोइट्री, पृष्ठ २०९

कबीर के अनुरूप, गगन, गुफा, सुरति, सुन्न, दीद, मण्डल, तारी, अमृत, झरना, पांच पंडा आदि रहस्यात्मक शब्दावली का व्यवहार सतनामी ग्रन्थों में भी मिलता है। ये ग्रन्थ, प्रबंध तथा मुक्तक, दोनों ही रूपों में उपलब्ध है। प्रबंध-ग्रंथ संवाद-शैली में लिखे हुए है और मुक्तक, पद-शैली में। प्रथम पर मानस का और द्वितीय पर सूर और तुलसी दोनों का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। संवादो में गुरु-शिष्य, शंकर-पार्वती, ब्रह्मा-नारद आदि संवाद प्रधानत: प्रयुक्त हुए है। पदों की शैली कुछ तो शांत भाव को लेकर चली है और कुछ दाम्पत्य-रति के रूपक को लेकर, भक्ति की तीव्र वेदना को व्यक्त करती है। सूफी सम्प्रदाय का यह प्रभाव इन कवियों के काव्य पर कबीर द्वारा पहुँचा है, इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। सावन, हिंडोला, वसन्त, फाग [1] आदि के आधार पर इन प्रेम-वियोग-विषयक भावनाओं का व्यक्तीकरण हुआ है।

इस प्रकार सतनामी सम्प्रदाय की विचारधारा, अपने परम्परागत सिद्धांतों को लेकर ही चल रही थी। इसके अनुयायियों ने प्रचुर साहित्य प्रस्तुत किया है जो कि विचार और अनुभूति की दृष्टि से पूर्ण है। अवध प्रान्त ने इतने महत्व-पूर्ण सम्प्रदाय को जन्म देकर उसकी व्यावहारिक विचारावली के द्वारा लोक-जीवन-संस्कार का प्रशंसनीय गौरव प्राप्त किया, इसमें सन्देह नही।

सूफ़ी-प्रेमकाव्य

८वीं शताब्दी के आरम्भ मे मुसलमानों ने भारतवर्ष पर अपने आक्रमण आरम्भ किये। धर्म-प्रचार की प्रेरणा से किए गए इन आक्रमणों से देश अशांत हो उठा। सिन्ध और पजाव प्रदेश, युद्ध-क्षेत्र बन गये और अरबो और आर्यों के रक्त से वहां की भूमि रंजित हो गई। मुहम्मद बिन कासिम द्वारा दाहिर की पराजय ने सिंध में अरबों के पैर जमा दिए, किन्तु संघर्षमयी परिस्थितियों के कारण अरबों की यह विजय स्थायी न हो सकी, बहुत थोड़े समय में उनका राजनैतिक महत्व, देश में निर्बल पड़ गया। परन्तु इसमें सन्देह नही कि सांस्कृतिक दृष्टि से इस्लाम पर भारतीयता का बहुत प्रभाव पड़ा। यहां आकर और भारतीयों की ऊँची संस्कृति को देखकर अरब आश्चर्य में पड़ गए और उन्होंने यहां से बहुत कुछ सीखा भी। इन्होने देखा कि इस्लाम-धर्म के प्रमुख सिद्धांत, एकेश्वरवाद, से भारतीय पूर्णतया परिचित हैं, साथ ही जीवन को उच्च बनाने वाली अन्य कलाओं में भी वे पारंगत हैं। इन सब का अरबों पर

१. शब्दावली, भाग २, जगजीवनदास, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग

प्रभाव पड़ा। आक्रमणकारियों के साथ आए हुए अनेक मुस्लिम फकीरों की विचारधारा, भारतीय भक्तिवाद की तरंगों में डूबने लगी। यहां से उनका एकेश्वरवाद, भारतीय अद्वैतवाद से प्रभावित हुआ, जिसके आधार पर उन्होंने ब्रह्म, जीवात्मा और जगत को मूलतः एक ही स्वीकार करना आरम्भ किया। इस प्रकार उनके सिद्धान्त, वेदान्त से प्रभावित हो गए। इन सिद्धातों को स्वीकार करने वाले मुसलमानो के प्रति, कट्टरतावादी मुसलमानों के मन में उपेक्षा के भाव उत्पन्न हो गए, क्योकि उनकी दृष्टि में ये व्यक्ति धर्मभ्रष्ट काफिर हो गए थे। फिर भी ये (सूफी) अपने निज के सिद्धान्तो पर चलते रहे। भक्ति से प्रभावित होने के कारण इनका हृदय स्नेह से ओत-प्रोत था, यही कारण है कि "इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन दशाओं को सामने रक्खा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एकसा प्रभाव दिखाई पड़ता है।"[१] इस प्रकार इन्होंने हिन्दू-मुस्लिम समस्या को बहुत कुछ सुलझाने का प्रयत्न किया। हा, भक्ति की प्रेरणा से रचित साहित्य मे प्रायः पौराणिक कथाओं का माध्यम ग्रहण किया जाता था, परन्तु सूफियों ने उसे और भी बंधनमुक्त करने के लिए पौराणिक आख्यानों के बदले लोक-प्रचलित कथानकों का आश्रय लेकर ही अपनी बात जनता तक पहुँचाई।

भौतिक-सौन्दर्य की प्रशसा सूफियों की एक विशेषता है। परन्तु उनके सिद्धान्तों के अनुसार 'सासारिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम तक पहुँचने की सीढ़ी है।' सासारिक प्रेम का उल्लेख उन्होंने जनसाधारण को अलौकिक प्रेम की ओर प्रेरित करने और उसे सर्वग्राह्य बनाने के लिए किया है। अपने इस प्रतीकवाद द्वारा वे जनसाधारण को दैवी-प्रेम का स्वरूप दिखलाना चाहते है। इस प्रकार उन्होंने आधिभौतिक तथा इन्द्रियजन्य प्रेम का विलक्षण सम्मिश्रण किया है। और यह प्रवृत्ति फारस के तथा भारतीय प्रेम-सगीत में बहुत कुछ व्यक्त हुई है।[२]

सूफियों के अनुसार जीव परमात्मा का अंश है और वह निरंतर अपने उस आदि उद्गम मे लीन हो जाना चाहता है जहां से उसकी उत्पत्ति है, इसी प्रयत्न में वह निरंतर संलग्न है और इसी से उसका हृदय व्याकुल है। इस तादात्म्य का एकमात्र उपाय है—तन्मयता, और जीव इसी तन्मयता मे मग्न होकर अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है।[३] इस तन्मयता की गूढ़ अनुभूति तथा अपने

---

१. इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ११४

२. ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर, राम बाबू सक्सेना, पृष्ठ २७।

३. रेलिजिन्स, डब्लू क्रुक (इम्पीरियल गजेटियर्स आफ इंडिया, १९०७-९, पृ० ४३७)

उपास्य की सर्वव्यापकता के आधार पर ही सूफी के हृदय में रहस्य-भावना उत्पन्न होती है। "वह अंतःकरण के अनुभूति खंड के भीतर उस अखंड ज्योति का साक्षात्कार करता रहता है। वह जो कुछ देखता है, सुनता है उसके पर्दे में एक रहस्यमयी, परोक्ष शक्ति की भावना करता है और कभी-कभी उस भावना में अपनी अलग सत्ता बिल्कुल भूल जाता है।"[1]

साधारणतया सूफियों के आचरण-सम्बन्धी सिद्धांत इस प्रकार दिए जा सकते हैं :—धर्म के लिए कष्ट सहन करना, ईश्वर के लिये सर्वस्व त्याग करना, सांसारिक आडम्बर तथा अहंकार का त्याग करना, जन-साधारण द्वारा अभिलषित विलास-वैभव तथा शक्ति का त्याग करना, ईश्वरार्पण बुद्धि से संसार में एकांत जीवन व्यतीत करना : इत्यादि, सूफी धर्म के प्रमुख सिद्धांत हैं।[2]

मसनवी फारसी की प्रबन्ध-काव्य शैली है। सूफियों ने इसी शैली को अपनाया है। बधे हुए परम्परागत नियमों के अनुसार, ईश्वर-वन्दना, मुहम्मद साहब की स्तुति, सम्राट की प्रशंसा, कवि का अपना परिचय, नम्रता आदि का कथन करके कथा का आरम्भ होता है।

कथा का नायक कोई सम्भ्रान्त कुलोद्भव राजा अथवा राजकुमार होता है, जिसके हृदय में प्रेम की प्रतीकस्वरूपा अपनी प्रियतमा को प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न होती है। इस प्रेम की तन्मयता इतनी तीव्र हो उठती है कि राजकुमार अपने सांसारिक वैभव को त्याग कर, कठोर साधना के पथ पर निकल पड़ता है। उसका मार्ग पद-पद पर कंटकाकीर्ण होता है परन्तु अपने कुछ चुने हुए मित्रों के साथ वह सफलतापूर्वक एक-एक सीढ़ी चढ़ता है। इस साधना में हठ-योग की अनेक क्रियाओं का प्रतीकात्मक वर्णन कवियों ने किया है। अंत में साधक अपने लक्ष्य तक पहुंच कर अपने प्रिय अथवा उस सत्ता का साक्षात्कार कर लेता है, जिसके लिए वह असीम व्याकुलता लेकर चला था।

सम्पूर्ण कथा यद्यपि अनेक खंडों में विभाजित रहती है तथापि उसका विभाजन प्रमुख घटनाओं के आधार पर ही होता है और इन्हीं घटनाओं के आधार पर अध्यायों का नामकरण भी किया जाता है। उदाहरणार्थ "जोगी ढूंढन खंड" "राजा गढ छेंका खंड" इत्यादि।

वर्णन-विस्तार इन कथाओं की विशेषता है। राजसी-वैभव, नखशिख, युद्ध-सामग्री, आभूषण, घोड़े, भोजन-सामग्री आदि का वर्णन सांगोपांग किया हुआ

---

१. जायसी ग्रंथावली, प० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १९५

२. ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर, राम बाबू सक्सेना, पृष्ठ २७

मिलता है। इन कथाओं में बारहमासा भी लिखने की परम्परा चल गई थी और इसका प्रयोग, वियोग की तीव्रता का प्रदर्शन करने के लिए ही होता था। प्रकृति का वर्णन प्रायः हृदय की अनुभूतियो को व्यक्त करने के लिए ही किया गया है अर्थात् उसे हम उद्दीपन के रूप में ही पाते हैं।

शृंगार इन कथाओं का प्रधान रस है। वियोग-पक्ष विशेष प्रबल है क्यों कि सुदीर्घ विरह के द्वारा ही मिलन की उत्कट अभिलाषा का आभास दिया जा सकता है। सयोग का वर्णन अधिक नहीं रहता, तथापि संयोग का वर्णन करके वियोग को नवीनता और तीव्रता प्रदान करने में सरलता रहती है। वीर, भयानक तथा शान्त रस, गौण रूप में रहते है, अतः वीर-रस, नायक के गौरव की रक्षा किये रहता है, उसकी युद्ध-वीरता से उसका उदात्त चरित्र प्रत्यक्ष होता रहता है। भयानक के द्वारा नायक के साहसिक कार्यों का परिचय मिलता है; उसके साधना-मार्ग की भयंकरता का पता चलता है और शान्त भाव उसके जीवन की निर्लिप्त स्थिति को व्यक्त करता है। जगत् की क्षणभंगुरता दिखलाने के लिये वैसे भी कथा का पर्यवसान प्रायः शान्त में ही किया जाता है। पारिवारिक जीवन के आधार पर, भारतीय संस्कृति का चित्रण इन कथाओं में सहृदयतापूर्वक किया गया है।

इनकी शैली दोहे-चौपाई की है। इसमे संदेह नहीं कि यह शैली, प्रबन्ध-काव्य के लिए बहुत ही उपयुक्त प्रमाणित हुई है। तुलसी का मानस इसका पुष्ट प्रमाण है। यह दोहे-चौपाई की शैली, विदेशी देन नही है "आख्यान काव्यों के लिये चौपाई दोहे की परम्परा बहुत पुराने (विक्रमी ११वीं शती के) जैन चरित काव्यों में मिलती है।"[1] अपभ्रंश काव्यों में दस-दस बारह-बारह चौपाइयों (अर्धालियों) के बाद घत्ता, उल्लाला आदि लिखकर प्रबध लिखने का नियम बहुत पुराना है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यह दोहा-चौपाई-शैली केवल साधारण फुटकर काव्य के लिये नही वरन् प्रबध काव्य के लिए ही भारतीय साहित्य मे प्रचलित थी। इसकी उपयुक्तता ने ही इसे सूफी कवियों द्वारा ग्रहण किये जाने को बाध्य किया।

सभी कथाओं की भाषा अवधी है। इनके लेखक कवि, विशेष शिक्षित अथवा शास्त्र-ज्ञान-युक्त नही थे, अतः इनसे विशेष भाषा-संस्कार की अपेक्षा करना व्यर्थ है। इनका संस्कृत-शब्दावली का ज्ञान भी सीमित था अतः ये अपनी भाषा को साहित्यिक रूप न दे सके। इनकी विशेषता तो इनकी ग्रामीणता मे ही है, जो

---

१. इतिहास, प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ८४

यद्यपि कहीं-कहीं पर ग्राम्यदोष की सीमा तक पहुंच गई है तथापि प्रान्तीयता के नाते उसमें अपनी निज की मधुरता है। पूर्वी तथा पश्चिमी, अवधी के दोनों रूप इन कथाओं में प्राप्त होते हैं। गाजीपुर, अयोध्या, सुलतानपुर, बाराबंकी आदि स्थानों के अनुसार भाषा में भी परिवर्तन होता दृष्टिगत होता है। खड़ी बोली का पुट भी कहीं-कहीं दिखलाई पड़ जाता है परन्तु विशेषता ठेठ अवधी की ही है।

उक्त विशेषताओं से युक्त प्रेमगाथाओं की परम्परा में कासिम शाह कृत "हंस-जवाहिर" का स्थान प्रायः मध्यवर्ती पड़ता है। कुतबन, मंझन, जायसी, उसमान, शेख नबी आदि के बाद कासिम ने १७८८ वि० में अपने काव्य की रचना की थी।

"ग्यारह सै उंचास जो आजा, तब यह कथा प्रेम कवि साजा ॥"

११४९ हिजरी में इस काव्य का निर्माण हुआ था जो लगभग सं० १७८९ वि० पड़ता है। सम्राट् मुहम्मद शाह उस समय दिल्ली के सिंहासन पर आरूढ़ था जिसकी प्रशंसा कवि ने उदात्त शब्दों में की है।

"महम्मद शाह देहली सुल्तानू, कामी गुण वह कौन बखानू।
छाजे पाट चीर सर ताजा, नावहिं शीश जगत के राजा।
रूपवन्त दरशन मुह राता, भागवन्त बहु कीन विधाता।
द्रव्यवन्त धर्म मुह पूरा, ज्ञानवन्त खरग मह शूरा।
होय बलवन्त कटक कहि जोरा, देश बन्त चितवै चहुं ओरा।
नावैं शीश हिन्दू तुरकाना, कापे देश देश के थाना।
देश देश तंह के अमराऊ, कीन अचल होय करैं नियाऊ।"

इसके उपरान्त कवि ने अपने प्रदेश का वर्णन किया है।

"है लखनऊ अवध मंझियारा, दरियाबाद नगर उजियारा।
जहं मखदूम केर अस्थाना"

इस स्थान पर अत्यन्त महत्वशाली, पहुंचे हुए पीर, जगद्विख्यात मुहम्मदबख्श के पुत्र शेख मुहम्मद की छत्रछाया में कासिमशाह निवास करते थे। शेख मुहम्मद ने अपने चरणों में उन्हें स्थान दिया था।

"महम्मद बख्श जो जक्त बखाना।
धन मखदूम पंथ जिन दीना, ताही अचल नगर विधि कीना।
महि की कीर्ति कहां लगी गाऊँ, अयसे योग जीभ कहं पाऊ।
....
तेहि के वंश अधिक उजियारा, शेख महम्मद अलख पिआरा।
... ...

काजी थान सुन्याव चुकावै, कत हूँ अंत होय नहि पावै।"

ये शेख मुहम्मद बड़े न्यायी और यशस्वी काजी थे।

इसके बाद कवि अपना परिचय देता है :—

"दरियाबाद माझ मम ठाऊं, इमानुल्ला पिता कर नाऊं।
तहवा मोहि जन्म विधि दीना, कासिम नावं जात का हीना।
तिहू बीच विधि कीन कमीना, ऊँच सभा बैठन चित दीना।"

जान पड़ता है ये नीच जाति मे उत्पन्न हुए होगे। पता लगाने से ज्ञात हुआ कि ये चिडीमार थे और शाही पक्षियों की देख-रेख का काम इनके अधिकार मे था। अपनी महत्वाकाक्षा का उल्लेख करते हुए कवि कहता है कि इतना तुच्छ होते हुए भी मेरे मन मे विद्वान लोगों के निकट बैठने की अभिलाषा उत्पन्न हुई है (यह मेरी ढिठाई है) किन्तु वह अपनी महत्वाकांक्षा का कारण उच्च लोगों की संगति ही बतलाता है :

"ऊँचे संग ऊंच मन भावा, तो भा ऊंच ज्ञान बुध पावा।"

आगे क्षमा-याचना करके वह कथा का आरम्भ करता है :—

"अब तो कथा सुमिरि मैं गाऊं, खंड खड को बरणि सुनाऊं।
विनती सकल पंडितन आगे, हौं सेवक जिन कर पुछ लागे।
टूटे वचन लिखे भरजोरी, दुख न हीन धरियो बुधि मोरी।"

इसके उपरांत हंस-जवाहर की विस्तृत कथा है जिसका सारांश निम्नलिखित है :

"हंस, बलख के शाह बुरहान का पुत्र था। शाह की मृत्यु पर उसका मंत्री दौला मीर विश्वासघात कर बैठा और राज्य पर अधिकार कर लिया। हस माता सहित भाग निकला और रूम पहुँचा। रूम के शाह, मुहम्मद सुल्तान ने उसे पुत्र की तरह अपने यहा रक्खा। एक बार स्वप्न में उसने चीन की राजकुमारी जवाहर को देखा और उस पर मुग्ध हो गया। चीन की राजकुमारी, जवाहर की सखी एक परी थी जिसका नाम शब्द था। उसके परी होने का भेद केवल जवाहर जानती थी। राजकुमारी के इधर-उधर घूमने-फिरने से असंतुष्ट होकर उसके पिता आलमशाह ने उसे एक धौरहरे पर नजरबन्द कर दिया। अपनी रानी मुक्ताहर के कहने से उसने रानी की बहन और भोला शाह के पुत्र दिनौर के साथ कन्या का ब्याह निश्चित किया। जवाहर ने 'शब्द' को अपनी ससुराल का पता लगाने को भेजा। उसने लौटकर बताया कि उसका भावी पति दुराचारी और कुरूप है। जवाहर बहुत दुखी हुई। शब्द ने उसे सांत्वना दी तथा उपयुक्त वर खोज देने का वचन दिया।

पक्षी रूप धारण करके वह वर खोजने निकली और हंस के यहां पहुंची।

उसने हंस से जवाहर के सौंदर्य का विस्तृत वर्णन किया। इसके बाद हंस के हृदय में प्रेम की व्यथा उत्पन्न करके, एक सप्ताह में लौटने का वचन दे, वह उड़ गई। उसने जवाहर से हंस का वर्णन किया। उसका वार्तालाप एक दूसरी सखी ने सुना और मुक्ताहार से शिकायत कर दी। उसने शब्द का वस्त्र, जिसकी शक्ति से वह उड़ जाती थी, छीन लिया और उसे बन्दीगृह में डाल दिया। जवाहर के हृदय में भी प्रेम उत्पन्न हुआ और वह वियोग की व्यथा से पीड़ित हुई। उसने हंस को स्वप्न में देखा, और उसे आत्मसमर्पण किया। जब उसकी पीड़ा बढ़ी तब शब्द बुलाई गई, तभी जवाहर को कुछ सांत्वना मिली। शब्द को वस्त्र नहीं दिया गया परन्तु वह जवाहर के साथ रख दी गई।

जवाहर के विवाह का प्रबंध होने लगा; शब्द उसे धैर्य बंधाने लगी। विवाह की भीड़-भाड़ में, अपना वस्त्र खोजकर, हंस के पास जाने का प्रयत्न करने का उसने वचन दिया। उधर जब हंस प्रतीक्षा करते करते थक गया और शब्द न आई तो उसने वैराग्य लेने का निश्चय किया। उसको लुब्ध करके रोक रखने के लिए बड़े प्रयत्न हुए; अंत में निश्चय हुआ कि वह शिकार खेलने जाय। यहीं उसकी दशा बिगड़ी थी, शायद वहीं सुधर भी जाय। शिकार में हंस का बाज खो गया। उसने सबको उसे खोजने भेज दिया और आप निकल भागा। वह पर्वत पर चढ़ने लगा और थक कर एक स्थान पर सो गया। संयोग से चार परियां उधर से निकलीं। उन्होंने उसकी सुन्दरता देखकर उसे जवाहर के उपयुक्त वर समझा और उसे उठा कर ले गईं। उसी समय जवाहर के विवाह के लिये बारात जा रही थी। परियों ने आँधी चलाकर गड़बड़ में बर को बदल दिया और दिनौर को उड़ाकर जंगल में छोड़ दिया। बारात नगर के निकट पहुंची तो शब्द ने हंस को देखा। वह प्रसन्नतापूर्वक जवाहर को बुला लाई और उसको भी दिखाया। लोगों ने कुछ संदेह किया परन्तु ब्याह हो गया।

हंस और जवाहर मिले तब दोनों ने आपबीती कही। जवाहर ने उसे खीर बनाकर खिलाई और दोनों ने अंगूठियां बदल लीं। परियों ने विवाह हुआ जाना तो हंस को फिर पर्वत पर छोड़ आईं। दिनौर को जवाहर के कक्ष में छोड़ दिया और जवाहर को जगा दिया। जवाहर एक अपरिचित पुरुष को देखकर घबड़ा गई और उसने अपनी सखियों को बुलाया। सबने मिलकर उसे घर से निकाल दिया। माता ने उसे इस कार्य के लिए धिक्कारा परन्तु उसने कहा कि वह व्यक्ति उसका स्वामी नहीं है। दिनौर ने पिता भोलाशाह से अपने अपमान की बात कही और तुरन्त वहां से चलने को कहा। भोलाशाह ने आलमशाह के पास सन्देश भेजा। आलमशाह घबड़ाया। उसने पता लगाया तो ज्ञात हुआ कि

वर दूसरा था। काजी से साक्षी करवाई गई तो बात ठीक निकली। आलमशाह ने गौना देने से इनकार किया, इस पर युद्ध की तैयारी हो गई। इस समस्या का समाधान करने को एक सखी ने जवाहर से कहा। उसने मंत्री को बुलाकर कहा कि यदि दिनौर सचमुच मेरा स्वामी है तो वह बतला दे कि उसने मेरे हाथ से कहां पर भोजन किया था और मेरा चिह्न मुझे दे दे और अपना चिह्न (अगूठी) मुझ से ले ले। मैं उसे सच्चा मानूंगी। यह बात जब दिनौर से पूछी गई तो उसने स्वीकार किया कि जब आधी आई तो किसी ने उसे उठाकर बन में डाल दिया, जहा वह रात भर रहा; उसका ब्याह नही हुआ। इस पर भोलाशाह लज्जित हुआ। दिनौर योगी हो गया। वह वीर नाथ योगी के मंडप मे जा बैठा। उसने प्रार्थना की कि मेरी सहायता कीजिये, आलमशाह ने अपनी कन्या से मेरा विवाह करके मुझे निकाल दिया है। वीरनाथ ने कहा कि तेरी तपस्या पक्की होनी चाहिये तभी जवाहर तुझे प्राप्त होगी। वह वही तपस्या करने लगा।

दिनौर की माता समाचार सुनकर बहुत व्याकुल हुई। चारों परियां जब यह सब बखेड़ा खड़ा करके अपने घर पहुची तो उनके पिता ने उनसे रात भर बाहर रहने का कारण पूछा और ठीक उत्तर न पाकर उन्हें बन्दीखाने मे डाल दिया।

उधर हंस उसी पर्वत पर जगा और अपने जीवन की आनन्दमयी घटना का स्मरण करने लगा। बाज खोजने गए हुए सेवकों ने उसे वहाँ खोज लिया और समझाकर वापस लाये। आलमशाह ने जब उससे चीन जाने की बात सुनी तो विचारा कि किसी ने इस पर चाटक कर दिया है। हंस विरह से दुखी था, उसे चीन जाने को मिल नहीं रहा था। इधर जवाहर भी हंस के वियोग में व्याकुल थी।

दिनौर की माता महताब अपने अपमान का बदला लेने को उद्यत हुई। उसने अनेक प्रकार की सामग्री पर पढ़त फुकवाई और मुक्ताहर के यहाँ आई। दोनो मे वार्तालाप हुआ, उलाहना देने पर मुक्ताहर ने फटकारा। महताब जवाहर को मनाने चली। शब्द ने उसे सावधान कर दिया कि उसके हाथ का कुछ खाय-पहने नही अतः जवाहर ने उसकी सब बातें अस्वीकार कर दी। अन्त में महताब ने एक पान दिया जिसे जवाहर ने शब्द को दे दिया और उसने उसे एक दासी को खिलाया। वह दासी पागल हो गई। महताब का भेद खुल गया। वह लज्जित हो गई।

जवाहर बहुत व्याकुल थी। माता पिता को चिन्ता हुई। शब्द ने अपना

वस्त्र मांगा और चलने को प्रस्तुत हुई। मुक्ताहर के पूछने पर उसने अपना सच्चा परिचय दिया। मुक्ताहर ने उसकी बड़ी प्रार्थना की, उस का वस्त्र खोज दिया। वह पक्षी बनकर हंस के पास पहुंची और उसे बड़ी सान्त्वना दी। हंस घर त्याग कर चला। उसके मित्र साथ चले। सुल्तान ने चीन पर चढ़ाई करने का प्रस्ताव किया परन्तु हस ने प्रेम के मार्ग मे युद्ध उचित न समझा। वह अकेला चला। शब्द, मार्ग का प्रदर्शन करती चली। मार्ग मे सुमेरु पर्वत की घाटी के भोजलराय ने उसे बटमार समझा परन्तु अन्त मे उसके त्यागी और प्रेमी स्वभाव का परिचय पाकर उसको मार्ग दे दिया। लोनगढ़ के नाथ-योगियों ने उसे मार्ग में डिगाना चाहा, परन्तु व्यर्थ हुआ। देवगढ़ के राक्षस से भी, अपनी दृढ़ आस्था के कारण, वह बच निकला। श्यामगढ की वायु, आंधी से भी किसी प्रकार रक्षा हुई। भूपगढ़ मे सागर की लहरों से भी बचा। वहां के उत्तप्त जल और जलते पत्थरों को झेला। अन्त मे रतनगढ पहुंचे। यहां जगरनाथ बैठे थे, उन्होंने प्रोत्साहन दिया कि पर्वत पार हो गये अब सागर पार करो। आगे सागर का घाट मिला। यहां के राजा की कन्या, हस पर मुग्ध हो गई और उसके पीछे लगी। लोगों ने कहा कि योगियो ने कन्या पर जादू किया है। राजा ने हंस को पकड मंगवाया। इसकी चर्चा फैली, योगी सब सहायता करने आये। शब्द ने दूसरा उपाय किया। कामख्या देवी का रूप बनाया और मंदिर मे जा बैठी। राजा आया तो मुह फेर लिया, पूजा स्वीकार न की। राजा ने अपराध पूछा तो उसकी कन्या का अपराध बतलाया, उसे भय दिखलाया। राजा ने योगियों को छोड़ दिया। उन्हें जहाज दिया। वे लोग सागर में चल पड़े। बड़ी लहरें, उथल पुथल, झेलनी पड़ी। अन्त में घाट पार लगे। शब्द, जवाहर को सूचना देने गई, हंस पीछे चला। लोग साज-बाज से लेने आये परन्तु उसने अपना योगी वेश न उतारा। जवाहर से मिलकर उससे अपने पूर्व-मिलन की कथा कही तथा उसे अंगूठी दी। जवाहर प्रसन्न हुई और हंस ने योगीवेश उतारा। हंस आनन्दपूर्वक वहीं रहने लगा।

एक दिन हंस ने स्वप्न मे अपने देश को उजड़ा हुआ देखा। उसने घर चलने का उपक्रम किया। सब लोगों ने रोकना चाहा परन्तु उसने माता की सेवा करने की इच्छा प्रकट की। विदा की तैयारी हुई, सब लोग जहाजों पर चले। योगियों के दूतो ने संदेश दिया कि जवाहर जा रही है। दिनौर यह समाचार पाकर रो उठा। उसने वीरनाथ से जवाहर को मंगा देने की प्रार्थना की। वीरनाथ के वीर अवसर पाकर जवाहर को उठा लाए। उसे देखकर सब योगी उसे पाने के लिये पागल हो उठे। उनका योग कच्चा था। दैवी कोप

के कारण वे सब पत्थर हो गये । अकेली जवाहर विलाप करती रही । योगियों की एक दासी वहां आई तो उसने जवाहर को अकेली देखा, उसे सान्त्वना दी और वहीं बैठने को कहा ।

उधर हंस जगकर बहुत घबड़ाया । सब लोग जवाहर को खोजने निकले । गढपति (भोला शाह) की कन्या हंस पर मुग्ध हुई और उसका वस्त्र पकड़ कर खड़ी हो गई । उसने पूछा तुम क्या चाहते हो ? हंस ने कहा, मैं केवल ज्योति के दर्शन चाहता हू । सुलतान ने उसे निकलवा दिया । वह पर्वत पर चढने लगा । मार्ग मे एक वृक्ष पर पक्षी बोल उठा, जिसकी बोली से हंस को बड़ी पीडा हुई । उसने पक्षी से पूछा, तू कौन है ? पक्षी ने उत्तर दिया कि एक वियोगिनी के रुदन को सुनने के कारण मेरी वाणी इतनी करुण है । हंस ने जवाहर का पता पाया । पहले शब्द उससे जाकर मिली । दोनों मिल कर रोईं । हंस ने उसे सान्त्वना दी ।

बीरनाथ के एक चेले ने सब योगियों को पत्थर हुआ देखा तो उसने नगर में पुकार की । दिनोर की माता अपने पुत्र के लिये रोती हुई चल पड़ी । भोला शाह, हंस को दोषी समझ मारने चला परन्तु यह सोचकर रुक गया कि उसे मारने से योगी जीवित न हो सकेंगे । महताब मडप में गई तो उसने वहा जवाहर को देखा । उसने उससे पूछा कि तू यहा कैसे आई ? मेरे साथ घर चल । जवाहर ने अनिच्छा प्रकट की और कहा कि मेरे मार्ग मे तेरा वंश बाधक हुआ है । इस पर महताब ने भोलाशाह को मना किया कि हंस को न मारो और उसके साथ कन्या का विवाह कर देने का प्रस्ताव किया । भोलाशाह उसे नगर में ले चला । जब उसकी कन्या नूरमाह ने सुना कि योगी आ रहा है तो बड़ी प्रसन्न हुई । हंस ने विवाह की बात सुनी तो भाग्य को दोष दिया परन्तु जवाहर ने उसे विवाह कर लेने का परामर्श दिया । बिना धूमधाम के विवाह हो गया, क्योंकि दिनोर पत्थर का हो गया था ।

हंस अपने को बन्दीखाने में जैसा समझता हुआ रहने लगा । नूरमाह ने उसे बहुत आश्वासन दिया और उसकी आज्ञानुवर्तिनी होकर रहने का वचन दिया । उधर जवाहर हंस से अलग हो पड़ी । उसे यहा कौन पूछता ? वह दासी वेश मे हंस से मिली । हंस ने उसे धैर्य रखने को कहा और अपने साथियों की प्रतीक्षा करने लगा । जब साथी इकट्ठे हो गए तो उसने घर चलने का प्रस्ताव किया । भोलाशाह असंतुष्ट हुआ । युद्ध की नौबत आ गई । भोलाशाह ने कहा चुपचाप चले जाओ, झगड़ा न करो । हंस के साथी मीर ने कहा कि शाह को अहंकार है, वह तपस्वी का बल नहीं जानता । उधर हंस कटार लेकर भीतर घुसा और

हाथ पकड़कर नूरमाह को उठा लाया। वह चुपचाप चली आई। सब लोग शांत हो गये। जवाहर और नूरमाह को लेकर हंस चल दिया। वह रूम आया और सुखपूर्वक रहने लगा।

एक वर्ष बीता। माता ने हंस से अपने देश पर अधिकार करने को कहा। हंस ने सुल्तान से आज्ञा मांगी। सुल्तान ने सेवक भेज कर शत्रु नष्ट करवा देने का प्रस्ताव किया। हंस ने कहा कि जन्मभूमि प्रिय होती है अतः मुझे जाना चाहिए; न जाने से कुपुत्र कहलाऊंगा। सेना लेकर हंस चला। अनवर बीर साथ चला। देश के निकट पहुंचकर शातिर खां को दूत भेजा। दौलामीर बड़ा क्रोधित हुआ। वह ७ लाख सेना लेकर युद्ध करने चला। अपने सेनापतियों को उसने घाट रोकने को भेजा। हंस पार हो गया था। घोर युद्ध हुआ। दौलाशाह की सेना भाग निकली। उसने फिर से प्रयाण किया। घमासान युद्ध हुआ। रात में दौलामीर के सहायक, दूसरे सुल्तान यह सोचकर चुपचाप भाग गए कि राजा से जूझना ठीक नहीं। सबेरे दौला अकेले ही युद्ध करने को प्रस्तुत हुआ। युद्ध हुआ, अन्त में मीर बहादुर की सांग, बख्तर फोड़कर पेट से निकल गई और दौलामीर मारा गया। हंस बलख आया और सुखपूर्वक माता, पत्नियों सहित रहने लगा।

कभी-कभी सपत्नियां आपस में गाली-गलौज मार-पीट भी करतीं, जिसे हंस शमित करता था। चार वर्ष बीते। जवाहर के एक पुत्र हुआ जिसका नाम शाह हुसैन रक्खा गया। उधर दौला मीर का पुत्र कमर खां अपने बाप के वध का बदला लेना चाहता था। उसे एक चीन का व्यापारी मिला, जिससे उसने चीन का सब विवरण जान लिया, बोली-बानी भी सीख ली और तब बलख आया; वहां उसने अपने को चीन का व्यापारी प्रसिद्ध किया। एक दिन अपने पहरे के समय अवसर पाकर उसने हंस को छुरी से मार डाला। मीर बहादुर आदि दौड़े; कमर खां के विश्वस्त सैनिकों तथा हंस के सिपाहियों में युद्ध हुआ। नूरमाह और जवाहर ने शोक से प्राण त्याग दिये। सब एक साथ समाधिस्थ किए गए। हंस के पुत्र को मंत्रियों ने गद्दी पर बिठाला। शब्द भिखारिनी हो गई।[1]

हंस जवाहर की इस लम्बी प्रेमगाथा में सूफी सम्प्रदाय के अन्य सिद्धांतों की झलक स्पष्टतया मिलती है। संक्षेप में इन पर दृष्टि डाल लेने से प्रवृत्तियों की परम्परा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगी।

सूफियों की सभी प्रेमगाथाएं रूपकत्व की सहायता से प्रेमयोग का उपदेश

---

१. हंस जवाहिर, न० कि० प्रेस, लखनऊ

करती है। जायसी ने इस रूपकत्व को कथा के अन्त में बिलकुल स्पष्ट कर दिया है।

कासिम ने भी उसको रहस्यात्मक दृष्टि से, गूढ भाव की रक्षा करते हुए व्यक्त किया है :

"कासिम कथा जो प्रेम बसानी, बूझै सोई जो प्रेमी ज्ञानी।
कौन जवाहिर रूप सोहाई, कौन शब्द जो करत बड़ाई।
कौन हंस जो दरशन लोभा, कौन देश जेहि ऊँचे सोभा।
कौन पथ जो कठिन अपारा, कौन शब्द जो उतरै पारा।
कौन मीत जिन सग जिव दीना, कौन सो दुर्जन अति छल कीना।
को ज्ञानी जिन बरनि सुनावा, कौन पुरुष जिम सुन चित लावा।"

इस प्रकार कवि ने प्रेमयोग के आधार पर पाठक को इस पहेली के बूझने की प्रेरणा दी है। जवाहर के स्वरूप में ब्रह्म की व्यापकता और भी अधिक स्पष्ट है। उसके वियोग में व्याकुल हंस उसे देश-देश खोजता फिरता है। अनेक सुन्दरियां उस पर मुग्ध होती हैं परन्तु वह किसी की ओर दृष्टि भी नहीं उठाता। प्रश्न किए जाने पर वह कहता है :

"योगी फिरै दरश के आसा, दरश लाग आवै केहु पासा।
यह संसार दरश के हाटा, लिए दरश सो लागै बाटा।
दरश काज जग तीरथ होई, दरश काज आवै सब कोई।"

तात्पर्य यह है कि जीव संसार में इसीलिए अवतीर्ण होता है कि वह सत्स्वरूप को पहचान ले। वह सत्स्वरूप सर्वव्यापी है, फिर भी केवल वही उसे देख सकते हैं जिनकी दृष्टि व्यापक है।

"तुम कहं लखो दृष्टि कहं ओती, घट घट मंह परगट वह जोती।
तिरिया पुरुष पशू औ पाँखी, सब महं वह जो सूझे आंखी।
कहं मानुष पंखी कहा; का बनखंड का भार।
सब महं वह परगट अहै, अखल रूप करतार।"

जितना जो कुछ दृष्टि से दिखलाई देता है, सबमें 'ब्रह्म' व्याप्त है। इसी व्याप्ति में कवि की रहस्य-भावना छिपी हुई है। रहस्य का यह भाव, सौंदर्य की व्यापक सत्ता तथा शक्ति द्वारा भी व्यक्त होता है। अखिल विश्व उसी परोक्ष शक्ति की छाया का आभास देता है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित अथवा उसी के रंग में रंगा हुआ है।

"वही सो पूर जात के माँहां, पड़े सो दृष्टि लखौं मैं ताहां।
वही सो वृक्ष पात कर फूला, वही सो प्रान जगत कर मूला।।"

उसकी स्थिति सातों स्वर्ग से भी ऊँची है; पञ्चतत्व की पहुँच के परे है :

"पवन न चढ़ै लौटि भुइँ आवै, मेघ रोय मुंह आंसु चुआवै ।
आग न चढ़ै होय बुझ माटी, माटी काह चढै वह घाटी ॥"

इस परम-शक्ति तक पहुंचने के लिए साधक प्रेमयोग की साधना करता है, जिस तन्मयता का आश्रय ग्रहण किया जाता है उसमें अपना अस्तित्व लुप्त हो जाता है। सारा विश्व अपने उपास्य में प्रतिबिम्बित होता है और उसी में ब्रह्म के दर्शन होने लगते हैं :

"मोहिं वह सैं अस लाग सनेहू ।
देखो निरख परख मोहिं काया, मैं कत अहो अहो वह छाया ।"

... ...

मैं करतार वही महँ देखा, दूसर और मर्म कर लेखा ।

इस तन्मयता के आगे सारा कर्मकांड, सारी शास्त्रीयता केवल आडम्बर मात्र है। हंस बार-बार अपनी विलासिता का त्याग करता है, अनेक स्थल पर असीम सौन्दर्य-शालिनी तरुणियों की ओर से मुंह फेर लेता है, जिससे प्रकट होता है कि उसका प्रेम, लौकिक होते हुए भी वासनात्मक नहीं है। यह प्रेम-योगी (हंस), दृढ़ आस्था के साथ बढ़ता है; अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर जलते हुए पत्थरों पर पैर रखता हुआ चलता है परन्तु उसके पैर नहीं जलते। इसी दृढ़ता के बल पर लोनगढ़ की विषम चढ़ाई, देवगढ़ के भयंकर राक्षस, श्यामगढ़ की प्रबल वायु तथा भूपगढ़ के भयंकर सागर के व्यवधानों को झेलकर वह रतनगढ़ के प्रकाश-पूर्ण शिखर पर पहुंचता है।

इन लौकिक बाधाओं को पार करके योगी ऐसी स्थिति को प्राप्त करता है जो उसे करोड़ों सिद्धों में शिरोमणि बना देती है। वह 'सुरत डोर' ग्रहण करके ज्योति के दर्शन प्राप्त कर लेता है :

"मानुप कोट सिद्ध मंह कोई, सुरत डोर गहि पहुचे सोई ।
सो वह जोति निरख लख पावा, गुंग भयो नहि अर्थ बतावा ॥"

तभी उसके लिए अनन्य जोति 'गूंगे का गुड़' हो जाती है।

योगी की यह पहुंची हुई अवस्था, पूर्ण आनन्दमय हो जाती है। उसका सारा वातावरण सात्विकता तथा पवित्रता से परिपूर्ण हो जाता है। वह दक्षिण-मार्ग को ग्रहण करता है, वाम-मार्ग की हिंसापूर्ण विधियां उसके लिए त्याज्य हो जाती हैं :

"कहा शब्द तुम दाहिन लेऊ, बायें पंथ पाउ जिन देऊ ।
वह मारग पै चले न कोई, जो रे चला सो गा जिउ खोई ॥"

... ...

"काम क्रोध तृष्णा नहि आया, लोभ न दृष्ट परे उन काया ।

जारैं देह रक्त औ आंसू, नैनन भरे रहैं नित आंसू।
परगट पीर गुप्त मन राता, छूट वह आप न दूसर बाता ॥''

आत्मबलिदान तथा सहिष्णुता मे ही इन योगियों को आनन्द प्राप्त होता है। दुःख इनका सदैव का साथी है परन्तु इस दुख को योगी, भोग का त्याग करके, सुखपूर्वक भोगना चाहता है। हंस कहता है:

'दुख मोरे सग जनमत आवा, जेहि दिशि जाउं सो आगे धावा।
दुख ओढ़न दुख आसन मोरा, तेहिमा दोष देउं का तोरा॥''

अहिंसा, योगी का एक प्रमुख सिद्धान्त है। वह अस्त्र, कटार लेकर नही चलता, उसका अस्त्र केवल करतार ही है। प्रेम के मार्ग में युद्ध अथवा संघर्ष को वह वाछनीय नही समझता। सक्षेपतः प्रेमयोग की साधना यद्यपि कर्मकाण्ड से रहित है तथापि मानवता की दृष्टि से वह बहुत ऊंची है, फिर भी यह सर्वसुलभ है, यही उसकी लोकप्रियता का कारण रहा है।

सूफी प्रेमगाथाओं के लेखक प्रायः मुसलमान रहे हैं। जिस सस्कृति का चित्रण इन प्रेमगाथाओ मे मिलता है, वह लेखकों के मुसलमान होते हुए भी, प्रधानतया हिन्दू सस्कृति है। 'हस-जवाहर' में भी यद्यपि हिन्दू रीति-नीति का पर्याप्त वर्णन मिलता है तथापि इसकी कथा मे मुस्लिम संस्कृति का भी मिश्रण प्राप्त होता है। परम्परागत प्रवृत्ति, भारतीय कथा ग्रहण करने की ही है, अतः कासिमशाह ने भी कथा की आत्मा, भारतीय ही रखी है, परन्तु हंस और जवाहर को छोडकर अन्य पात्रों के नाम प्रधानतः मुसलमान ही प्राप्त होते हैं। मुहम्मदशाह, अहमदशाह, दौलामीर, अनवर मीर, नूरमाह आदि नाम मुस्लिम समाज का ही आभास देते है। मृत्यु के वाद कासिम, शवों का दाह संस्कार नही होने देते वरन् उनको समाधिस्थ करवा देते है। यह प्रवृत्ति भी इस्लाम की ही है।

"साज मन्दिर औ कीन सो बानी, भरा अरगजा कुमकुम पानी।
बीचै लै सुल्तान सोआवा, दोनों दिशि दुलहिन पौढावा।
पढ़ पढ मंतर ऊपर माटी, दीन औ शीश सेज जो ठाटी॥''

ऐसा प्रतीत होता है मानो शवों को किसी मकबरे में समाधिस्थ किया जा रहा हो।

साधारणतया हिन्दू समाज की ही रीतियां कवि ने ग्रहण की है, कथा का आधार प्रधानतः हिन्दू-संस्कृति पर ही है।

हंस के घर त्याग कर चलने पर मार्ग में उसे शकुन होते है:

"छांड़ि नगर जब पंथ सिधावा, सखिन भरा जल कलश दिखावा।
दही लिए ग्वालिन जो माथे, मालिन फूल थाल गरकाये।

मृग जो दाहिन बायें देखा, बोले लुखर सगुन सब लेखा।
धोबिन जाय जो आगू दीन्हें, क्षेमकली मुख भाषर लीन्हें ।।"

उक्त सभी शकुन आज भी हमारे समाज में इन्हीं रूपों में प्रचलित हैं और भारतीय जनता का एक बहुत बड़ा भाग इनके द्वारा अपने अदृश्य भविष्य का आभास पाने का प्रयत्न किया करता है।

विवाह संस्कार का वर्णन कवि ने प्रधानतया हिन्दू ढंग से ही किया है। घड़ी-साइत का विचार, हल्दी-तेल चढाना, कन्यादान, दूलह के वस्त्राभूषण, बराती, ज्योनार, वेदपाठ द्वारा विवाह इत्यादि बातें अनेक स्थलों पर वर्णित हैं।

पातिव्रत भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख आदर्श है। भारतीय नारी का जीवन इस आदर्श के बिना पशुवत् है। साहित्य और समाज इस गुण के आख्यानों तथा उदाहरणों से भरे पड़े हैं। विदेशी कवि तथा लेखक इस भारतीय आदर्श से बहुत कुछ प्रभावित हुए थे अतः इसका उदात्त तथा सहृदयतापूर्ण चित्रण सूफी कवि की भी विशेषता है। पद्मावती का सतीत्व, ऐतिहासिक तथ्य है और जायसी द्वारा मार्मिक शब्दों में वर्णित हुआ है। कासिम ने भी जवाहर के पातिव्रत का उदात्त तथा सहृदयतापूर्ण वर्णन किया है। जवाहर का आत्मार्पण, उसकी अकिंचनता, तन्मयता आदि का कवित्वपूर्ण कथन, कवि द्वारा हुआ है। इससे स्पष्ट है कि कवि इस भारतीय आदर्श के प्रति बहुत कुछ ऊंची दृष्टि रखता है :

"आप में खोय मिलौं तुम पाही, दूसर कौन लखै परछाही।
तुमते कन्त नेह मम लागा, औटि मिल्यो जस कनक सोहागा।
मिलौं तुम्हे समुद्र होय मोती, मोती प्राण कन्त तुम जोती।
तुम सरवर हौ कंवल की गोई, तुम बिन प्राण और कित होई।
तुम जग भानु चन्द्र होय नारी, तुमरी जोति रहै उजियारी।
हौं धन फूल बास तुम पीऊ, तुम बिन नारि होय बिन जीऊ ।।"

वियोग- वर्णन के अन्तर्गत तो सारा का सारा बारहमासा ही आ जाता है जो पूर्णरूपेण भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है। भारतीय बारह मास, छै ऋतुएं, पपीहा, दादुर, मयूर, विभिन्न नक्षत्र, होली, बसन्त, झुलसाने वाली लू के झोंके आदि का विस्तृत कथन उक्त ऋतु-वर्णन में मिलता है। ये सब भारतीय साहित्य की परम्परा में आते है।

पौराणिक उदाहरण लेकर भी कवि ने अपनी भारतीयता को व्यक्त किया है। "तपसी साप लक भई क्षारा, कंस बिलान तपसि का मारा।" "योगिन कहा सुनो रे हंसा, है बैरी राकस जस कंसा।" "को यहि योग करै जो खोजू, कहं राजा वह बिक्रम भोजू।" इत्यादि उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि

कवि को, भारतीय पौराणिक गाथाओं का विशेष गम्भीर ज्ञान नहीं है। रावण और कंस खलनायक थे। उनका पराभव सत्य का विरोध करने के कारण हुआ, इतना तो कवि को ज्ञात है, आगे वह इसी तथ्य को लेकर उसका उपयोग तपस्वियों का महत्व दिखलाने के लिए कर देता है। इसी प्रकार लोक-प्रचलित विक्रम और भोज की दन्तकथाओं के आधार पर उनका उल्लेख भी कर दिया गया है। सौन्दर्य के लिए 'इन्द्र के पूत' की उपमा दी गई है।

"जग मह ऐस स्वरूप न कोई, इन्द्र का पूत होय सो होई।".

संक्षेपत. कवि का पौराणिक ज्ञान बहुत साधारण जान पड़ता है।

लोक व्यवहार के लिए नीति का कथन कवि ने अनेक स्थल पर किया है:

"भूल्यो तुम जो धरमहिं कीन्हो, ऐस न जान्यो मैं कुछ दीन्हों।

... ...

भूल्यो जो अधरम कहुं देख्यो, कियो न कतहूं मन मह लेख्यो।

... ...

"क्रोध न कियो होय जेहि राजा, क्रोध तो आपन होय अकाजा।

झूठ न कह्यो पाय कछु आशा, झूठहिं करै धर्म को नाशा।"

पातिव्रत के लिए उसने इस प्रकार उपदेश दिया है:

"दूजे के जनि बैठो पासा, दूजे तैं जनि किहो हुसाला।

दूज का जनि बात सुनायो, दूजे संग जनि रंग रलायो॥".

यश: शरीर से जीवित रहने की बात भी कासिम ने कही है:

"कासिम जो जस कै मुये, मुये पुरुष सो नाहि।

तन अलोप भा जगत ते, यश जीवै जग माहिं॥"

उक्त कथनों से कवि की व्यवहार-कुशलता और उसका अनुभव प्रकट होता है। पुस्तक-ज्ञान अधिक न होने पर भी सूफी कवियों में संसार का सम्यक् अनुभव दृष्टिगत होता है, यह बात उनकी रचनाओं को देखकर भी दृढ़ होती है।

कवि का विविध-क्षेत्र का साधारण ज्ञान भी उसकी रचना से प्रकट होता है। सूफी कवियों ने अपने इस ज्ञान का प्रदर्शन करने के लिए प्रबंध-निर्वाह की भी उपेक्षा कर दी है। स्वयं जायसी ने भोजनों, घोड़ों, पशु-पक्षियों आदि की लम्बी-लम्बी सूचियां पद्मावत में बना रखी है। कासिम शाह ने भी अपने इस प्रकार के ज्ञान का प्रदर्शन, सूची रूप में ही, किया है:

स्थानों के नाम गिनाते हुए कवि ने सिंहल द्वीप, जम्बू द्वीप, सरान् द्वीप, दक्षिण देश, बंगाल, जौनपुर, देहली, काबुल, मुल्तान, ठट्ठा, भक्खर, कजनी, ईरान, बलख का उल्लेख किया है।

नखशिख का वर्णन तो बहुत कुछ परम्परागत है ही। केश, मांग, ललाट, भौंहें नैन, नासिका, अधर, दशन, रसना, कपोल, श्रवण, ग्रीवा, भुजा, कलाई, हाथ उंगली, उर, कुच, उदर, रोमावली, लंक, जांघ, फीली, पांव, गति का सांगोपांग वर्णन कवि ने किया है यद्यपि इनमें कोई नवीनता नहीं। बारहमासा भी इसी प्रकार के विस्तृत वर्णनों में लिया जा सकता है। शकुन-सूची हम पहले दिखला आए है-

योगियों के विभिन्न सम्प्रदाय इस प्रकार वर्णित है :

"उरधबाह नाना जब धारी, पुरी गिरी जलवास तिवारी।
जग डंडी ओघड़ कनफटा, सेउरा यती विरही शरकटा।
ब्रह्मवार सेउरा सन्यासी, पाच अगन निर्जला अकासी।
दूधाधारी संगमी, सूफी दरश फकीर।
भये सहाय योगिन के, आय महीपति तीर।।"

बारह आभरण तथा सोलह शृंगार का भी वर्णन कवि ने किया है। यद्यपि उन वर्णनों में अधूरापन है। शीशफूल, हार, टीका, कर्णफूल, बाजूबन्द, कंकण अगूठी, पायल, ये नौ आभरण वर्णित है। शेष तीन किंकणी, बेसर तथा बीछ का कथन नहीं है।

इसी प्रकार सोलह शृंगार का वर्णन भी अपूर्ण ही हुआ है। वस्त्र, मंजन केशविन्यास, माग भरना, काजल, ताम्बूल, आभूषण-धारण तथा हाथ में लीला कमल, इन आठ शृंगारों का वर्णन तो हुआ है, शेष आठ, महावर, माथे की बिन्दी, चिबुक-तिल, मेंहदी, सुगन्धि, फूलमाला, मिस्सी, स्नान का वर्णन नहीं हुआ है। अतः इस विषय में भी शास्त्रीय अनभिज्ञता का पता चलता है।

शतरंज के खेल का वर्णन कवि ने विस्तारपूर्वक किया है। प्रत्येक मोहरे की चाल, उसकी शक्ति, शह, बुर्द, मात, का वर्णन इस बात को व्यक्त करता है कि कवि को इस खेल का सम्यक् ज्ञान था। एक बिसात का नक्शा और उसकी चालें कवि ने पूर्णता से वर्णित की हैं।

चौसर के खेल का वर्णन भी इसी प्रकार किया गया है .

"तीन कहत तेरह जो पड़े, पक्के नव काचे के घरे।"
"मागे आठ अठारह परे, बाघे सत्य सत्तरा धरे।।"

इसमें सन्देह नहीं कि ये वर्णन कवि ने केवल अपने ज्ञान-प्रदर्शन के लिए ही किए हैं। इन कथनों में आध्यात्मिक संकेत भी किये गये हैं।

राग-रागिनियों का वर्णन भी कवि के उक्त-विषयक ज्ञान को प्रकट करता है। प्रधानतः छै राग तथा छत्तीस रागिनियां मानी गई है; यद्यपि आगे के आचार्यों के सिद्धान्तों में मतभेद भी हो गया है। ये छै प्रमुख राग हैं : भैरव,

मालकोश, हिंडोल, श्रीराग, दीपक तथा मेघमलार। कासिम ने इन रागों को विभिन्न ऋतुओं के साथ समाविष्ट किया है और इनको नायक का पद प्रदान किया है। शरद में भैरव, हेमंत में मालकोश, शिशिर में हिंडोल, बसन्त में श्री, ग्रीष्म मे दीपक, तथा पावस मे मेघमलार रागो का प्राधान्य कहा गया है। इन रागो के अन्तर्गत शास्त्रानुसार छै छै रागिनियां होनी चाहिएँ। शास्त्रीय दृष्टि से इन रागिनियो के नामों और भांतियो मे भेद है। कासिम ने भी रागिनियों के सम्पूर्ण नाम नही दिए हैं। भैरव के अन्तर्गत गूजरी, रामकली, टोड़ी, देवगिरी धनाश्री, मालकोश के अन्तर्गत ललित, सुहा, बिलावल, गौरी; हिंडोल के अन्तर्गत बसन्त, मोहनी, देवश्री, श्री राग के अन्तर्गत देवकली, सारंग, गौरी, सोनी; दीपक के अन्तर्गत भिम्मविलास, मदन मोरका, देवगिरी; तथा मेघमलार के अन्तर्गत सोरठ का उल्लेख किया गया है। यद्यपि यह वर्णन भी सांगोपांग नही हैं, तथापि कवि का संगीत-प्रेम तथा उससे संस्पर्श प्रकट होता है।

शकुन, योगिनी, राशि, नक्षत्र आदि का भी वर्णन कवि ने विस्तारपूर्वक किया है, जिससे उसकी लोक-व्यवहार की जानकारी प्रकट होती है।

"देखै पण्डित वेद विचारी, आदित सूक पच्छिम दिशि भारी।
मगल बुध उत्तर दिशि हीना, बैफै दखन सो औगुन चीना।
जोरे उताहिल चहे सिधावै, औषध खाय लिये सुख पावै।
बुध दधि औ बेफै गुड मीठा, रवि ताम्बूल खाय सुख दीठा।
राई खाय सूक पग धारै, दर्पण देख सों सोम सिधारै।
वाय बिडंग शनीचर मूरी, मगल धनिया खा दुख दूरी॥"

इस प्रकार यात्रा-निषेध और उसकी अनिवार्यता पर दोष-निवारण का उपाय बताया गया है। यह कथन किसी न किसी रूप में, समाज में आज भी प्रचलित है जिससे प्रकट होता है कि यह लोक-विश्वास रहा है और लोग इसके अनुसार व्यवहार करते रहे है।

योगिनी, चक्र और राशि-विचार भी विस्तारपूर्वक किया गया है।

"सत्ताइस उन्निस बारह चारी, योगिनी पश्चिम चलो विचारी।
इक नौ सोरह चौबिस माहां, पूरब दखिन कोन बिच मांहां॥"

इस प्रकार इस ज्योतिष-यंत्र द्वारा योगिनी की स्थिति जानी जाती है और उसी के अनुसार यात्रा होती है। इनकी स्थिति देखकर यात्रा करने वाला व्यक्ति सदैव विजयी होता है :

मेष सिंह घन पूरब शशी, सुता मकर वृष दक्खिन लसी।
तुला मिथुन घट पश्चिम में बस, कर्क मीन वृश्चिक उत्तर बस॥

यह राशियों की स्थिति है। इसके आगे कवि ने यह दिखलाया है कि किस राशि का क्या फल है और यात्रा करते समय इनकी क्या स्थिति होनी चाहिए।

उक्त सम्पूर्ण उदाहरणों से यह प्रकट होता है कि सूफी कवि अपने काव्य में जहां एक ओर अध्यात्म-चर्चा और अलौकिक प्रेम का चित्रण करते थे, वहीं दूसरी ओर वे लोक-व्यवहार, नीति, कला-कौशल तथा सामान्य बुद्धि की वृद्धि का भी प्रयत्न करते थे। यह प्रवृत्ति प्रायः सभी सूफी कवियों में पाई जाती है। यह भी कहा जा सकता है कि इन कवियों मे अपनी जानकारी का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति थी, परन्तु यह प्रवृत्ति परम्परागत कही जा सकती है।

महाकाव्य के लिए यह अनिवार्य माना गया है कि उसमें निम्नलिखित गुण होने ही चाहिए :

वह सर्गबद्ध हो; आरम्भ में आशीर्वाद-नमस्कार आदि किया गया हो; आरम्भ में ही कथावस्तु का उल्लेख कर दिया गया हो, कथा ऐतिहासिक हो अथवा आदर्शयुक्त हो; नायक उदात्त हो; नगर, सागर, पर्वत, सूर्य, चन्द्रोदय, उद्यान, जलक्रीड़ा, मधुपान, केलिक्रीड़ा, वियोग, विवाह, कौमार, दूत-क्रिया, यात्रारम्भ, अलंकरण, संक्षिप्त गुण, रसभाव, सर्गों की लघुता, वर्णनात्मकता, संबंध-निर्वाह, प्रत्येक अध्याय के अंत में छन्द की भिन्नता, मनोरंजन-पूर्णता आदि विशेषताओं से परिपूर्ण हो।[1]

सूफी कवियों ने भी इन साहित्य-परम्परागत गुणो को ग्रहण कर लिया। महाकाव्य के अधिकतर गुण इन सूफी काव्यों में प्राप्त हो जाते है। परन्तु जहां कविवर जायसी मे उक्त-विषयक वर्णन बहुत कुछ सहृदयतापूर्ण तथा कवित्वमय हैं, वहां परवर्ती कवि, कासिम ने जायसी से ही बहुत कुछ ग्रहण करके अपनी मौलिकता में कमी कर दी है। कहीं-कहीं तो शब्दावली भी बहुत कुछ जायसी की ही है। इसके दो एक उदाहरण लिए जा सकते हैं :

(१) "कहा जवाहिर संवरी गोई, लिहों खेल जो खेलब कोई।
भोर कहां आवो फुलवारी, जब सब जाव गवन ससुरारी।
खेल लेव जो खेलव गोरी, जब लग रहौ पिता घर मोरी।
अन्ते इहां रहब नहिं होई, कौन रहै नइहर मा कोई॥"

(कासिम)

ऐ रानी मनु देख बिचारी, एहि नैहर रहना दिन चारी।
जौ लगि अहै पिता कर राजू, खेलि लेहु जो खेलहु आजू।

१. दंडी, काव्यादर्श, महाकाव्य-लक्षण।

पुनि सामुर हम गवनब काली, कित हम कित यह सरवर पाली।
किते आवन पुनि अपने हाथा, किते मिलि कै खेलब एक साथा ॥"

(जायसी)

(२) 'बिनती सकल पडितन आगे, हों सेवक जिनकर पुछलागे।"

(कासिम)

"हौं पडितन केर पछलागा, किछु कहि चला तबल देइ डागा।"

(जायसी)

(३) "रक्त के आंसु जहां लो रोई, बिरह आग घुंघची जनु बोई।"

(कासिम)

"कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई, रक्त आसु घुघुची बन बोई।"

(जायसी)

(४) *"तेही माग जो दीन्ह सवारी, रैन मांझ दीपक उजियारी।*
जस घन मह दामिनि चमकाहे, तसं वह माग शीश उपराहै।
जनो कसौटी कन्चन रेखा, जनो सरस्वति यमुन म देखा॥"

(कासिम)

बिन सेंदुर अस जानहु दीआ, उजियर पंथ रैनि मंह कीआ।
कंचन रेख कसोटी कसी, जनु घन मंह दामिन परगसी।
सुरज किरिनि जनु गगन बिसेखी, जमुना माझ, सुरसती देखी।"

(जायसी)

उक्त उद्धरणो मे यह स्पष्ट होता है कि रहस्य भावना, व्यक्तिगत विनय, प्रचलित उपमान, नखशिख आदि का वर्णन अपने काव्य में ले आना ये सूफी कवि अनिवार्य समझते थे, यह एक प्रकार से उनकी परम्परा बन गई थी जिसके पालन करने में आचार्य शुक्ल के शब्दों में "रचना का निम्नकोटि" का हो जाना कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

"मूल रूप में सूफी धर्म व्यावहारिक था, चिन्तनात्मक नहीं" इस सिद्धान्त के आधार पर ही इसमें प्रेम का प्राधान्य हुआ। आत्मसमर्पण सूफीधर्म का प्रधान सिद्धान्त था। ईश्वर के हाथो अपने को सौंप देना और उसी के आश्रय मे शान्ति लाभ करना ही सूफियों की साधना थी। इस आत्मसमर्पण में प्रेम की पीड़ा का अनुभव करने के कारण ही प्रतीकात्मकता का प्रयोग होने लगा और सांसारिक प्रेम के माध्यम द्वारा अलौकिक प्रेम की साधना की जाने लगी।

जलालुद्दीन रूमी ने इस प्रकार इस सौन्दर्योपासना की परिभाषा की है:

"ईश्वर अनलहक" एक मात्र सत्य है। इसकी परिभाषा नहीं, नाम नहीं;

वह पूर्ण सत्य ही नहीं, पूर्ण शिव भी है अतः पूर्ण सुन्दर है। सौन्दर्य को व्यक्त करना सुन्दरता की प्रकृति है। संसार इसी का परिणाम है। परमात्मा ने अपने को व्यक्त करने के लिए संसार की रचना की है। परन्तु वस्तु की महत्ता का ज्ञान तुलनात्मक दृष्टि से होता है, अतः सत्य का ज्ञान, मिथ्या के संतुलन से होना चाहिए। इस मिथ्या मे सत्य, दर्पण के समान प्रतिबिम्बित होता है। यही प्रतिबिम्ब संसार है जिसमे सूर्य की छाया के समान सत्यता तो नहीं है परन्तु उसी के द्वारा सूर्य का ज्ञान हो सकता है। यही कारण है कि सत्य-असत्य का भेद मिटाकर सूफियो ने एक मात्र "अह ब्रह्मास्मि' का तत्व ग्रहण कर लिया।[1] लौकिक और अलौकिक सौन्दर्य की एकता का यही रहस्य है। परन्तु व्यावहारिक होते हुए भी इस प्रेम-तत्व का ग्रहण, सर्वग्राह्य प्रमाणित न हो सका, अतः बहुत से सूफियों ने साधन को साध्य समझ लिया और लौकिक सौन्दर्योपासना ही उनका एक मात्र उद्देश्य रह गया। इस प्रकार प्रेम के आदर्श में विकार उत्पन्न हो गया और अंततोगत्वा यह प्रेम-सौन्दर्य वर्णन एक परम्परा मात्र बनकर रह गया।

इस प्रकार धीरे-धीरे सूफी सिद्धान्तों का स्वरूप आध्यात्मिक से साहित्यिक झुकाव ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है। इस शैली का प्रयोग भी एक प्रकार से समाप्त हो चुका है और सूफी-सिद्धान्त अब केवल छिटके-फुटके रूप में, रहस्यवादी कवियो के काव्य मे, दृष्टिगत होते है। हा, मुस्लिम गायको के मुख से, नात और कव्वालियों के रूप मे, इस आध्यात्मिक प्रेम की झलक अब भी मिलती रहती है।

प्रशस्ति-काव्य

मनुष्य अनुकरणशील प्राणी है। बाल्यावस्था से ही उसकी प्रवृत्ति अपने आस-पास के दृश्यों तथा घटनाओं का अनुकरण करने की ओर रहती है। बोलने चालने, चलने-फिरने, रीति-व्यवहार, सभी में उसका झुकाव अपने समाज जैसा होता जाता है। इसी अनुकरणशीलता के आधार पर उसके चरित्र का विकास भी होता है। इसी के आधार पर वह अपने जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है, जो उसे उन्नति अथवा अवनतिशील बनाते है और इन्ही के आधार पर उसे यश अथवा अपयश मिलता है। समाज, श्रेष्ठ आदर्शों का अनुकरण करने वाले व्यक्ति का सदैव सम्मान करता है।

हमारा सामाजिक संगठन जिन सिद्धातों पर स्थिर है वे दया, दान, धर्म

---

१. इनसाइक्लोपीडिया-ब्रिटैनिका, सूफिज्म, भाग-२१, पृष्ठ ५२४

आदि सद्गुणों का अनुकरण सदा अभिनन्दनीय स्वीकार करते हैं। महात्मा वाल्मीकि तथा भगवान् वेदव्यास ने अपने अमर महाकाव्यों में इन्ही सद्गुणो के व्यक्तित्व खड़े किए है। प्रागैतिहासिक युग के ये आदर्श, आज भी समाज मे उतने ही समुन्नत है जितने पूर्वकाल में थे। आज भी उनके लालित्य, औदार्य, औद्धत्य अथवा प्रशांति की वैसी ही महिमा है, जैसी रामायण अथवा महाभारत काल मे थी। परन्तु उक्त समाज-सम्भूत गुणों से भी प्राचीन गुण, उत्साह अथवा सघर्ष-प्रियता है। इस सघर्षप्रियता ने मनुष्य को अपने आदिमकाल मे, अपनी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायता की है, साथ ही अपनी सभ्यतम दशा में उसे बड़े-बड़े साम्राज्य विजय कर लेने में भी सहायता प्रदान की है, अतः यह युद्ध-वीरता अन्य सब वीरता-रूपो से प्राचीन है। प्राचीनतम महाकाव्य इसके प्रमाण हैं। मानव की अनुकरणशीलता ने तथा प्राकृतिक प्रवृत्ति ने इसे भी उसके हृदय में निरंतर जागृत रक्खा है।

अपनी आदिम अवस्था मे मनुष्य अपने काल्पनिक आदर्शों से अभिभूत हुआ था। इन्द्र, वरुण, वृहस्पति आदि ऐसे व्यक्तित्व थे जिनकी कल्पना उसने प्राकृतिक शक्तियो को सजीव करने के लिए कर ली थी। अपनी दैनिक कठिनाइयों को दूर करने के लिए वह उनकी प्रार्थना करता था। कभी वृहस्पति से अपने पशुओ की रक्षा करने मे सहायता मांगता था और कभी इन्द्र से सन्मार्ग-प्रदर्शन का निवेदन करता था। अपनी इच्छा-पूर्ति हो जाने पर, अथवा काल्पनिक आदर्श की दैवी-शक्ति से आतंकित होकर वह, अपना सम्मान, कल्पित देवता के गुणो का अनुकरण करते हुए, अनेक प्रकार की भाव-भंगियों, नृत्य आदि के द्वारा प्रदर्शित करता था। इन आदर्शों के गुणो का अभिनय और गान आदि भी किया जाता था। वीर-प्रशस्ति का यही स्वरूप आरम्भ से प्रचलित रहा है।

पुराण काल मे अव्यक्त शक्तियो ने बहुत कुछ मूर्तरूप, भौतिक शरीर, धारण कर लिए। शक्तियों के विभिन्न प्रतिनिधि, अनेक प्रकार के स्वरूप धारण करके हमारे सम्मुख प्रत्यक्ष हो गए; उनकी चरितावली विशेष विस्तृत तथा मनुष्य-जीवन के निकट हो गई और मनुष्य, विशेष उत्साह से उनका अनुकरण करने लगा। जिन पांच प्रमुख देवताओं का उल्लेख हम पहले कर चुके है, वे विशेष मान्य थे ही और उन्ही की शक्ति, वीरता की पूजा, जनसमुदाय करता रहा। यह देव-पूजा मनुष्य की अन्तर्हित शक्तियों की प्रधान प्रेरिका थी और सम्पद्-विपद् में मनुष्य इसी के द्वारा शांति-लाभ करता रहा। हिन्दी साहित्य का भक्ति काल भी इसी अलौकिक प्रशस्ति-वर्णन का उदाहरण है।

देवादर्श-पूजा का यह स्वरूप, जिसमें दास्य-भाव अथवा देवताओं का गुण-

कथन ही प्रधान था, हिन्दी साहित्य के वीर-गाथा काल में भी इसी रूप में, उपलब्ध होता है। भगवान् शंकर की वेशभूषा, पतित-पावनी गंगा की रेणुरज का प्रभाव आदि के वर्णन वहां भी उसी प्रकार प्राप्त होते हैं, जैसे कहीं-कहीं पर भक्ति-काल में अथवा आगे चलकर शृंगार-काल में प्राप्त होते रहे। परन्तु मुसलमान आक्रमणकारियों की दमन-नीति तथा मुगल शासकों का सामन्तों द्वारा अनुकरण करने की प्रवृत्ति ने, क्रमशः इस देवार्चना में दयादाक्षिण्य तथा दरबारीपन का विशेष समावेश कर दिया। मुसलमान बादशाहों के दरबारों की विलासिता बहुत कुछ काव्य मे उतर आई और देवताओं का स्वरूप प्रायः मानवीय हो गया; उनकी विलास-क्रीडा ने उनके अलौलिक तत्व को नष्ट करके उन्हें साधारण मानव बना दिया। राजाश्रित कवि उनको भी तालुकदारों के रूप में देखने लगे। अवध में नवाबों का शासन, विलासिता के लिए प्रसिद्ध हो उठा था, जिसकी कथाएं आज भी प्रचलित हैं, अतः यहाँ के कवि भी उसी धारा में बह चले। इस प्रकार देव-पूजा का अलौकिक स्वरूप, विरुदावली-वर्णन के रूप में, अवध के कवियों द्वारा, प्रायः लौकिक दृष्टि से ही ग्रहण किया गया।

सुखदेव जी के निम्नलिखित छन्द में भगवान् राम का स्वरूप बहुत कुछ देवत्वपूर्ण है :

> "रघुनाथ हरि, मो पाप हरि, सुप पुंज करि वर दानि।
> जै वीर मनि, रनधीर मनि, सुपदेव मनि सुपखानि ॥"[१]

दास जी भी भगवान् शंकर को उसी देवत्वपूर्ण दृष्टि से देखते हैं :

> "भाल मे जाके कलानिधि है वह साहेब ताप हमारो हरैगो।
> अंग में जाके विभूति भरी वहै भौन में सम्पति भूरि भरैगो।
> घातक है जु मनोभव को मन पातक वाही के जारे जरैगो।
> दास जू सीस मैं गंग धरे रहै ताकी कृपा कहो को न तरैगो ॥"[२]

परन्तु आगे वही भगवान् राम, सम्पूर्ण रूप से, एक युद्धवीर नरपति के रूप में युद्ध-क्षेत्र में दृष्टिगत होते हैं :

> राम असि तेरी अस वैरिन को कीन्हों हाल,
> तातें दोउ काज एक साथ ही सजनु हैं।
> ज्योंही यह कोस को तजति है दयाल,
> त्योंही वेऊ सब निज निज कोस कों तजतु हैं।

---

१. वृत्त-विचार, ह० लि०

२. काव्य-निर्णय, पृ० १५०

दास यह धारा कों सजति जब जब,
तब तब वै सकल अश्रुधारा को सजतु हैं।
या कों तू कंपाइ कै भजावत है ज्यों-ज्यों,
वेऊ कंपि कंपि ठौर ठौरनि भजतु हैं।[1]

इसी प्रकार भगवान् शंकर के प्रति, कवि के हृदय में इसलिए उपालम्भ के भाव प्रकट होने लगते हैं, क्योंकि वे अपने जगदीशत्व अर्थात् नरेशत्व की उचित रक्षा न करते हुए, फटे हाल रहते हैं। किसी राजे-महाराजे को उपयुक्त वस्त्राभूषण धारण किए हुए न देखकर, स्वभावतः जनता के हृदय में कुछ कौतूहल अथवा उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो सकता है, क्योंकि साधारणतया प्रजा यही आशा करती है कि उसका सम्राट् सम्पूर्ण ठाठ-बाट से सुसज्जित रहे। अतः इस उपालम्भ में भी देवादिदेव शंकर को एक लौकिक नरेश के रूप में देखने की प्रवृत्ति विशेष लक्षित होती है :

"आक औ कनक पात तुम जो चबात हौ,
तो पटरस व्यंजन न केहूँ भांति लटिगो।
भूषण बसन कीन्हों ब्याल गजखाल को तौ,
सुबरन साल को न पैन्हिबो पलटिगो।
दास के दयाल ही सुरीति ही उचित तुम्हैं,
लीन्ही जो कुरीति तौ तिहारो ठाठ ठटिगो।
ह्वै कै जगदीश कीन्हों बाहन वृषभ को तौ,
कहा शिव साहेब गयन्दन को घटिगो।"[2]

अवध प्रदेश १८वीं-१९वीं शताब्दियों में अशान्त ही रहा। आए दिन आपस में युद्ध होते रहते थे। पड़ोसी राजे एक दूसरे से लड़ मरने को प्रतिक्षण प्रस्तुत रहते थे। इनके आश्रित कवि, निरन्तर इनको आसमान पर चढ़ाया करते थे। अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा की झोंक मे, ये कविगण इन राजाओं की देवताओं से भी तुलना करते थे। इन्हे इन्द्र, सूर्य बतला कर "प्राकृतजन गुण-गान" की सीमा उल्लंघन करते थे।

"नृप हिम्मतसिंह नरिन्द्रमन, इन्द्र न सरि करि सकत तुव।"[3]
"हिम्मति हद हिम्मति सिंह नृपति सूरज कुल सूरज से दरसैं।"[4]

---

१. काव्य निर्णय, पृ० १०१
२. वही, पृ० १२७
३. छन्द-विचार, सुखदेव, ह० लि०, पृ० १०
४. वही, सुखदेव, ह० लि०, पृ० १२

वरन् उपर्युक्त गुणों से भी ऊपर, सेवा-वीरता और विद्या-वीरता के गुण भी कवि ने उनमें आरोपित किए हैं।

धर्मवीरता की दृष्टि से कवियों ने नायकों की ईश्वर-भक्ति की ओर इतना ध्यान नही दिया है, जितना उनकी नीतिमत्ता की ओर। यह नीतिमत्ता भी धर्म के अन्तर्गत आती है, जिसके कारण शासक अपने देश को सुशासित रखने में समर्थ होते हैं। नवाब गाजिउद्दीन हैदर के विषय में कवि ने इसी नीति-पटुता का उल्लेख किया है :

"चोरी एक चित की, फलन में गदरताई, डांक रही कारन खबर दरवार के।
सोष रहे रग ही, त्रिदोष ही मे बैर भाव, पौन के लगे ते रहे पातन के खरके।
दीन रहे दोई है प्रवीन बेनी बरनत, परनारी परस वयद ही के करके।
बादी रहे जग मे मुबारक के देन वारे, गादी पर बैठत गाजुद्दी हयदर के॥"[1]

परिसंख्या अलकार की सहायता से कवि ने शासन-सम्बन्धी प्रत्येक त्रुटि को किसी वस्तु-विशेष मे केन्द्रित करके, नवाब-वजीर के शासन को सम्पूर्ण रूप से दोष-मुक्त प्रदर्शित कर दिया है। यह नीति-धर्म-सम्बन्धी विरुद-वर्णन की पराकाष्ठा है।

आश्रयदाताओं की भक्ति-विषयक धर्म-वीरता के उल्लेख अधिक नही हैं, जो हैं भी, वह साधारण :

"घर मे बसै सम्पति सदा, मन मैं बसै नंद नन्द हैं।"

अथवा "हरि के चरन मे प्रीति औ सब गुनन को आगार है।"[2]

आदि कथन करके कवि बेनी भट्ट ने "खूबचन्द" की भक्ति-भावना का भी परिचय दे दिया है। स्पष्टतः इस विषय को कवि, अधिक विस्तार देना नही चाहता, और न इन कथनो को रस-परिपाक की सीमा तक ले जाया जा सकता है। परन्तु देव-विषयक विरुद का उल्लेख, कविगणों ने, इन वर्णनो के साथ ही साथ, समानान्तर रूप से थोड़ा बहुत किया है और जो कुछ कहा गया है उसमे उनकी भक्ति की प्रवृत्ति विशेष परिलक्षित होती है। धर्म, दयादाक्षिण्य, दान, शौर्य आदि का आरोप, धार्मिक महापुरुषो मे विशेष रूप से, हमारे कवियों ने किया है। अपनी वीर-पूजा की सात्विक वृत्ति को चरितार्थ करने के प्रयत्न मे धार्मिक महापुरुषों की कर्तव्यनिष्ठा, दया-दाक्षिण्य, दानशीलता, युद्धवीरता, प्रजावत्सलता आदि गुणों का उदात्त वर्णन किया गया है। शृंगार के नाना रूपों,

---

१. नवरस तरंग, पृ० ३
२. रस-बिलास, बेनी, ह० लि०

उसके विलासमय दृश्यों का चित्रण करने के बाद, ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के हृदय में ग्लानियुक्त परिवर्तन होता था और इसलिए, संक्षेप में उल्लिखित होने वाले अन्य रसो मे, प्रधानतः वीर में, कवि अपने हृदय की पवित्र भावनाओं को संचित करता था। कविवर रसलीन ने भी इस रस का उपयोग अपनी धार्मिक भावनाओ को व्यक्त करने के लिए इस प्रकार किया है :

"हैदर ते जीतें न कोउ, यह जानत सब कोय।
धरमहि ते जय होत हैं पापहि ते क्षय होय ॥"
"घेरि लिये सुलेमान जब, गरजि सिंह चहुं ओर।
शाहनशाह उमाह सों लियें बचाइ बरजोर ॥"[१]

उक्त पंक्तियां इस्लाम के धर्मगुरु, हैदर की उदात्त वृत्तियों को व्यक्त करने के लिए कही गई हैं। अतः यह व्यक्त होता है कि वीर रस, कवियों की शृंगारेतर सात्विक वृत्तियो को व्यक्त करने का साधन अवश्य बना रहा। भगवान् राम के विषय मे इस प्रकार की प्रशस्तिया अवध प्रान्त की विशेषता प्रतीत होती है। साथ ही साथ रामायण के महायुद्ध के नायक तथा समाज में मर्यादा-स्थापन के आदर्श होने के कारण भी उनके शौर्य का वर्णन विशेष वांछनीय बना रहा, यह भी स्पष्ट है। सुखदेव जी द्वारा किया हुआ राम का यह वर्णन अत्यन्त उदात्त है :

"उमड़ि घुमडि दल,प्रबल सकल सग्राम सु सज्जै।
मारु मारु ध्वनि बीर, बीर रस दुदुंभि बज्जै।
साजि साजि कविराज राज रावण दल गज्जै।
चकित लखण सुग्रीव चित्त चिन्तातिं उपज्जै।
अभिराम राम उत्साहमय मन आनंद बाढ़ो कवल।
दशमध्य मध्य तकि खग लियो दशस्यन्दन नन्दन नवल ॥"[२]

प्रायः सभी कवियो ने राम के शौर्य का थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है। भूपति जी कहते है :

"आवत सुनि रघुबीर दल, तिय जुत भजे अमित्र।
लियो बसन सब रन बिना तजि घर बसन विचित्र ॥ ६६७॥[३]

दास जी राम का यश वर्णन करते हुए कहते है :

---

१. रस-प्रबोध, रसलीन, पृ० ८४
२. फा० अ० प्रकाश, सुखदेव, पृ० १६०
३. भूपति सतसई

"प्रगट तीनहूं लोक में अचल प्रभा करि थाप।
जीत्यो दास दिवाकरहिं श्री रघुवीर प्रताप ॥६॥"[१]

अथवा उनके यशस्वी हाथों का वर्णन करते हुए कहते हैं :

"साधुन को सुखदानि है, दुर्जन गन दुखदानि।
वैरिन विक्रम हानिप्रद राम तिहारे पानि ॥४३॥"[२]

रसलीन जी ने भी राम के सैन्य की इस प्रकार प्रशंसा की है :

"जो दल चढ़ि लंका गयो, आयो रावण मारि।
सो लरिकै सरि को करै, है लरिकन सों हारि ॥६७॥"[३]

इस प्रकार राम और उनसे सम्बन्ध रखने वाले अन्य वीर, हनुमान, अंगद, जामवन्त आदि के शौर्य का वर्णन अवध के कवियों ने पर्याप्त मात्रा में किया है।

युद्ध वीरता का वर्णन कवियों ने आश्रयदाताओं के सम्बन्ध में सबसे अधिक किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है, यह तत्कालीन परिस्थितियों के कारण स्वाभाविक भी है। साथ ही इन युद्धवीरों के युद्ध-प्रयाण, गजारोहण, अथवा अश्वारोहण, सेना, उनकी तलवार, उनके आतंक तथा यश का वर्णन भी विस्तार-पूर्वक किया हुआ मिलता है।

सुखदेव जी ने महाराज हिम्मतसिंह के युद्ध-प्रयाण तथा गजारोहण का निम्नलिखित रोले में ओजपूर्ण वर्णन किया है।

"झुक्कत गिरिवर झुंड रुहिर मुक्कत फनिंद फन।
लुक्कत रजभर सूर दरिन दुक्कत गनीमगन।
बढ्ढिय प्रबल प्रताप निकर उद्दिप अरिंद सब।
हिम्मतिसिंह नरिंद कोपि चढ्ढिय गयद जब ॥"[४]

इसी प्रकार पानिप से परिपूर्ण हिन्दूपति की तेग की आंच से अरिगणों को भस्म होते देखकर दास जी को आश्चर्य होता है।

"जो हिन्दूपति तेग तुअ पानिप भरी सदाहि।
अचरज याकी आंच सो अरिगन जरि जाहिं ॥"[५]

सुखदेव जी फाजिल अली की करवाल को शत्रु के माहात्म्य रूपी तम का नाश करने वाले सूर्य के रूप में देखते हैं :

१-२. का० नि०, पृ० ८९
३. र० प्र०, पृ० ८६
४. छ० वि०, पृ० ९
५. का० नि०, पृ० १२०

"हिम्मति को हातम महातम है ऐसी अरि महातम ताको रबि जाको करवाल है ।"[१]

हिम्मति सिंह के शस्त्र-धारण तथा युद्ध-क्षेत्र के शौर्य का वर्णन भी कवि ने इस प्रकार किया है :

"गहत शर चाप जब आप करि कोप तब होत उर पलन के पाक तूदे ।
गहत जब षग्ग जब होत रन रग्ग तब रुहिर के रग हर अंग ऊदे ।
छेदि बरछीन सो किये अरिछीन सब लिये धरि छीनि कै विकट बाने ।
जीत कै कित्ति कै नृपति हिम्मति बली वीर रस निरस ह्वै सुभट भाने ।"[२]

प्राकृताभास हिन्दी की द्वित्व-वर्ण की प्रवृत्ति, वीर रस के परिपाक में यहां भी सहायिका बनाई गई है ।

इस सम्पूर्ण वीरत्व का अन्तिम परिणाम, आश्रयदाताओं के शुभ्र यश-प्रसार के रूप मे वर्णन किया गया है । कविवर कालिदास ने महाराज भोज के यश का जैसा शुभ्र वर्णन किया था, इन कवियों का वर्णन भी उसी परम्परा का परिलक्षित होता है । कालिदास ने भोज-राज के यश से श्वेत हुए ब्रह्माण्ड मे विष्णु, शंकर भगवान, इन्द्रदेव, राहु, ब्रह्मा आदि सबको भ्रमित कर दिया है । ये सब अपने अपने प्राप्य को खोजते हुए मारे-मारे फिरते है । विष्णु क्षीरसागर को खोजते है, शंकर कैलाश पर्वत को खोजते हैं, इन्द्र अपने ऐरावत को खोजते है, राहु चन्द्रमा को खोजता है तथा ब्रह्मा अपने हंस को खोजते है और ये सब श्वेत पदार्थ, भोजराज के श्वेत यश के प्रसार मे निमज्जित हैं ।[३] दास जी ने भी हिन्दूपति के यश की श्वेतता कुछ इसी ढंग की वर्णित की है, यद्यपि उसकी व्यापकता और भ्रमात्मकता का वर्णन सुखदेव जी ने फाजिल अली के सम्बन्ध में विशेष चमत्कार पूर्ण किया है :

"सारद नारद पारद अंग सी छीरतरग सी गंग की धार सी ।
शंकर सैल सी, चंद्रिका फैल सी सारस रेल सी हंस कुमार सी ।

---

१. फा० प्र०, पृ० १९

२. छ० वि०, पृ० १३, ह० लि०

३. महाराज श्रीमन् जगति यशसा ते धवलिते ।
पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते ।
कपर्दी कैलासं करिवरमभौमं कुलिशभृत् ।
कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसं मधुना ॥८२॥

(भोज-प्रबंध, कालिदास)

दास प्रकास हिमाद्रि विलास सी कुंद सी कास सी मुक्ति भँडार सी।
कीरति हिन्दू नरेस की राजति उज्ज्वल दास चंवेली कि हार सी।[१]

सुखदेव जी ने श्वेत और श्याम वस्तुओं मे अभेद दिखला कर कीर्ति-प्रसार को व्यापक बनाया है।

"जलधि औ क्षीरधि मे पाइये न भेद कछू, शशि सी सनीचर की भांति पेपियत हैं।
शंकर से सीपति, कमल नील कैरव से, गजराज ऐसे गजराजी लेखियत हैं।
कहै कविराज जस फाजिल अली के मिले भानुजा उमा की गति न विशेपियत है।
कहा कहौं बार-बार, बार सेत एक बार फूल भरी वेनी सी त्रिवेनी देखियत है॥[२]

सक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि प्रशस्ति-वर्णन की यह प्रवृत्ति, तत्कालीन कवियों की विशेपता थी। समय का पूरा प्रतिबिम्ब इस प्रवृत्ति द्वारा प्रतिफलित होता है; दूसरे, कवियो की सात्विक प्रवृत्तियों, भक्ति-भावना आदि को भी इस प्रवृत्ति के द्वारा प्रकाश में आने का अवसर मिलता है। देव-विपयक काव्य इस रस की सहायता से अधिकतर व्यक्त हुआ। इस प्रकार इस प्रवृत्ति ने श्रृंगार के बीच शौर्य तथा विलास के बीच भक्ति-भावना को जागृत रखा और यह थोडे महत्व की बात नही थी।

हास्य-वृत्ति

हास्य की वृत्ति विशेपत: मनुष्य में ही पाई जाती है। अन्य जीवधारियों मे हंसने की शक्ति नही है। गुदगुदी द्वारा उत्पन्न हास्य केवल शारीरिक हास्य है, उस हास्य में कार्य-कारण का तारतम्य तो है परन्तु आलम्बन आदि का सम्बन्ध नही है अर्थात् विपय-अविपय अथवा समय-असमय का विचार नही है। मद्यपान आदि से उत्पन्न हास्य में कार्य-कारण का तारतम्य नही है। बुद्धि-विभ्रम होने से मनुष्य केवल मानसिक शिथिलता के कारण हँसता है, अत: इन हास्यो का विश्लेपण किसी सिद्धान्त के आधार पर नही हो सकता। शरीर-विज्ञान संबंधी सिद्धान्तों से यहा पर हमारा तात्पर्य नही है। अस्तु।

मनुष्य में हास्य की प्रवृत्ति बौद्धिक है। बुद्धि की विशेपता के कारण ही मनुष्य इस दृष्टि से अन्य प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसकी बुद्धि, अन्य प्राणियों की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित है। इसी कारण उसमें हंसने की शक्ति है। यह हंसने की शक्ति, सामाजिक वातावरण में विकसित होती है। जीवनक्षेत्र

---

१. का० नि०, दास, पृ० ६५
२. फा० प्र०, पृ० २१

के विभिन्न दृश्यों में यह हास्य उत्पन्न होता रहता है और सामाजिक-संस्कृति के अनुसार इसका भी स्तर मनुष्य के जीवन में ऊंचा अथवा नीचा होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज की हास्यवृत्ति का स्तर उतना ही ऊंचा होगा जितना उसका बौद्धिक विकास होगा। सामाजिक होने के कारण यह भी स्पष्ट है कि हास्य की प्रवृत्ति अन्योन्याश्रित होगी। एक व्यक्ति दूसरे के ऊपर हंसेगा और चाहेगा कि अन्य व्यक्ति भी उसकी हंसी में साथ दे, क्योंकि जिसके ऊपर वह हंसेगा उसे अन्य सबसे विलक्षण ठहराना ही उसका उद्देश्य होगा। यह विलक्षणता कई प्रकार की हो सकती है। हैज़लिट के अनुसार "हास्य का मूल अनमेल वस्तुओं में, असम्बद्ध विचारों में तथा एक भाव का दूसरे से संघर्ष हो जाने में है।"[१] तात्पर्य यह कि जहां पर हमको असम्बद्धता के दर्शन होंगे वहां हमको हंसी आवेगी। यही मुख्यतया हास्य के आलम्बन कहे जा सकते हैं। "विकृत आकार, वाणी, वेश और चेष्टा आदि को देखने से हास्य रस उत्पन्न होता है।"[२] इस कथन का आधार यही असम्बद्धता है।

आचार्यों ने हास्य के संचारियों में आलस्य, निद्रा, अवहित्था को प्रधानतः रक्खा है।[३] इनमें आलस्य और निद्रा तो शारीरिक है, अवहित्था को मानसिक श्रेणी में रक्खा जा सकता है। परन्तु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गर्व को हास्य के संचारियों में प्रमुख स्थान देना अनुचित न होगा, क्योंकि प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक हाब्स के अनुसार किसी के ऊपर हंसने वाला व्यक्ति, प्रधानतः उसे नीची दृष्टि से देखता हुआ, स्वयं अपनी श्रेष्ठता का अनुभव करता है। यह विजय-भाव उसके गर्व का द्योतक है। यहां तक देखा जा सकता है कि एक ही व्यक्ति अपने किसी समय के मूर्खता-पूर्ण आचरण का उपहास करता है और अपने प्रति तुच्छता का भाव प्रदर्शित करता है।[४] यह भी उसका तत्कालीन परिस्थिति के प्रति गर्व का

---

१. एसेज, हैज़लिट
२. रस-मंजरी, क० ला० पोद्दार
३. *साहित्य-दर्पण, विमला टीका, शालिग्राम शास्त्री*
4. "The passion of laughter is nothing else but sudden glory arising from some sudden conception of some eminency in ourselves, by comparision with the infirmities of others, or with our own formerly; for men laugh at the follies of *themselves past, when they come suddenly to* remembera-nce, except they bring with them any present dishonour."

(Hobbes)

सूचक है। अतः गर्व, हास्य की उत्पत्ति में बड़ी सहायता करता है और व्यंग्य के मूल में तो प्रधानतः इसी को रक्खा जा सकता है, क्योंकि व्यंग्य निर्मम होता है और निर्ममता, हृदयहीनता, गर्व का एक अंग है। किसी के ऊपर हंसना, उसका उपहास करना, इस बात का निर्देश करता है कि हमारी सहानुभूति उस व्यक्ति के प्रति कुछ समय के लिए मर गई है। हम उसकी भूलों, मूर्खताओं आदि के प्रति कठोर हो जाते हैं और उस व्यक्ति की दयनीय दशा देखकर हंस पड़ते हैं। व्यंग्यात्मक हास्य के मूल मे यही भावना काम करती है। हास्य के इस भेद का साहित्य-क्षेत्र मे ऊंचा स्थान है और आगे हम उदाहरण सहित इसी पर विचार करेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों ने उपहास-वृत्ति का आरम्भ युद्ध-क्षेत्र अथवा फसल काटने का समय, माना है। युद्धक्षेत्र में अपने शत्रु पर व्यंग्य बाण छोड़ना, कटु शब्द कहते हुए उसका उपहास करना, योद्धाओं की प्रवृत्ति थी। उधर ग्रामीण जनता अन्न-सचय के समय अनेक प्रकार के आनन्दोत्सव मनाती और देवताओं को अन्न का समर्पण करती थी। ऐसे समय में नृत्यगीत भी होते थे जिनमें विनोद की भावना वर्तमान थी।[1]

इस नृत्यगीत मे उपहास, अश्लीलत्व आदि के भाव भी आ गए। एक दूसरे के ऊपर विनोद की भावना से आक्षेप करना ही इनका उद्देश्य था। आज भी भारतीय ऋतु-परिवर्तनकालिक उत्सव, होलिकादाह के अवसर पर, इस प्राचीन प्रवृत्ति का प्रदर्शन होता है। अत. ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यंग्य की प्रवृत्ति धार्मिक क्षेत्र के सहारे आगे बढी। वास्तव मे धार्मिक क्षेत्र मे सम्प्रदायवाद के कारण एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या और द्वेष की भावना प्रबल हो उठी। फलतः उपर्युक्त. दोनो प्रवृत्तिया, युद्ध-वृत्ति और विनोद की पराकाष्ठा, ऐसे साम्प्रदायिक साहित्य में व्यक्त होने लगी। स्वय सूरदास ने भगवान् कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओं को "रंक-भिखारी" की उपाधि प्रदान कर दी।

परन्तु इस आक्षेप के मूल में कवि की एक प्रधान इच्छा परिलक्षित होती है और वह है दूसरो को अपने मत में खींच लाने का प्रयत्न। उपहास द्वारा कवि अपने आलम्बन की ओर उपेक्षा का भाव उदित करना चाहता है, अतः यह कहा जा सकता है कि कवि का उद्देश्य उन दुर्बलताओं, त्रुटियों आदि की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना रहता है, जो किसी न किसी प्रकार धर्म अथवा समाज मे प्रविष्ट हो गई हैं और जिनके कारण विकार में वृद्धि हो रही है। इस प्रकार वह धर्म अथवा

१. चैम्बर्स इनसाइक्लोपीडिया, भाग ९, पृष्ठ १०६-०८

समाज का सुधार करना चाहता है। यही उसका प्रमुख उद्देश्य है। प्रसिद्ध कवि ड्राइडेन का कथन है कि व्यंग्य-काव्य का वास्तविक उद्देश्य दोष-निवारण ही है।[१] ये दोष, धर्म अथवा समाज मे ऐसे समय में उत्पन्न हो जाते हैं जब सभ्यता अथवा संस्कृति अपनी सीमा का उल्लंघन कर जाती है। एक पाश्चात्य विद्वान् के शब्दों में जब "जीवन की मधुरिमा इतनी बढ़ जाती है कि वह विरक्तिजनक हो जाती है"[२] तभी इस प्रकार उपहास-काव्य का जन्म होता है। स्वयं कवि के जीवन-संघर्ष की कटुता भी इसकी उत्पत्ति का कारण बन सकती है, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में कवि, संसार के प्रति विद्रोही हो उठता है और कठोर शब्दों का प्रयोग संसार के प्रति करता है। परन्तु इस कटुता के मूल में भी वही "अति-सभ्यता" की भावना काम करती है, क्योंकि समाज के कर्णधार, उच्चपदासीन व्यक्ति अपने आपको इतना ऊंचा समझने लगते है कि जनसाधारण के सुख-दुख का उन्हें ध्यान ही नही रहता। ऐसी परिस्थिति मे कोई दिलजला यदि कटु शब्दों का प्रयोग करे तो स्वाभाविक ही है।

यदि हम सहानुभूतिपूर्वक देखें तो उस व्यक्ति के उद्गारों में भी सुधार की भावना छिपी हुई मिलेगी। वह कठोर भर्त्सना के द्वारा उन लोगों की बुद्धि ठिकाने लगाना चाहता है, जो समाज के निम्न सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्यो को भूले हुए है, अतः उसके शब्दों का भी वैसा ही महत्व है जितना किसी सुधारवादी व्यंग्य-कवि का। परन्तु इन्ही विभिन्न व्यंग्यकारो को दृष्टि मे रखते हुए यह कहा जा सकता है कि व्यंग्य-काव्य-लेखन एक कला है। विद्वानों का कथन है कि कटुभाषण और व्यंग्य-काव्य के निर्माण में बहुत सूक्ष्म व्यवधान है। यदि सचेत न रहा जाय तो व्यंग्य-काव्य केवल गाली-गलौज रह जायगा। "यह हास्य की वृत्ति रत्ती भर भी छूटी तो व्यंग्य गाली बन गया और यदि उसका स्वरूप साहित्यिक न रहा तो वह विदूषक के मुह चिढ़ाने जैसा हो जायगा।"[३] अतः हास्य तथा साहित्यिक स्वरूप की रक्षा में ही व्यंग्य-काव्य की सफलता है।

---

1. "The true end of satire is the amendment of vices by correction." Dryden.
2. "....arises from a state of over-civilization, when the cream of life is so thick that it becomes repulsive."

   G. E. Hodgson.
3. "Without humour satire is invective; without literary form it is mere clownish jeering."

   (En. Brit. Vol.24, p. 228)

सामयिक परिस्थितियों के अनुसार तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक अथवा व्यक्तिगत क्षेत्रों में विकार की उत्पत्ति होती है। साधारणतया परम्परा से ग्रहीत, मानवता के सिद्धान्तो का उल्लघन करने वाले व्यक्ति ही पाखण्ड के पोषक कहे जाते हैं। धर्म के नाम पर छिपकर अनाचार करने वाले व्यक्ति इसी श्रेणी में आते है। इनसे भी ऊपर वे हैं जो प्रत्यक्ष में तो संसार से विरक्त बने हुए हैं, परन्तु अन्तर मे लालसा, तृष्णा की प्रबल ज्वाला प्रज्वलित किए हैं। ऐसे लोगों से समाज को सावधान करना अवश्य ही कवि का कर्तव्य है। वेनी कवि ने ऐसे ही एक व्यक्ति विशेष, ललकदास, को लक्ष्य करके जनता को इन ललकदासों से सचेत रहने की प्रेरणा की है।

"घर-घर घाट-घाट बाट-बाट ठाट-ठटे वेला औ कुवेला फिरैं चेला लिये आस-पास।
कबिन सों वाद करैं भेद बिन नाद करैं महा उनमाद करैं धरम करम नास।
बेनी कवि कहै विविचारिन को वादशाह अतन प्रकाश तन सत न शरम तास।
ललना ललक, नैन मैन की झलक, हसि हेरत अलक रद पलक ललकदास॥"[१]

मिथ्या-दानियों की प्रवृत्ति के दर्शन करने के लिए अवध के वे ताल्लुकदार अच्छे आदर्श थे जिनके पास पर्याप्त धन तो था ही नहीं परन्तु कुछ न कुछ थोडा बहुत न देने से बदनामी भी थी। परन्तु उदार-हृदय दाताओं के यहा से तुष्ट होकर आए हुए याचकों को उनकी यह दरिद्रता क्या भली लगती ? उनकी चाल को भी वे भली प्रकार समझते थे, अत: वेनी जैसे कवियों ने उनकी स्मृति अपनी व्यंग्य-वाणी द्वारा अमर कर दी :

"कारीगर कोऊ करामात करि लायो लीन्ही,
मोलन की थोरी जानि बनी सुघरई है।
रायजी को राय जी रजाई दई राजी ह्वै कै,
सब ठौर सहर में सोहरत भई है।
वेनी कवि पाय कै अवाय रहे घरी द्वैक,
कहत बनै न कछु ऐसी गति भई है।
सांस लेत उड़िगो उपल्ला औ मितल्ला सबै,
दिना द्वैक बातिन को रुई रहि गई है।"[२]

रायजी एक हल्की फुल्की रजाई देकर सस्ता यश कमा लेना चाहते थे, परन्तु चारणराय को राजी कर लेना इतना सस्ता न था। आज भी इस प्रकार

---

१. वेनी, स्फुट काव्य, ह० लि०
२. वही

के दातागण बाजार मे भेंट-उपहार देने के लिए दूकानदारों से कोई "देने वाली साधारण वस्तु" खोजते हुए देखे जा सकते है। वास्तव में यह दान, स्वेच्छा का नही, विवशता का है जिसे शिष्टाचार-वश निभाना ही पड़ता है।

बहुत से लोग समाज में 'मनहूस' समझे जाते है। अपनी दरिद्रता के कारण, अथवा कंजूसी के कारण, अथवा नीरसता और एकान्तप्रियता के कारण, लोग उनके प्रति विरक्त हो जाते है। उनका नाम लेना भी अनिष्टकर समझा जाता है, यहां तक कि उनके नामोच्चारण से खाने सोने में भी बाधा पड़ने की सम्भावना समझी जाती है :

"भोर नाम लीन्हे मिलै भोजन न साम लग,
साम नाम लीन्हे सोइबे हूं में जलल है।
तीसरे पहर नाम लेत कोऊ साह जी को,
और कहा कहिए बियारू मे खलल है।"[१]

कंजूसों के प्रति समाज सदैव कठोर रहता है। वे कभी आदर की दृष्टि से नहीं देखे जाते। परन्तु उनके ऊपर संसार की उपेक्षा का कोई प्रभाव नही पड़ता। वे निर्लज्ज हो जाते हैं। सेवक बार-बार अपने भरण-पोषण, भोजन-वस्त्र की बात कहता है तो उसे सेवा करते रहने का उपदेश मिलता है। अन्त मे सेवक भी ऊब उठता है और दिगम्बर दशा मे स्वामी के सम्मुख पहुँचता है। प्रश्न होता है, यह क्या? उत्तर है, यही आपकी सेवा का फल है!

"काहू एक दास काहू साहिब की आस मैं,
कितेक दिन बीत्यो रीत्यो सबै भांति बल है।
विथा और खिनै सों कहे उत्तर पहीले लहै,
सेवा करा ह्वै ही रहै यामें नही चल है।
एक दिन दास पर आयो प्रभु पास तन,
राखै न पुरानो बास कोऊ एक थल है।
करत प्रणाम सो बिहंसि कह्यो यह कहा?
कह्यो कर जोरि देव सेवा ही को फल है॥"[२]

सम्पन्नता का स्वांग भरने वाले ढोंगियों की कलई भी इन सूक्ष्मदर्शी कवियों द्वारा खोली गई है। मनुष्य को अपनी परिस्थिति से सतुष्ट रहते हुए, मिथ्याभिमान से बचना चाहिए, परन्तु जो सामर्थ्य न रखते हुए भी पांच सवारों में

---

१. बेनी, स्फुट काव्य, ह० लि०

२. का० नि०, दास

शामिल होना चाहते हैं वे अन्ततोगत्वा उपहास के पात्र बने बिना नही रहते। ऐसे मनुष्य झूठी शान जमाने के लिए मांग जांच कर भी व्यर्थ का दिखावा करना चाहते हैं और जब वह प्रदर्शन निभ नहीं पाता तब हंसी के पात्र बनते हैं :

"तुर्रा पगरी पर, केराया के करी पर सु,
ओंजु या घरी पर चले हैं सजि मेले को।
हंसि मुख फेरत है इत उत हेरत हैं,
बार बार टेरत है आदमी अकेले को।
चूरीदार जामा थिरा एक हू न सामा और,
फेरि कुम्हिलाय गये जैसे पात केले को।
याही हेत भागे आगे आगे सब लोगन के,
रात समै साथ ना मसालची उजेले को।"[१]

बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बात-चाल मे अपनी प्रशसा करना तथा शेखी मारना, स्वभाव बना लेते है। उनकी प्रत्येक बात आत्मप्रशंसा से परिपूर्ण होती है। अपने बराबर योग्य वह किसी को भी नही समझते, वरन् यहा तक कहा जा सकता है कि वे संसार की गति का आधार अपने को ही मानते हैं। यद्यपि लोग उनकी मूर्खता को स्पष्ट समझते हैं। ऐसे ही लोगों की तुलना गिरिधर जी ने चूहे और महुवे से की है।

"मूसा कहे बिलार सों, सुनरे जूठ झुठैल।
हम निकसत है सैर को, तुम बैठत हो गैल।
तुम बैठत हो गैल कचरि धक्कन सो जैहो।
तुम हो निपट गरीब कहा घर बैठे खैहो।
कह गिरिधर कविराय बात सुनिये हो हूसा।
वाउ दिनन का फेर बिलारिहि सिखवै मूसा।"[२]

इसी प्रकार महुआ, दाख से मसलहत करता है कि हम तुम तो एक ही हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि हम कुछ अधिक मधुर हैं, परन्तु इसका कुछ विचार न करना। यों ही, हम कुछ अधिक ऊंचे पर लगते हैं, तुम थोडा नीचे हो, परन्तु इससे कोई बात नही, रसराज हम दोनो ही हैं। ऐसे रसराज, समाज मे प्रायः दिखलाई देते है और उनके प्रति जनता की भावना का प्रतिनिधित्व गिरिधर जी ने अन्योक्ति रूप मे सफलता के साथ किया है :

---

१. वेनी, स्फुट काव्य
२. कुडलिया, गिरिधर कविराय

"महुआ नित उठि दाख सों करत मसलहत आय।
हम तुम रूखे एक से, हूजत हैं रसराय।
हूजत हैं रसराय बिलग जनि याको मान्यो।
मधुर मिष्ट हम अधिक कछुक जिय से जनि जान्यो।
कह गिरिधर कविराय कहत साहब से रहुवा।
तुम नीचे फल बेलि वृक्ष हम ऊचे महुवा॥"[१]

सामाजिक व्यंग्य के उपरान्त एक दृष्टि राजनैतिक व्यंग्य पर भी डाल लेना उचित होगा, यद्यपि तत्कालीन परिस्थितियो के अनुसार जनता, राजनीतिक समस्याओं में उलझती नहीं थी। स्वयं शासक-वर्ग ही, लखनऊ के नवाब, राजनीति को विशेष महत्व नहीं देते थे; परन्तु इतना तो था ही कि जनता को इस उपेक्षा का कटुतापूर्ण फल भोगना पड़ता था। स्वयं लखनऊ के नगर-प्रबंध के विषय में कविवर बेनी भट्ट के आक्षेप बड़े ही सजीव, तीव्र तथा स्वाभाविक हैं। आज १०० वर्ष से ऊपर व्यतीत हो जाने पर भी हम इस तथ्य को सरलता के साथ हृदयंगम कर सकेंगे। आज भी कल्पना के नेत्रों से लखनऊ की कीच, यदि मीचु के समकक्ष नहीं तो उसके निकटतम देखी ही जा सकती है। उस समय के नगर-प्रबन्ध की जो दुर्दशा थी उस पर मार्मिक आक्षेप करके, बेनी ने प्रबन्धकर्ताओं का अच्छा खाका खींचा है। उपहास-काव्य के ये छन्द श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इनमें शिष्ट तथा प्रभावशाली व्यंग्य है। वर्षा-ऋतु के यह चित्रण देखिए:

"एकै बिछलत, पिछलत तिन्हे लपे एकै, एकै परे कीच में बिधाता को बकत हैं।
ठौर ठौर नदी उमड़ी है मापदानन की, हाथीवान हूलै हाथी जाय न सकत हैं।
बरसत मेह ऐसी दशा लखनऊ बीच, बरनत शेश हू के आनन थकत हैं।
देवता मनाये पुन्य पिछिली सहाय डेरे पहुंचत जाय ताके पूरन बखत हैं।"

— — —

"एकै खरे रोवैं एकै बसन निचोवैं, एकै जपम को टोवैं देखे देह थहराति है।
एकै लेत याहै ऊंची करि करि बाहैं एकै जोर को उगाहैं ना जुगुति ठहराति है।
बेनी कवि कहै और कहां लौं बखान करौं ऐसेई शकल मुशकिल दिनराति है।
एकै फंसे कटि लगि एकै गिरवान लगि, आप गरकाप शिपा साफ फहराति है।"[२]

इस व्यंग्य पूर्ण हास्य के अतिरिक्त विनोदात्मक हास्य का स्थान भी साहित्य में बहुत व्यापक है। फिर भी यह हास्य अधिकतर संचारी के रूप में ही प्राप्त

---

१. गिरिधर, कुंडलिया
२. बेनी, स्फुट काव्य

होता है। शृंगार काल के कवियों ने शृंगार के संचारी-रूप मे ही हास्य का व्यापक प्रयोग किया है। अनेक मानसिक वृत्तियों तथा शारीरिक हाव-भावों का सजीव प्रदर्शन करने के लिए जिस वचन-वक्रता की आवश्यकता पड़ती है उसका प्रयोग शृंगार में कवियों ने स्थान-स्थान पर किया है ; उस वक्रता के द्वारा हास्य के श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं, साथ ही शृंगार के परिपाक मे सहायता मिली है।

मस्तक पर महावर लगा देखकर, विपरीतता की भावना से, जो हास्य का संचार हुआ है, वह बड़ा ही विनोद पूर्ण तथा मार्मिक है :

"भोर ही न्योति गई ती तुम्हैं वह गोकुल गांव की ग्वालिनि गोरी।
आधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि कियो बरजोरी।
आवै हंसी हमैं देखत लालन भाल मैं दीन्हौं महावर घोरी।
एते बड़े ब्रज मण्डल मैं न मिली कहू मांगेहु रंचक रोरी॥"[१]

बेनी भट्ट ने भी कृष्ण के ऐसे ही अस्तव्यस्त स्वरूप को देखकर उन्हें 'दिवाली का बैल' बनाया है जो उस दिन रंग-चुंग कर सजाया जाता है :
"पीक लीक अंजन वलित भाल बंदन ये ब्रजराज बैल बनि आये हौ देवारी के।"[२]

इसी प्रकार कृष्ण के ग्वाल वेश को देखकर गोपिका उनके प्रति हास्य का जो नाट्य करती है वह भी दर्शनीय है :

"पीत पिछौरी कसे कटि में घटि जानत और न आपुन नेरे।
चाकर चेरे परे चरवाहे हैं ऐसे हमारे बबा के घनेरे॥"[३]

शृंगार में हास्य का उपयोग करते हुए अनेक कवि प्रायः अश्लील भी हो गए हैं; उक्ति तो सुन्दर है परन्तु कुछ शिष्टता का उल्लंघन किए हुए। ऐसे उदाहरण बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त हो सकते हैं।
"देखत उरोज सुधि आवत है साधुन को ऐसोई अचल शिव साहेब हमारो है।"
(दास)

शृंगार के संचारी रूप में हास्य के उदाहरण, व्यंग्य तथा वक्रता से भी युक्त हैं तथा प्रचुर मात्रा में प्राप्य हैं। यहां पर इस विषय का विस्तार अनावश्यक है। भक्ति का संचारी हास्य, विशेष विनोद-पूर्ण तथा आकर्षक है, यद्यपि तत्कालीन कवियों ने उसका क्षेत्र कुछ सीमित कर दिया था। जहां तक विचित्र वेश-भूषा का सम्बन्ध है, देवताओं में भगवान् शंकर ही ऐसे मिले, जिनमे अद्भुतता

---

१. न० ह०, बेनी प्रवीन
२. र० वि०, बेनी, ह० लि०
३. न० ह०, बेनी प्रवीन

के दर्शन होते हैं और जिनके आधार पर भक्ति का संचारी हास्य बनाया जा सका है। इस प्रकार भगवान् शंकर को लेकर भक्ति का परिपाक करने के लिए अनेक प्रकार के विनोद-युक्त-कथन किए गए हैं। शिव-विवाह में कविवर तुलसी ने यह विनोद दिखलाया ही है। कविवर बेनी ने भी शिव-विवाह पर अच्छा छींटा कसा है :

"किलकैं खबीस दसबीस आस पास बैल,
बेन्नत देवालै भौन कौन को बिगारौगे ?
फफकैं फनीस औ फुलंग फिरैं फेरी देत,
भूत प्रेत डाकिनी कहा लौं निरधारौगे ?
बेनी कवि कहै कहूं बिपिन बताय दीजै,
ऐसेई बरातिन सों सहर संहारौगे।
जोग जनवासे को लगै न कहूं महाराज,
कौन के दुवारे यह आफति उतारौगे ?"[1]

इसी प्रकार आशुतोष अवढ़र दानी भगवान् शंकर की दरिद्रता पर भी अच्छा आक्षेप सुखदेव जी ने किया है। किसी चोर ने सोचा कि भगवान् शंकर सा दानी तो दूसरा है नहीं, अवश्य ही उनके घर सम्पत्ति का भाण्डार होगा। बेचारा अस्सी कोस दौड़कर चोरी करने आया। घर में और तो था ही क्या ? कहीं एक कोने में धतूरे के बीज पड़े थे जो हजरत चावल के धोखे चबा गये। बस फिर क्या था, लेने के देने पड़ गये। दिमाग भी बिगड़ गया, धन-सम्पत्ति मिलनी तो दूर रही।

"एक निशि एक तसकर बर हर घर,
मूसिबे को हरबर धायो कोश असी है।
कहूं मुंडमाल कहू पसरे कराल व्याल,
कहूं गजखाल हाल देखि आयो डसी है।
ढूंढ़त भवन कोन पाये हैं धूतर बीज,
चावर के धोखे चावे मति गति नसी है।
घूमत फिरत गिरि उठत चलत भाजि,
कविराज ताहि देखि हसी उरबसी है।"

उद्धव-गोपी-संवाद में भी हास्य का संचारी-रूप, भक्ति के परिपाक में मिलता है। प्रायः कूबरी का उपहास अथवा ऊधव की अज्ञानता का चित्रण करके, विनोद-

१. बेनी, र० वि०, ह० लि०

पूर्ण परिस्थिति की सृष्टि की जाती है। दास जी ने गोपियों की इस उक्ति मे ऊधव और कुब्जा दोनों की खबर ली है।

"ऊधो तहांई चलो लै हमें जहं कूबरी कान्ह बसैं इक ठौरी।
देखिए दास अघाइ अघाइ तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी।
कूबरी सों कछु पाइये मंत्र लगाइये कान्ह सों प्रेम की डोरी।
कूबर भक्ति बढाइये बन्दि चढ़ाइये चन्दन बन्दन रोरी।"[१]

यहां भी शारीरिक वक्रता का आधार लेकर ही हास्य का परिपाक किया गया है अतः यह स्पष्ट होता है कि तत्कालीन कवि आलम्बन के विकृत अथवा अद्भुत वेश की ओर विशेष ध्यान देते थे। यह बात कुछ तो आवश्यक है ही परन्तु विशेषतः परम्परागत शास्त्रीय व्यवस्था के कारण भी कवि अपना क्षेत्र छोड़ते नही थे। इस प्रकार व्यग्य-विनोद का क्षेत्र प्रायः सीमित था। उसके बंधे हुए आलम्बन, उद्दीपन आदि थे और वह केवल परम्परा-पालन के लिए लिखा जाता था; फिर भी शृंगार-सम्बन्धी हास्य में व्यापकता मिलती है।

वचनवक्रता के द्वारा भी हास्य का परिपाक किया गया है, यद्यपि उसे एक शैली-मात्र कह सकते हैं। कथन की भगिमा के द्वारा अनेक स्थलों पर कवियों ने उक्ति-चमत्कार के द्वारा स्मित हास्य की सृष्टि की है। यह शब्द-चमत्कार शृंगार काव्य में ही विशेष रूप से प्राप्त होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि ये उदाहरण विशेषत. हास्य के ही है परन्तु फिर भी कथन की शब्दावली ऐसी है कि मनोरजन के साथ-साथ विनोद की भावना उत्पन्न किए बिना नहीं रहती, अतः ऐसे उदाहरणों को हास्य की सीमा में ले लेना अनुचित न होगा।

स्वय-दूतिका नायिका यमुना के निर्जन तट पर जल भरने आई है। अपने घट उठा देने की प्रार्थना कृष्ण से करती है। एक घट तो उठा भी लेती परन्तु दूसरा उठाकर पहले पर रख लेना कुछ दुष्कर है; इस कथन के बहाने वह कृष्ण से सयोग चाहती है। सारी वचन-वक्रता एक शब्द 'घट' के ऊपर निर्भर है, जो श्लिष्ट है। घट का अर्थ शरीर भी है और यहां नायिका द्वारा वही अपेक्षित है।

"नीर के कारन आई अकेलिये, भीर परैं संग कौन को लीजै।
आउ न कोऊ, गयो दिवसोऊ, अकेले उठाये घड़ो पट भीजै।
दास इतै लिखान को ल्याइ भलो जल न्हाइये प्याइये पीजे।
एतो निहोरो हमारो लला घट ऊपर नेकु घटो धरि दीजै।"[२]

---

१. दास, का० नि०
२. का० नि०, दास

खंडिता नायिका प्रातःकाल कृष्ण को घर आते देखती है। कृष्ण का पीताम्बर सपत्नी के नील वस्त्र से बदल गया है किन्तु उन्हें इसकी खबर नहीं है। नायिका जिस वक्रता के साथ उन पर आक्षेप करती हुई उनका ध्यान उस नील पिछौरी की ओर आकृष्ट करती है, वह सरस-हृदय पाठक के मुख पर मन्द हास्य की झलक लाए बिना नहीं रह सकता :

"सांवरो रंग लगे हरि रावरो, सांवरी ह्वै गई पीत पिछौरी।"[१]

हावों के अन्तर्गत भी इस प्रकार की वाक्चातुरी से हास्य की उत्पत्ति हुई है :

"बात होइ सो दूरिते दीजै मोहि सुनाइ।
कारे हाथन जिन गहो लाल चूनरी आइ॥[२]

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि हास्य का विस्तार शृंगारकालीन काव्य में व्यापक रूप में प्राप्त होता है तथापि उसका अस्तित्व स्वतंत्र नहीं है; अधिकतर वह संचारी रूप में अथवा शृंगार के किसी अन्य अंग के रूप में उपलब्ध है, फिर भी उसमें पर्याप्त प्रौढ़ता, सुरुचि तथा रसात्मकता के दर्शन होते हैं। तत्कालीन कवियों की यह एक प्रमुख प्रवृत्ति थी जिसने उनके काव्य को विशेष आकर्षक तथा मनोरंजक बनाने में पर्याप्त सहायता दी।

नीति-काव्य

जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को लोक-व्यवहार से परिचित होना आवश्यक है। परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करके हम अपने उद्देश्य में सफल हो सकें, इसके लिए अपनी बुद्धि की अपेक्षा तो है ही साथ ही दूसरों के अनुभव का लाभ भी हम उठाना चाहते हैं। ये अनुभव परम्परागत हैं। भारतीय साहित्य में रामायण, महाभारत में सामाजिक तथा राजनैतिक कर्तव्यों का कथन अनेक स्थलों पर किया गया है। वन चलते हुए राम सीता से कहते हैं : "भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन। ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।"[३] अर्थात् तुम भरत के सामने मेरी प्रशंसा न करना। क्योंकि समृद्धिमान् मनुष्य दूसरों की स्तुति नहीं सह सकते। इसी प्रकार लाक्षागृह के लिए प्रस्थान करते हुए पांडवों को विदुर जी द्वारा दी हुई शिक्षा "विदुर-नीति" नाम से आज भी जीवन संग्राम में सफलता प्राप्त करने के लिए पढ़ी जाती है।

---

१. बेनी प्रवीन, न० र० तरंग
२. रसलीन, र० प्र०
३. वाल्मीकि, अयो० २६।२४,२५ श्लोक

धर्म-नीति में नाम-महिमा और क्षण-भंगुरता की अनुभूति का कथन ही प्रधान रूप से मिलता है। अन्य सब उपदेश प्रायः इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। नाम-स्मरण पर दृढ़ आस्था रखने वाला व्यक्ति कभी असफल नहीं होता। उसे सब प्रकार से शान्ति लाभ होता है अतः नाम की शरण ग्रहण करना ही युक्ति-युक्त है। "भाय कुभाय अनख आलसहूँ" नाम-स्मरण करने वाले का निरंतर मंगल ही होता है। दास जी के शब्दों में सम्पूर्ण पूजापाठ, वेद-पुराण का पारायण, केवल निष्काम भाव से एक राम नाम के उच्चारण के बराबर है :

"दास जू वेद पुरानिन कों करि कंठ मुखाग्र नित्य रर्प तू।
घोस तमाम में जो इक जाम हू राम को नाम निकाम जपै तू ॥"[१]

... ...

इसलिए "सुमिरत रहो नाम करतारा, जेहि सुमिर पावै भवपारा।"[२]

... ...

क्योंकि "गह्यो जिन परतीत करिकै भये तिनके काम।
मिटे दुख संताप तिनके भयो सुख आराम ॥"[३]
"देखि सुख परि भूलि नाहीं, दौलत औ धन धाम।
अहै मह सब झूंठ आसा, नाहिं आवहिं काम ॥"[४]

इतना ही नहीं, संबंधियों के मोह को भी त्यागना उचित है, क्योंकि इन सब में स्वार्थभाव प्रधान है।

"कोउ काहुक नाहिं मातु पिता हितु, नारि बंधु कुटुंबाई।
ये सब अपने काम स्वार्थ के, अंत रहे अरगाई ॥"[५]

इन बंधनों से मुक्त होकर अहंकार का नाश और अहिंसा-सिद्धान्त का पालन ही साधक को शुद्ध बना सकता है :

"अन्तर भजु केंहू दुक्ख देइ नाहि, मैं तै डारै खोई।
तेहि कां राम सदा सुखदायक, सुद्धि ताहि कै लेई ॥"[६]

परन्तु ये निर्गुनिए साधु संसार से न्यारे नहीं थे। इनका सिद्धान्त तो

---

१. दास, काव्य निर्णय, भा० जी० प्रेस
२. कासिम, हंस-जवाहर, पृ० २५
३. जगजीवन, बानी, पृ० ७१
४. वही, पृष्ठ ७१
५. वही, पृष्ठ ६२
६. वही, पृष्ठ ४३

संसार में बने रह कर भगवद्-भजन करना था, यद्यपि ये नलिनी-पत्रवत् निर्लिप्त रहना चाहते थे। इसलिए क्षमा-शीलता, दीनता, छल, क्रोध, झूठ आदि के त्याग की ओर भी इनका निरंतर निर्देश मिलता है, जिसे हम लोक-व्यवहार सम्बन्धी नीति कह सकते हैं।

"सुमति मती जे छिमा साधु हैं, तिन हरि कां पहिचाना।"

"कपट रीति कै करहिं वंदगी सुमति न व्याप सोई।"

"नीच तें हुँ नीच तेहितें नीच आपुहि भान।"[१]

कासिम ने भी मौलिक मानव-कर्तव्यों की ओर इसी प्रकार निर्देश किया है :

'क्रोध न कियो होय जेहि राजा। क्रोध ते आपन होय अकाजा।।"

"झूंठ न कह्यो पाय कछु आशा। झूठहि करै धर्म को नाशा।।"

सत्य न तजो गाढ़ जो पड़ै। सब ते गाढ़ कठिन जो उड़ै।।[२]

— — —

दया न तजो जन्म जो पावा। प्रेम चाह ते अलख लगावा।।[३]

साथ ही वे चारित्रिक दृढ़ता का उपदेश यों देते है :

"भूल्यो तुम जो धरमहिं कीन्हों, अयस न जान्यो मैं कुछ दीन्हो।।"

— — —

"भूल्यो जो अधरम कहुं देख्यो, कियो न कतहूं मन में लेख्यो।।"

— — —

"सुमिरत रह्यो काल की घड़ी, जो पल पल है आगे खड़ी।।"[४]

स्पष्टतः इन सिद्धान्तों को धार्मिक-साधना तथा व्यावहारिक जीवन दोनों मे प्रयोग किया जा सकता है। धर्म करके भूल जाना "नेकी कर कुएं में डाल" के सिद्धान्त के अनुसार, अहंभाव का नाश करेगा। अधर्म को देखकर भूल जाना मन को प्रलोभनों से बचाए रखेगा और काल की घड़ी का स्मरण, जीवन की क्षणभंगुरता की स्मृति दिलाकर धर्मभीरु बनाए रखेगा। इन सिद्धान्तों की जितनी आवश्यकता वैराग्य में है उतनी ही सांसारिक जीवन मे।

समाज-सम्बन्धी दैनिक-नीति का कथन इन कवियों में विशेष उपलब्ध है। ये कथन निन्दात्मक तथा प्रशंसात्मक, दोनों ही हैं। इनमें जीवन सम्बन्धी

---

१. बानी, जग०

२. हंस ज०, पृष्ठ २५

३. वही, पृष्ठ २५

४. वही, पृष्ठ २५

विविध परिस्थितियां लेकर कवियों ने अपने अनुभव की बात कही है तथा ऐसे भी अनेक कथन किए हैं जो परम्परागत हैं और समाज-नीति के प्रचलित विश्वासों के आधार पर दुहरा दिए गए है।

नारी-चरित्र के विषय में यही बात कही जा सकती है। "स्त्री-चरित्र को ब्रह्मा भी नहीं जानते" यह विश्वास समाज में पुरातन है। तुलसी ने भी उनमें 'आठ अवगुनों' का कथन करके इस विश्वास की पुष्टि की है। "साहस, अनृत, चपलता, माया। भय, अविवेक, असौच, अदाया" का आरोप करके उनके जैसे सन्त ने भी स्त्री-चरित्र को अत्यन्त हेय बना दिया है, सम्भव है कि यह तत्कालीन प्रवृत्ति ही हो। कासिम शाह ने भी कुछ इसी प्रकार के विचार दुहराए हैं :

"तिरिया चरित न कीन्ह बिचारा, तिरिया मते बूड़ संसारा।
तिरिया जल मंह आग लगावै, तिरिया सूखे नाउ चलावै।
तिरिया क्षार पुरुष मुख मेलै, तिरिया छल नाटक सब खेलै।"[१]

कवि ने वास्तव में उसे माया का स्वरूप माना है; वह अविद्या माया, जो पतन की ओर प्रेरित करती है, यद्यपि उसका स्वरूप अत्यन्त मोहक तथा मुग्ध कर होता है। अतः उसके मोहक रूप से सशंक रहना चाहिए :

"अछना नारि करै मनहारी, जानि पड़ी यह प्रीति पियारी।
हंसि हंसि बात कहै जो आला, है कछु सत्य दाल मा काला॥"[२]

वास्तव में यह विश्वास बहुत कुछ दृढ़ रहा भी है और इस २०वीं शताब्दी के स्त्री-शिक्षा युग में भी इस मत मे पूर्ण परिवर्तन नहीं हो पाया है।

समाज में सूमों का जैसा सम्मान होता है, सबको विदित है। उनके स्वभाव से परिचित होने पर भी, जो व्यक्ति उनकी सेवा में अपना समय नष्ट करे उससे बढ़कर मूर्ख और कौन हो सकता है ? सभी जानते है कि शव की चरण-सेवा से कोई लाभ न होगा, अरण्य-रोदन का कोई परिणाम न निकलेगा, अन्धा व्यक्ति दर्पण क्या देखेगा ? और बहरा व्यक्ति न कुछ सुनेगा न प्रश्न का उत्तर देगा। ऊसर में वृष्टि का क्या परिणाम और पत्थर पर कमल क्या खिलेगा ? अतः कोई भी उक्त कार्यों की ओर उन्मुख न होगा, फिर भी यदि कोई सूम की सेवा करता है तो उससे अज्ञ कोई नहीं :

"प्रान विहीन के पांइ पलोटि, अकेले ह्वै जाइ घने बन रोयो।
आरसी अन्ध के आगे धर्यो, बहिरो को मतो करि उत्तर जोयो।

१. ह० ज०, पृष्ठ १६५]
२. वही, पृष्ठ २०

ऊसर मों बरस्यो वहु बारि, पखान के ऊपर पंकज बोयो।
"दास" वृथा जिन साहब सूम के, सेवनि में अपनो दिन खोयो।।"[1]

भूपति जी भी इस मत को इस प्रकार पुष्ट करते हैं :

"संपति लखि कै कृपिन की करो न मन में भूल।
मुनिवे ही को होति है ज्यों गूलरि को फूल।।"[2]

परन्तु किसी के स्वभाव को बदलना भी सरल नहीं है। जो जैसा बन गया है उसको उसी में आनन्द है। वह सम्भवत: समझता है कि उसी का स्वभाव सर्वश्रेष्ठ है। नीम तो घी-गुड़ से खाने पर भी मीठी नहीं लग सकती। इन्द्रायण के फल अपनी जन्मजात कटुता कैसे त्याग सकते हैं :

"जाकी जौन परी हिये, नहिं छूटै वह बानि।
सुधा सलिल सीचे नहीं, होति इंदारुनि आनि।।"[3]

अथवा

"जटित हेम के साज गज, तऊ चढ़ावत खाक।"[4]

सदैव नीच-गति को ग्रहण करने वाला जल, केवल "नल-बल" ऊंचे चला दिया जाय तो क्या वह वहां ठहर भी सकेगा? जिन्हें पतन में ही आनन्द है उन्हें व्यर्थ का ज्ञान सिखाने से क्या लाभ है?

"कालिहु गये करि सौंहैं अनेक सुभाजु लिये दृग आये ललाई।
सोच सकोच नहीं जिनके तिनकाहिं सिखावन ज्ञान तु आई।
केतिको कोऊ करो कविराज सुभाव है जाको सुकैहू न जाई।
ऊंचे चढ़ै नल के तो कहा पर नीच अहै गति नीर की भाई।।"[5]

इस पतनोन्मुख गति का एक कारण कुसंग भी है। बड़े से बड़ा व्यक्ति भी इस कुसंग के परिणाम से नहीं बचा; स्वयं भगवान विष्णु को भी, जो सचराचर से पूजित है, नीच कुल में जन्म लेकर "अहीर" कहलाना पड़ा :

"सुरनर असुर फनीस सब बंदत है सब काल।
तेऊ कुसंगति के परे कहवावत हैं ग्वाल।।"[6]

---

१. काव्य निर्णय, पृष्ठ ७५
२. वही, दो० ३९९
३. भू० स०, दो० ४०४
४. वही, दो० ४१४
५. सुखदेव, फा० अ० प्र०, पृष्ठ ५७
६. भू० स०, दो० ३६७

और इसी नीच-संग के कारण भगवान शशधर आज भी कलंकित हैं। भला कहाँ प्रभापूर्ण भगवान् चन्द्रदेव और कहाँ पशुयोनि में उत्पन्न एक तुच्छ शशक ! परन्तु उसे अपनी गोद में बैठा लेने का फल यह भोगना पड़ा कि उनका नाम ही 'शशलाछन' पड़ गया।

"छोटी संगति के मिले, होति छोटियै बात।
ससि राख्यो सस अंक मे सो कलंक ठहरात ॥"[१]

अतः कवि इस कुसंग से सचेत रहने की चेतावनी देता है। इस प्रकार दोष-दर्शन के द्वारा कवि-गण ने सामाजिक कर्तव्यों का निर्देश किया है।

गुणों का वर्णन इस नीति-कथन का दूसरा पक्ष है। गुणवान् व्यक्ति सत्कर्मों से जनता के सम्मुख आदर्श छोड़ जाते है, जिनका अनुगमन करके सामाजिक व्यक्ति सफलता प्राप्त करते है। यह ठीक ही है। यदि संग-दोष से मनुष्य पतित हो सकता है तो गुण-ग्रहण करके ऊंचा भी उठ सकता है। उदाहरण प्रत्यक्ष है :

"धूरि चढ़ै नभ पौन प्रसग तें, कीच भई जल संगति पाई।
फूल मिलै नृप पै पहुंचे कृमि, काटन संग अनेक बिथाई।
चंदन संग कुदारु सुगंध ह्वै, नीब प्रसग लहै करुआई।
दास जू देख्यो सही सब ठौरन, संगति को गुन दोष न जाई ॥"[२]

अतः दान, मैत्री, सज्जनता आदि के आदर्श, समाज मे पथ-प्रदर्शन के लिए ग्रहण करना उचित है।

दानी व्यक्ति तो उस हाथी के समान है जो मदजल से युक्त होता है। यद्यपि वह अपने कानों को हिला-हिला कर याचक भ्रमरों को दूर भगाया करता है तथापि वे उसे छोड़ते नहीं, फिर उसी के मस्तक पर आ जुटते हैं। दानी व्यक्ति भले ही अपने हाथ झाड़ दें कि अब हमारे पास कुछ नहीं है परन्तु याचक तो आएंगे ही; भले ही अवध-नरेस चित्रकूट में रम रहे हों, जिन पर बिपदा पड़ेगी वे उसी देश पहुँचेंगे ही।

"बरजत हू जाचक जुरैं, दानवन्त के ठौर।
करी करन झारत रहैं तऊ भ्रमत हैं भौंर ॥"[३]

मैत्री-धर्म से बढ़कर आनन्द-प्रद कर्तव्य दूसरा नहीं है। मित्र की उन्नति से

---

१. भू० स०, दो० ४१३
२. दास, का० नि०, पृष्ठ ७३
३. वही, पृष्ठ ७३

प्रसन्न होना, उदारता का द्योतक है; हृदय की विशालता इससे प्रकट होती है। प्रातः काल "मित्र" के उदय से विशाल हृदय, सुरभियुक्त कमलों की प्रफुल्लता इसका सुन्दर उदाहरण है :

"कैसे फूले देखिए, प्रात कमल के गोत।
दास जू मित्र उदोत लखि, सबै प्रफुल्लित होत॥"[१]

परन्तु मित्र के कर्त्तव्य की इति श्री इतने ही पर नहीं है। मैत्री-भाव की पूर्णता तो इसमें है कि मित्र को आत्मरूप कर ले। उसका मानापमान, सुख-दुख अपना बन जाय, तभी तो मैत्री-धर्म-निर्वाह का आनन्द है। नीर-क्षीर मैत्री सचमुच ही आदर्श है :

"दास परस्पर प्रेम लखौ, गुन छीर के नीर मिले सरसातु है।
नीरौ बेचावत आपने मोल, जहां जहं जाइकै आप बिकातु है।
पावक जारन छीर लगैं, तब नीर जरावत आपनो गातु है।
नीर की पीर निवारिबे कारन, छीर घरी ही घरी उफिनातु है।"[२]

वास्तव में ऐसे आदर्श मित्र अभिनन्दनीय हैं, क्योंकि उनका मैत्री-धर्म संपत्ति-विपत्ति के संघर्ष से क्षीण नहीं पड़ता। एक बार जो रंग चढ़ा सो चढ़ा, वस्त्र फट भले ही जाय रंग न छूटेगा :

"छुटै न सपति विपति हूं, ऊंचे जन को सग।
बसन फटे हू ना छुटै, ज्यों मजीठ को रग।"[३]

यदि दैव-दुर्विपाक से ऐसे आदर्श मित्र को अपने मित्र से दूर भी जाना पड़े तो उसके स्नेह में किसी प्रकार की कमी नहीं आती :

"सग छुटत हू ना छुटै, सज्जन को अनुराग।
तोरि लीजिये कंज को, तऊ न टूटत ताग॥"[४]

कमल, मृणाल से अलग भले ही कर लिया जाय परन्तु टूटते-टूटते भी वह बिस-तन्तु का सूक्ष्म सम्पर्क बनाए ही रहेगा। यही उसकी सज्जनता तथा हृदय की विशालता है।

प्रत्यक्ष नीत्युपदेश हृदय को इतना प्रभावित नहीं करता जितना परोक्ष-कथन। किसी को व्यंग्य द्वारा प्रभावित करना विशेष सरल है, अपेक्षाकृत सीधे

---

१. दास, का० नि०, पृष्ठ ७४
२. वही, पृ० १०९
३. भू० स०, दो० ४००
४. वही, दो० ४०१

उल्लेख करती है। इस शैली को अलंकृत करने के लिए प्रायः अन्योक्ति का प्रयोग कवियों ने किया है। किसी फूल-पत्ती, पेड़-पौधे अथवा पशु-पक्षी के प्रति कथन करते हुए, कवि मनुष्य को उद्बोधित करता है। इस शैली में प्रकृति का जो चमत्कार है वह बड़ा ही मार्मिक है। यही कारण है कि नीति-काव्य में यह अंश सबसे अधिक कवित्वपूर्ण भी है।

इसमें अभिधा नहीं वरन् व्यंजना-प्रधान है और इसलिए यह श्रेष्ठ काव्य की श्रेणी में बैठ भी आ जाता है। फिर भी यह शैली इतनी लोकप्रिय रही है कि गिरिधर जैसे सहज कवियों से लेकर विद्वान से विद्वान् कवियों ने इसे अपनाया है, क्योंकि सभी इसकी मार्मिकता और रसात्मकता से प्रभावित रहे हैं।

गिरिधर की ग्रामीण भाषा में ये अन्योक्तियाँ और भी सरस और स्वाभाविक रूप में अपना उद्देश्य सिद्ध कर लेती हैं। ग्रामीण वातावरण से प्रस्तुत उपमानों और लोकप्रचलित मुहाविरों की सहायता से जनता के हृदय को वे अत्यन्त शीघ्रता से आकर्षित करती हैं।

निर्बल वृक्ष अथवा दुर्बल मनुष्य का आश्रय ग्रहण करना उचित नहीं है। विपत्ति-वायु के झोंकों से वह अवश्य नष्ट हो जायगा और तब उसके आश्रित को असहाय हो जाना पड़ेगा। सम्पन्न वृक्ष का आश्रय ग्रहण करने वाले व्यक्ति को इतनी तो आशा है कि लाख विपत्तियां पड़ें, उसका आश्रयदाता (वृक्ष) नितान्त पत्रहीन नहीं हो सकता; उसमें इतनी छाया तो बनी ही रहेगी कि वह उसे अपने आश्रित बनाए रह सके।

"रहिए लटपट काटि दिन, बरु घामें मां सोय।
छांह न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय।
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै।
कह गिरिधर कविराय छांह मोटे की गहिये।
पाता सब झरि जाय तऊ छांहै मां रहिये॥"[१]

इसी प्रकार गिरिधर जी ने हंस के मिस, स्वाभिमानी पुरुषों को दूरदर्शिता का पाठ पढ़ाया है। हंस का जीवन तो सरोवर है, जब वही सूख गया तब भविष्य की क्या आशा? अतः जब तक पंख काम देते हैं, यथासाध्य अपना दूसरा ठिकाना बना लेना चाहिए, क्योंकि अब आगे बगुलों द्वारा पदमर्दित होने का अवसर आ रहा है।

---

१. गिरिधर कुण्ड०, पृ० २१

"हँसा हियं रहिये नहीं, सरवर गये सुखाय।
कालि्ह हमारी पीठि-पै, बगुला धरिहैं पांय।
बगुला धरिहै पाय, इहां आदर नहिं ह्वै है।
जगत हंसाई होय, बहुरि मन में पछितैहै।
कह गिरिधर कविराय दिनै दिन बाढ़ै संसा।
याहू से घटि जाय लबै का करिहै हंसा॥"[१]

कहीं कहीं पर इन अन्योक्तियों में कटुता की झलक भी दिखलाई पड़ जाती है, जो कवि के हृदय की घृणा को व्यक्त करती है। परिस्थितियों के प्रति उसकी विरक्ति स्पष्ट लक्षित होती है :

"साईं घोड़े आछतहि गदहन आयो राज।
कौआ लीजै हाथ में दूरि कीजिये बाज।
दूरि कीजिये बाज राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिए कैद स्यार गजराज चढ़ायो।
कह गिरिधर कविराय जहां यह बूझि बधाई।
तहां न कीजै भोर सांझ उठि चलिये सांईं॥"[२]

कवि इस परिस्थिति से इतना सशंक है कि एक रात भी ऐसे स्थान पर व्यतीत करना उसके लिए कष्टप्रद तथा अपमान-जनक है।

इन सरल और सीधी-सादी अन्योक्तियों के अतिरिक्त एक स्वरूप इनका वह भी है जिसमें साहित्यिकता-विशेष है। बिहारी के समान, दोहा-शैली में आलंकारिक तथा भाषा-सौन्दर्य से युक्त अन्योक्तियां, काव्य-साहित्य में ऊंचा स्थान पाने के योग्य है। भूपति जी की सतसई में ऐसी अन्योक्तियां ऊंची श्रेणी की हैं। इनके विषय भी जीवन सम्बन्धी विविध क्षेत्रों से लिए गए हैं।

अवगुंठन से आवृत नेत्रों के रेशमी बन्धन की व्यंजना, मीन को सम्बोधित करके, कवि ने बड़ी सुन्दरता से की है :

"कहा मीन अकुलात तू पर्‌यो रेसमी जाल।
तरफत कित बेफाइदा नहिं छुटैगो हाल॥"[३]

नेत्रों का अवगुण्ठन से वेष्टित स्वरूप तो प्रत्यक्ष है ही, साथ ही उपर्युक्त दोहे का व्यंग्य, मानव-जीवन के प्रति भी हो सकता है, जो मोह के मधुर बंधन में

१. गिरिधर कुण्ड०, पृ० २२
२. वही, पृ० २७
३. भू० स०, दो० ३८६

बंधा हुआ है। यद्यपि यह बंधन उसे अखरता है तथापि वह उसे तोड़ नहीं पाता। सांसारिक संघर्ष का चित्रण करने के लिए कवि ने बड़े ही मनोरम उपमान का उपयोग किया है।

किसी महापुरुष के द्वारा जनता का जितना हित हो सकता है, वह अपनी पूर्णता तक इसलिए नहीं पहुंच पाता क्योंकि उसके आस-पास एकत्र रहने वाले साधारण व्यक्ति उसमें बाधक बन जाते हैं। उस कल्पवृक्ष को आस-पास कांटों की बाड़ के समान घेरे हुए ये व्यक्ति, याचकों को उस तक पहुँचने तो देते ही नहीं वरन् उन्हें क्षतविक्षत, अपमानित, लांछित भी करते हैं। अतः ऐसे पुरुष, जनता के हित का घात करने वाले हैं। कल्पवृक्ष से प्रार्थना है कि वह इनको दूर करे :

"अँगन होत क्षत छुवत ही, बसन जातु है फाटि।
सुरतरु तोहि न चाहिये, कांटन की बर बाटि॥"[1]

उच्चकुलोद्भव व्यक्ति भले ही अपने श्रेष्ठ कुल में जन्म लेने का गर्व करे, यदि उसने भगवद्भजन के लिए अपना शरीर अर्पित नहीं किया तो वह उस बिल्यपत्र के समान है जो भगवान् शंकर के मस्तक पर चढ़े बिना ही सूख गया। उसका बिल्ववृक्ष जैसे उच्च स्थान पर जन्म लेना व्यर्थ है :

"बेल पत्र केते करो निज हिय आपु गुमान।
बिना चढ़े ही भाल के नीरस भयो निदान॥"[2]

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शृंगारकाल के कवियों ने नीति-कथन की ओर विशेष ध्यान दिया और वह उनकी एक विशेष प्रवृत्ति थी। इस नीति-काव्य मे अनुभव की गम्भीरता, सरलता, विनोद, और कला, सभी तत्व विद्यमान हैं। मनोरंजक शैली में जीवन-समस्याओं को सुलझाना ही इस काव्य का उद्देश्य है, जिसमें कवियों को पर्याप्त सफलता मिली है।

गीत-काव्य

गीतकाव्य की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। पाश्चात्य विद्वानों ने गीत को काव्य का सबसे प्राचीन रूप माना है। सर एडमन्ड गास का कथन है कि "मौलिक रूप में सम्पूर्ण काव्य गेय था। अर्थात् उसकी रचना संगीत के उपकरणों के साथ गाने के लिए होती थी और संगीत से परे उसकी कल्पना भी

---

१. भू० स०, दो० ३८८
२. वही, दो० ३८४

नही की जाती थी। परन्तु प्राचीन समय में ही यह संगीतमय काव्य, दो रूपों मे विभाजित हो गया; एक तो स्वर-प्रधान और दूसरा वर्णनात्मक। प्रथम भेद मे मनुष्य की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों तथा भावनाओं से सम्बन्ध रखने वाली अथवा धार्मिक आकांक्षाओं की कविताएं थीं और द्वितीय भेद में वर्णनात्मक, इतिवृत्तात्मक, उपदेशात्मक, प्रचारात्मक, दार्शनिक-व्यवस्था-सम्बंधी कविताएं रही। प्रथम भेद ही गीत काव्य था और संगीतात्मक उपकरणों सहित गाया भी जाता रहा। द्वितीय भेद महाकाव्य की श्रेणी में परिगणित हुआ जिसमे उपहास-काव्य, पत्र-गीत (Epistle), कथा, आख्यान आदि भी सन्निहित थे। इस अंश से संगीतात्मक तत्व शीघ्र ही लुप्त हो गया। यद्यपि कुछ प्राच्य देशों में यह द्वितीय भेद का काव्य अब भी इकतारे आदि की एकरस धुन पर गाया जाता है।"[१]

यह दूसरी श्रेणी का काव्य प्रधानतः बहिरंग ही होता है परन्तु गीत-काव्य क्योंकि व्यक्ति के मनोभावों से सम्बन्ध रखता है, उसके प्रेम, भक्ति, देशप्रेम, मैत्री आदि से सम्बन्धित उद्‌गार की अभिव्यक्ति करता है, इसलिए अन्तरंग काव्य है। इस अन्तरंग भावोद्‌गार की व्यंजना ऐसे समय मे होती है जब कवि का हृदय भावावेश मे मग्न होता है, अतः इस काव्य का अनुकरण कर लेना उन व्यक्तियों के लिए सरल नही है, जिनमें वास्तविक अनुभूति, प्रतिभा विद्यमान नहीं है।

इस व्यक्तिगत काव्य में विशेषतः किसी एक ही दृश्य, विचार अथवा भावना का चित्रण होता है। गतिशीलता इस काव्य की विशेषता है। बाबू श्यामसुन्दर दास के शब्दों में गीतकाव्य के लक्षण संक्षेप में इस प्रकार दिए जा सकते हैं : "गीतकाव्य में ···· छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है कवि के आतरिक हृदयोद्‌गार होने के कारण उसमें कवि की अन्तरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें ·····सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है।····· उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नही देख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावो की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुन्दर बन पड़ती है।"[२]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि गीत-काव्य, व्यक्ति के अंतरग से

---

१. चैम्बर्स इनसाइक्लोपीडिया, भाग ६

२. सूरदास नामक लेख, बा० श्यामसुन्दर दास

सम्बन्ध रखने वाला, कोमल भावनाओं का संगीतमय उद्‌गार है। श्रृंगार, भक्ति, वात्सल्य, करुण, शान्त रसो में इसका उपयोग सफलता के साथ हो सकता है।

हिन्दी साहित्य मे गीतकाव्य की परम्परा को स्थापित करने वाले मैथिल-कोकिल विद्यापति कहे जा सकते हैं। इनके पद प्रधानतः श्रृंगार तथा भक्ति-विषय को लेकर चले हैं और आगे चलकर भी हिन्दी-साहित्य में इन्हीं विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पद और गीत लिखे गए। कबीर और उनके अनुयायियों ने अपनी भक्ति-विषयक तीव्र भावनाओं को दाम्पत्य रति के रूपक द्वारा व्यक्त किया। सूर और तुलसी की कला, पद-प्रतिभा के आधार पर साहित्य क्षेत्र के कोने-कोने मे विकीर्ण हो गई। हृदयोद्‌गारों के नाना रूप इन महापुरुषों के गीत-काव्य को उज्ज्वल बनाए हुए हैं, अतः श्रृंगार काल के कवियों को परम्परा से पर्याप्त पथ-प्रदर्शन हुआ, यद्यपि उसका यथोचित उपयोग इस काल के कवियों ने नही किया।

काव्य-रचना के लिए रीति-परिपाटी को ही आदर्श ग्रहण कर लेने के कारण और मुक्तक रचना मे कला को ही प्राधान्य देने के कारण भावोद्‌गारों की ओर कवियों का ध्यान विशेष नहीं गया। आचार्य शुक्ल के अनुसार हम "उनकी आभ्यंतर प्रकृति के अन्वीक्षण में समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री बहुत कम पा सकते हैं।" अतः गीत-काव्य की ओर तत्कालीन कवियों की उपेक्षा का भी प्रधान कारण यही दिया जा सकता है। काव्य-कला का प्रदर्शन तत्कालीन कवियों को जितना अभीष्ट था उतना भावुकता का व्यंजन नही, और यही कारण है कि गीत-शैली में रची हुई थोड़ी बहुत कविता जो मिलती है वह भी कलात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक विशेष है।

गीत में कला का प्रदर्शन करने की प्रवृत्ति उतनी नही थी; दोहा अथवा कवित्त-सवैया इसके लिये विशेष उपयुक्त थे। श्रृंगारकालीन कवि इन छन्दों का प्रयोग स्वतंत्रता के साथ कर भी रहे थे। यही कारण है कि अयोध्या के भक्त कवियों ने यद्यपि प्रचुर परिमाण मे काव्य-रचना की और सीताराम की अनुपम लीला का वर्णन करने में वे पद-शैली का उपयोग कर सकते थे फिर भी उन्होंने रामचरित्र के वर्णन में दोहा और कवित्त-सवैया का ही उपयोग विशेष किया। हां, कबीर की परम्परा पर चलने वाले निर्गुनिए कवियों ने अपनी अलंकारहीन सीधी-सादी भाषा में भगवद्-भक्ति का भाव व्यंजित करने के लिए पद-शैली का व्यापक प्रयोग किया है। इनमें गीत-काव्य की विशेषतायें भी बहुत कुछ विद्यमान हैं और गीत-काव्य की दृष्टि से इन्हीं कवियों का स्थान प्रमुख

कहा जा सकता है। इन्होंने भावों की तीव्रता का चित्रण करने के लिये कबीर के ही समान दाम्पत्य-रति का आश्रय भी ग्रहण किया; प्रेम, विरह, होली, बसन्त, के द्वारा तीव्र हार्दिक भावनाओं का व्यक्तीकरण हुआ है, अत: शृंगार को संचारी रूप में ग्रहण कर लेने के कारण इन पदों मे पर्याप्त सरसता आ गई है।

भक्ति काल के कवियों का प्रभाव सतनामी सम्प्रदाय के कवियों पर पड़ा था और कबीर, तुलसी की छाया इन पर प्रत्यक्ष दृष्टिगत होती है। इस प्रकार जो कुछ गीत-काव्य लिखा गया वह धर्म सम्बन्धी ही विशेष है और अवध प्रान्त के वातावरण के अनुसार, मर्यादापुरुषोत्तम राम को आलम्बन मानकर लिखा गया है परन्तु कृष्ण काव्य की शृंगारिकता का प्रभाव ऐसा व्यापक हो रहा था कि ये अवध-वासी वैरागी कवि भी उसके प्रभाव से न बच सके और भगवान् राम की मर्यादा की सीमा-भंग कर उन्हें विलास-वैतरणी मे गोते देने लगे। केवल गेय होने का गुण इन पदों में भले ही हो परन्तु वे हमारी संस्कृति की उस गौरवमयी परम्परा से बाहर पड जाते है जिसके द्वारा हमारा हृदय अभिभूत होता है, जिसका एक अत्यन्त मनोहर सुखद चित्र हम अपने हृदय-पट पर अंकित किए हुए है। उदाहरण के लिए भगवान् राम की इस होली-लीला को देखिए :

"अवध सैया वाका छैल छली।
करि शृंगार सुभग अंग भूषण ठाढ़ो बीच गली।
कर कमलन कंचन पिचकारी मन्मथ मान मली।
मधुर अली हंसि कै गुलाल लै मोरे मुख में मली॥"[१]

महन्त जनकराज किशोरी शरण (सं० १८७५ काव्य-काल) द्वारा किया निम्नलिखित वर्णन शिष्टता की सीमा को पार करके राम के पावन चरित्र मे कलिमा पोत देता है :

"नहिं हाथ को कछु दोष हेली समय गर्मी को भयो।
नहिं संवरै नव त्रिबिधि वातप सेव मो करतल छयो।
तब कही कोउ इक नागरी याके बसन हर लीजिये।
सदेह मेरे मन भयो भोरी सिया सुख दीजिये।
दोहा : झटक लियो पट पति इक लिपटी स्याम सुजान।
सबै हसत मुख दे बसन छोरत नही सुजान॥५१॥"[२]

इस प्रवृत्ति ने गीत-काव्य की सारी काव्य-विभूति पर पानी डाल दिया।

---

१. युगल-बसन्त-बिहार-लीला, मधुर अलि
२. वेदान्त-सार-सूत्र-दीपिका। सर्च रिपोर्ट, १९०९-११, पृ० १९८

भगवान् कृष्ण के विषय में तो इस प्रकार के अश्लील शृंगार-वर्णन की एक परम्परा सी पड़ गई थी, यद्यपि उसके कारण कवियों की कम बदनामी नहीं हुई, परन्तु भगवान् राम के विषय मे इस प्रकार के कथन तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्ति का खोखलापन व्यक्त करते हैं। जिन हाथों में जन-समाज की मर्यादा की रक्षा के लिये निरन्तर धनुष-बाण ही के दर्शन किये गए हों, अथवा जो भुजायें अबलाओं की मर्यादा-रक्षण के लिए ही फड़क उठती रही हों उनके द्वारा किए हुए इस प्रकार के क्रिया-कलाप, हमारे हृदय को अभिभूत नहीं कर सकते और यहीं पर गीत-काव्य का उद्देश्य निष्फल हो जाता है।

कलात्मक गीत इस सीमा तक पहुंचे है कि कवियों ने संगीत कला के उदाहरण प्रस्तुत करने में ही रचना की पटुता समझी है। बाल-वर्णन करते हुए कवि की दृष्टि, राम के मनोहर रूप, उनकी स्वाभाविक क्रीड़ा, मधुर वार्तालाप की ओर न बढ़ कर केवल उनके परमेश्वर-रूप पर पड़ती है और वर्णन-शैली के लिये सरस, प्रवाहपूर्ण गीत की रचना न करके वह "चौताला ध्रुपद" का अपना ज्ञान प्रदर्शित करने लगता है। गीत काव्य की आत्मा ऐसी रचना में नहीं मिल सकती; कला भले ही प्राप्त हो जाय :

"परम पुरुष परमेश्वर पर ब्रह्म परेस सुन्दर अति श्री सीता रवन।
देषो नयन को फल सिव के हृदय वास जानि सब विधि सुजान सुप छवि भवन।
सुक सनक हनुमत ध्याइ जेहि सेवैं नित पाद पद्म जीति इन्द्री होइ मवन।
जैसे रघुवर के चरण परे रमते सकल गुन निधि राम चरन दुख दवन ॥११७॥"[1]

यद्यपि महन्त रामचरणदास ने अपनी पदावली राम के बाल-विहार विषय पर लिखी है, परन्तु उपर्युक्त पद से राम का ईश्वरत्व ही विशेष व्यक्त होता है। यह प्रवृत्ति तत्कालीन साधु गीतकारों में विशेष थी। ईश्वरत्व के इस आतंक में रागात्मक-भाव न जाने कहां लुप्त हो जाता है और रस-परिपाक असफलता के गर्त में जा पड़ता है।

रूप-वर्णन के क्षेत्र में शृंगारिकता का प्राधान्य दिखलाई पड़ता है। परम्परागत उपमानों का प्रयोग करके केवल राम के भुवन-मोहन सौन्दर्य के गीत गाने का प्रयत्न किया गया है। कुल मिलाकर विलास-पूर्ण वर्णन ही प्रधान हो जाता है, फिर भी यदि केवल एक-पक्षीय दृष्टि से रूप-वर्णन पर ही विचार किया जाय तो उसके आकर्षक होने में सन्देह नहीं है। भाषा भी स्वाभाविक तथा गीत-काव्य के उपयुक्त सरस तथा प्रवाहमयी है :

---

१. राम पदावली, रामचरण दास, सर्च रिपोर्ट, १९०९-११, पृ० ३४५

"रथ पर राजत रघुवर राम।
क्रीट मुकुट सिर धनुष बान कर सोभा कोटिन काम।
स्यामगात केसरिया बानो सिर पर मौर ललाम।
वैजन्ती बनमाल लसै उर पदिक मध्य अभिराम।
मुख मयक सरसीरुह लोचन हैं सबके सुख धाम।
कुटिल अलक अतरन मैं भीनो दुहुं दिसि छूटी स्याम।
कंबु कठ मोतिन की माला किंकिनि कटि दुति दाम।
रसमाला यह रूप रसिकवर करहु हिये अभिराम॥"[१]

गीतावली मे वर्णित तुलसी-कृत राम के नखशिख, रूप-वर्णन का प्रभाव उपर्युक्त पद पर प्रत्यक्ष लक्षित होता है। कवि की आनन्दमयी वृत्ति राम के अनुपम सौन्दर्य मे लीन हो गई है, ऐसा भी आभास उक्त वर्णन से होता है, परन्तु ऐसी रचना इन भक्त कवियों द्वारा अधिक नही हुई है। घोर शृंगारमयी रचनायें यदि सयत होती तो अवश्य उनका सौन्दर्य इसी प्रकार का होता और अयोध्यावासी साधु हिन्दी साहित्य को श्रेष्ठ गीत-काव्य प्रदान कर सकते।

प्रकृति-चित्रण भी तत्कालीन कवियो ने गीत-शैली मे किया है। यद्यपि यह भी परम्परागत ही है तथापि कवि की सहृदयता का परिचय इनसे प्राप्त होता है :

"माई घन गरजत लगत सुहाई।
बन प्रमोद मोरन की सोरा चहुँ दिसि बन हरिआई।
रिमिझिमि बरसत दमकत दामिनि घन अधियारी छाई।
झिल्ली रव चातक रट कोकिल छिन छिन कुहुक मचाई।
तरद्रुम बकुल रसाल कदम्बन सोभा रहि अधिकाई॥"[२]

स्पष्ट है कि कवि ने दृश्य-चित्रण बड़ी सफलता के साथ किया है, परन्तु एक बात जो उक्त सब गीतों मे समान रूप से प्राप्त होती है, वह है काव्य का बहिरंग-प्राधान्य। यह अवश्य है कि कवि ने राम का सुन्दरतम रूप अपनी भक्ति-वृत्ति को केन्द्रित करने के लिए ही निर्मित किया है तथापि कवि की वृत्तियो का हमें अनुमान ही लगाना पडता है। यही बात प्रकृति-वर्णन मे भी है। वर्षा के उपकरण तो सब विद्यमान हैं परन्तु कवि की मानसिक स्थिति का व्यक्तीकरण उसके द्वारा केवल अनुमानित मात्र होता है। भावुकता की विशेषता हमको सन्त कवियो के पदो मे विशेष प्राप्त होती है। क्योंकि उनकी वृत्तिया अपने

१. अवधसागर, जानकी रसिक शरण, १७६०, मिश्रबंधु विनोद, भाग २, पृ० ५३०
२. रसिक अली, स० १८१०, मिश्रबधु विनोद, भाग २, पृ० ६८५

उपास्य में विशेष रूप से तल्लीन हुई हैं और इसका कारण यह है कि उनके उपास्य का बहिरंग इतना प्रधान नहीं है जितना अन्तरंग, अतः उन्हें तो अनुभूति से ही काम लेना था और उसी अनुभूति को व्यक्त करने में वे प्रयत्नशील रहे है। यही कारण है कि उनके काव्य में अन्तरंग तो प्रधान है परन्तु बहिरंग का अभाव है। बहिरंग केवल वहीं आ पाया है जहा उन्होंने अपने भावों को व्यक्त करने के लिये रूपकत्व का सहारा लिया है।

निर्गुण के प्रति सन्तों ने अपने विभिन्न प्रकार के उद्‌गार व्यक्त किए हैं। गीत-काव्य के अनुकूल एक-एक मनोभाव की व्यंजना एक-एक पद में बद्ध की गई है। अपनी असमर्थता, भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता, शरणागति, मनोद्‌बोधन, दाम्पत्य-रति के विभिन्न पक्ष, प्रेम, विरह, इत्यादि मन की विभिन्न वृत्तियां सीधे सरल शब्दों मे व्यक्त हुई हैं। शैली की सरलता, स्वाभाविकता की वृद्धि में सहायक है तथा अनुभूति की गहराई के दर्शन निरतर होते रहते है। लोक-भाषा का प्रयोग करने के कारण प्रचलित ग्राम्य शब्द तथा विदेशी शब्दों का भी व्यवहार स्वतन्त्रतापूर्वक हुआ है और कुछ कवियों ने गजल जैसे विदेशी छंद को भी अपनाया है। अपनी असमर्थता सन्तों ने अनेक प्रकार से व्यक्त की है : उपासना की असमर्थता :

"बदा कौन बंदगी करई।
रात दिवस मिलि करै बदगी, जो पै कबूल न परई॥"[१]

निर्बुद्धिता : "प्रभु जी बुद्धि मोंहि केतानि।
तथा दया जब तुम कीन्ह मों पर, कह्यो ज्ञान बखानि।
शरणागति भ्रमत रह्यौ अपथ मारग, पर्‌यो जाही जानि।
कहां लगि मैं कहौ अवगुन, महा अघ की खानि।
मेटि सकल गुनाह अवगुन, सरन लीन्ह्यो आनि।
जानि हितकर आपना मोहि और नाहीं मानि।
कहत हौ कर जोरि सुनिये मोरि अन्तर जानि।
जगजीवन दास तुम्हार आहे, तुमहि लियो पहिचानि॥"[२]

अकिंचनता "साईं मैं तो बड़ा अनारी।
तथा कुमति प्रसंग बास नर्कहि मा, आवत नाहि बिचारी।
आत्मसमर्पण परयो अपरबल महा मोह मंह, सुधिबह नाहि संभारी।

---

१. जग० बानी, भा० १, पृ० ८
२. वही, भा० १, पृ० १०

गुन नाहीं औगुन सब बहु विधि, बिसरी सुरति हमारी।
केतो करि उपाय मैं थाक्यों, मैं मन मान्यों हारी।
अब दाया करि चरन लाइ कै, निकट ते कबहुं न टारी।''[१]

क्षमा-याचनाः 'हम से चूक परत बहुतेरी।
मैं तो दास अहौं चरनन का, हमहूं तन हरि हेरी।'[२]
'प्रभु जी बकसहु चूक हमारी।
जो पुरवुज अपने कर्मन से, डारयो सर्व मिटा री।'[३]

शक्तिहीनता : 'प्रभू जी बसि हमार कछु नाहीं।
जो तुम चहत करत हो सोई, व्यापि रहो सब मांहीं।।'[४]

उक्त उदाहरणों से कवि की हार्दिक भावना का पता स्पष्टतया चलता है। काव्य के बहिरंग की ओर उनका ध्यान वहीं तक जान पड़ता है जहां तक वे अपने भावों को अधिक से अधिक स्पष्टता के साथ व्यक्त कर सकें। सतवर तुलसीदास में उक्त भावों से मिलते जुलते भाव पहले ही व्यक्त हो चुके हैं और यह भी संभव है कि ये कवि उन भावनाओं से प्रभावित हो, परन्तु कथन की जो सत्यता और अनुभूति की जो वास्तविकता, इन कवियों में प्राप्त होती है वह झूठे अनुकरण की शंका उत्पन्न नहीं होने देती। यही कारण है कि यह गीत सफल काव्य के उदाहरण है।

मनोद्बोधन तथा भगवन्नाम-स्मरण की प्रेरणा के साथ साथ परब्रह्म की महिमा और शक्तिमत्ता का वर्णन भी कवियों ने इसी प्रकार किया है।

'दीनबंधु जगजीवन दाता।'
मांगति हौं कर जोरि दीन ह्वै, रहौ सदा सुमिरन रंगराता।
× × ×
नाम तुम्हार जाहि नहिं बिसरै, तेहि जम काल डेराता।
अभै होइ कुछ संसै नाही, जो दरबार मंझाता।
जेहि जन पर दयाल भयो सतगुर सो सत महल समाता।
जन फकीर भजु प्रभु जगजीवन उनहि ते अरज सुनाता।।''[५]

---

१. बानी, भा० १, पृ० १६
२. बानी, भा० १, पृ० २१
३. बानी, भा० १, पृ० २८
४. बानी, भा० १, पृ० ३३
५. फकीरदास, शब्दावली, पृ० ५२

विरह और प्रेम, हार्दिक भावनाओं को व्यक्त करने के तीव्रतम साधन हैं। दाम्पत्य रति से बढ़कर दूसरी तीव्र अनुभूति मनुष्य के जीवन में नही है। अत: ईश्वरीय प्रेम की तीव्रता को व्यक्त करने के लिये यदि वह रूपक ग्रहण किया जाय तो सबसे अधिक सफलता प्राप्त हो सकती है। यही कारण है कि निर्गुण के उपासक भी लौकिक प्रेम का आधार लेकर अलौकिक अनुभूति का वर्णन करते हैं। गीत-काव्य के लिये यह रसात्मकता बड़ी ही उपयुक्त है। इसलिये संतों की भजनावली का यह अंश, सफल गीत-काव्य कहा जा सकता है। मीरा के प्रेम की मादकता का स्वरूप इन पदों से आभासित होता है। यद्यपि प्रेम का वर्णन कवियों ने स्वतंत्र रूप से भी करने का प्रयत्न किया है तथापि भावावेश को व्यक्त करने के लिये विरह से उसे मुक्त नहीं किया जा सकता। विरह-वर्णन ही भाव-व्यंजना का सबसे तीव्र साधन है :

'अरी मैं तो नाम के रंग छकी।
जब तें चाख्यो विमल प्रेमरस, तब तें कछु न सोहाई।
रैन दिना धुनि लागि रही, कोउ केतौ कहै समुझाई ॥'[1]

इस नाम के रंग में छकने का अनुमान, प्रियतम के प्रेम में तल्लीन रहने वाली प्रेमिका को ही विशेषत: हो सकता है। पूर्वानुराग की सिद्धि, संयोग, होने पर प्रेमी को कितना आनंद होता है यह साधक के निम्नलिखित कथन से व्यक्त होता है :

'तुम सों नैना लागे मोरे।
मैं बौरी दरसन हित डोलौं, अब पायो बैठी रहौं नियरे।'[2]

प्रिय को पाकर उसे पूर्ण रूप से अपना लेने की अभिलाषा उक्त कथन में पूर्णतया आभासित है। जब तक दर्शन नहीं होता तब तक प्रिय-मिलन की जो उत्सुकता रहती है उसी असीम आकुलता का चित्रण इस पद मे देखिए :

"झमकि चढ़ि जाउँ अटरिया री।
ए सखि पूछौं सांई केहि अनुहरिया री।
सो मैं चहो रहौं तेहि संगहि, निरखि जाउँ बलिहरिया री।
निरखत रहौं पलक नहिं लाओं, सूतों सत्त सेजरिया री।
रहौं तेहि संग रंग रस माती, डारों सकल विसरिया री।
जगजीवन सखि पावन परिके, मांगि लेउँ तिन सरिया री।"[3]

---

१. जग० शब्दा०, भा० २, पृ० ९
२. जग० शब्दा०, भा० २, पृ० ८
३. शब्दा०, पृ० २

अभिलाषाओं का नाना वर्ण-चित्र उक्त कथन मे मिलता है। प्रेमिका की तलवेली का सजीव अभिनय भी दर्शनीय है। स्वामी के सौन्दर्य की जिज्ञासा भी रति-भाव की तीव्रता और पूर्वानुराग को व्यक्त करती है।

विरह की गम्भीरता इस संयोग की अभिलाषा से अधिक संयत है। एक बार तन-मन न्योछावर करने के बाद फिर यदि अनन्त विरह भी हो तो प्रेमिका अपने आप में दृढ है। प्रेम की डोरी से उसने जिस स्मृति को प्रगाढ़ कर रक्खा है उससे उसे प्रिय के दर्शन होते रहते हैं।

"मैं तन मन तुम्ह पर वारा।
निसि दिन लागि चरन की छहियां, सूनी सेज निहारा।
तुम्हरे दरस कां भइ बैरागिन, मांगौं सरन करारा।
डोरी पोढि बिलग ना कबहुं, निरखि कै रूप निहारा।
जगजीवन के सतगुर सांई, तुमही पार उतारा॥"[1]

होली का अवसर स्नेह-प्रदर्शन का सर्वश्रेष्ठ अवसर है। तादात्म्य भाव का प्रदर्शन जैसा होली के रंगमय वातावरण में हो सकता है वैसा अन्य अवसर पर नहीं। प्रिय यदि बलपूर्वक प्रेयसी को अपने रंग में रंग ले तो इससे बढकर सौभाग्य का विषय दूसरा नहीं। इस होली में अपने को प्रिय के चरणों में समर्पित कर देने की आकांक्षा बड़ी ही मधुर है।

"यहि नगरी में होली खेलौं री।
हमते पिया ते भेट करावो, तुम्हरे संग मिलि दौरौं री।
माचौं नाच खोनि परदा मैं, अनत न पीव हंसौं री।
पीव जीव एकै करि राखौं, सो छवि देखि रखो री॥"[2]

सावन, हिंडोला और वसन्त के आधार पर भी इस प्रकार की मार्मिक भावनायें व्यक्त की गई हैं। संक्षेप मे ऐसा कहा जा सकता है कि श्रृंगारकाल में यद्यपि गीत-काव्य की अधिक रचना नही हुई तथापि जो कुछ हुई, उसका आदर्श पर्याप्त रूप से ऊंचा है। गीत-काव्य की रचना मुख्यतः अयोध्या-केन्द्र मे राम की लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाली हुई अथवा कोटवा (बाराबंकी) केन्द्र में निर्गुण-ब्रह्म सम्बन्धी। प्रथम अंश कलात्मक विशेष है परन्तु बहुत कुछ परम्परागत है। द्वितीय अंश में भाषा सम्बन्धी असंस्कृत स्वाभाविकता होते हुये भी अनुभूति की मात्रा अधिक है। गीत-काव्य श्रृंगारकाल की प्रकृति के

---

१. जग० शब्दा०, भा० २, पृ. ३
२. जग० शब्दा०, भा० २, पृ० ७४

अनुकूल नही पड़ता फिर भी धार्मिक सम्प्रदायों ने इसे अपनाया और सफलता-पूर्वक इसका उपयोग किया। इसके उल्लेख के बिना अवध के साहित्य का एक प्रमुख अंश छूट जायगा।

उक्त प्रवृत्तिया शृंगारकाल की प्रमुख धाराएं हैं। शृंगार इन सबमें प्रधान है। रस, अलंकार, छन्द, काव्य-शास्त्र के अतिरिक्त फुटकर काव्य भी इसके अन्तर्गत उपलब्ध होता है। इसके बाद धार्मिक काव्य का ही स्थान सर्वोच्च है, जिसके सभी अगों के प्रतिनिधि प्राप्त हो जाते हैं। कृष्ण, राम, तथा प्रेमाख्यानक काव्य अवध के कवियों ने रचा है, फिर भी सन्त-साहित्य का निर्माण अवध मे प्रचुरता के साथ हुआ। पंचदेवों की उपासना की प्रवृत्ति सारे साहित्य में बिखरी हुई मिलती है। इसी प्रकार वीर और हास्य-रस की प्रवृत्तियां भी सर्वत्र सुलभ हैं। केवल नीति-काव्य की रचना करने वाले कवि अधिक नही हुए परन्तु अधिकतर कवियों ने यत्र-तत्र ऐसे कथन कर दिये हैं, जिनमें नीति-उपदेश निहित हैं। गीत-काव्य का क्षेत्र भी बहुत व्यापक नहीं है और कुछ ही कवियों तक सीमित है। इनके अतिरिक्त कुछ रचनाएं वैद्यक अथवा शालिहोत्र (पशु-चिकित्सा) सम्बन्धी भी हुईं जिनको किसी प्रवृत्ति के रूप में ग्रहण नही किया जा सकता वरन् इन विषयों को पद्य-बद्ध करके केवल छन्दात्मक शैली को ही अपनाया गया है। ज्योतिष सम्बन्धी रचनाएं भी दो-चार छोटी-मोटी मिल जाती हैं। अनुवाद प्रायः कथा-प्रबन्धों के ही हुए हैं, श्री मद्भागवत दशमस्कंध के अनुवाद अधिकतर हुए। विष्णु-पुराण, बैताल-पच्चीसी तथा पौराणिक उपाख्यान अन्य विषय हैं।

शैली की दृष्टि से कवित्त-सवैया ही प्रधान रहे। छप्पय, रोला का भी थोड़ा-बहुत उपयोग हुआ। प्रबन्ध-काव्य के लिये दोहे-चौपाई की शैली प्रधान रूप से प्रयुक्त हुई। सतसई-काव्य की रचना दोहों में हुई और नीति-काव्य के लिये कुण्डलिया भी लिखी गईं।

संक्षेप मे यही प्रधान प्रवृत्तियां अवधवासी शृंगारकालीन कवियों में प्राप्त होती हैं।

चतुर्थ अध्याय

काव्यालोचना

भाव-पक्ष

काव्य का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उसकी परिभाषाएं भी बहुमुखी तथा विभिन्न हैं। आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-परिभाषाओं पर दृष्टि डालने से ऐसा अनुमान होने लगता है कि प्रत्येक व्यक्ति की काव्य-विषयक धारणा एकांगी है। यह बात किसी सीमा तक सत्य भी है और इस दृष्टि से काव्य-क्षेत्र का वृत्त अत्यन्त सकुचित प्रतीत होने लगता है, परन्तु दूसरी ओर यदि हम समष्टि रूप मे इन परिभाषाओं पर दृष्टिपात करें तो वही काव्यक्षेत्र हमे अत्यन्त विशाल तथा व्यापक दिखलाई पडता है।

प्राच्य तथा पाश्चात्य आचार्यों ने काव्य की 'आत्मा' रस को ही स्वीकार किया है। यद्यपि उनमें से कोई अलंकार को, कोई रीति को, कोई वक्रोक्ति अथवा ध्वनि को काव्य का प्रमुख अग मानते हैं तथापि रसात्मकता के केन्द्र-बिन्दु के चारों ओर खिंचे हुए वृत्त के समान उपर्युक्त अंगों की स्थिति है। इस आधार पर इन आचार्यों ने काव्य को व्यापक दृष्टि से देखा था, क्योंकि रसात्मकता (आत्मा), और कलात्मकता (शरीर), दोनों की ही उसमें व्याप्ति थी। उदाहरणार्थ आचार्य भरतमुनि के इस उद्धरण पर दृष्टि डालें :

"मृदु ललित पदाढ्यं, गूढ शब्दार्थ हीनं,
जन-पद-सुख-बोध्यं युक्तिमन्नृत्य योज्यम्।

बहुकृत रसमार्ग, सन्धि सन्धान युक्तं,
स भवति शुभ काव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम् ।।"[१]

उक्त कथन में एक ओर मृदु-ललित पदावली, प्रसादगुण, सुबोधता, नृत्योपयोगिता, नाटकीयता गुणों का उल्लेख है और दूसरी ओर 'बहुकृत रसमार्ग' द्वारा काव्य की प्रमुख विशेषता 'रसात्मकता' का भी उल्लेख किया गया है।

अग्नि पुराण में यद्यपि वाग्वैदग्ध्य को महत्ता दी गई है परन्तु काव्य का तत्व, रस ही स्वीकार किया गया है: "वाग्वैदग्ध्य प्रधानोऽपि रस एवात्र जीवितम्"। पंडितराज विश्वनाथ ने रसात्मक वाक्य को काव्य कहा ही है: "वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्" (साहित्य दर्पण १ : ३)। इसी प्रकार पाश्चात्य विद्वानों ने भी रसात्मकता को काव्य में प्राधान्य दिया है। प्रकृति के उपासक वर्ड्सवर्थ ने कविता को तीव्र भावनाओं का स्वाभाविक उद्गार ("*spontaneous overflow of powerful feelings*") कहा है। एमर्सन ने कविता का कार्य, भौतिक जगत के उस पार के जीवन तथा उसके संचालक, मूल तत्व, की खोज करना निर्धारित किया है (' · to pass the brute body and search the life and reason which causes it to exist')। अतः यह स्पष्ट है कि 'अनुभूति' काव्य का प्रमुख अंग है। इस अनुभूति का सम्बन्ध पूर्णतः हृदय के साथ है। जहाँ आलम्बन के प्रति असीम आकर्षण, अथवा उसके प्रति तीव्र राग-विरागमयी भावनायें हृदय में उद्भूत होती हैं, वहाँ यह भावुकता, पूर्णतया चरितार्थ होती है। हिन्दी साहित्य में शृंगार, करुणा, शान्त तथा भक्ति का सम्बन्ध हृदय की गहनतम अनुभूतियों से ही है।

भाव-पक्ष के अतिरिक्त, जिसे काव्य की आत्मा कहा गया है, आचार्यों ने काव्य के शरीर, भाषा-शैली, के शृंगार द्वारा भी काव्य-गुणों की सृष्टि का प्रयास किया है। भारतीय विद्वानों ने अलंकार, रीति, वक्रोक्ति तथा ध्वनि को प्रधानता देकर, काव्य में कला का निर्माण किया है। शब्दचयन, छंद-माधुर्य, संगीतात्मकता, उक्ति-वैचित्र्य को प्रधानता देकर काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करने की प्रवृत्ति ने कला की सृष्टि की। इस कला के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा ही साहित्य-शास्त्र का अस्तित्व स्थापित हो सका। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस बाह्य-सौंदर्य को काव्य में प्रधानता दी और किसी ने उसे कल्पना की व्यंजना ("expression of imagination" Shelly) कहा तो किसी ने संगीतमय विचार ("musical thought" Carlyle) विद्वद्वर मेकाले ने उसे शब्द-कला की प्रधानता बतलाया

---

१. नाट्य शास्त्र १६।११८

और उसे शब्द-चित्र कहा ("the art of doing by means of words what the painter does by means of colours")। इस प्रकार कलापक्ष भी काव्य-क्षेत्र में अत्यन्त महत्वशाली स्वीकृत हुआ और बड़े से बड़े भावुक कवि ने भी इसके प्रति उपेक्षा नहीं दिखाई।

शृंगारकालीन हिन्दी-साहित्य के कवि तो इस कलात्मकता के प्रमुख उत्तराधिकारी ही कहे जा सकते हैं। अवध के प्रमुख कवि भिखारी दास को इसी कलात्मकता की अधिकता के कारण "काव्य में मुंशीगीरी खत्म करने" का प्रमाणपत्र मिश्रबंधुओं द्वारा मिला था। सुखदेव मिश्र, बेनीप्रवीन, बेनीभट्ट, रसलीन जैसे कवियों ने कलापक्ष मे अपनी अद्भुत गति का प्रदर्शन किया है। इस कला-प्राधान्य की सबसे बड़ी त्रुटि यह रही कि रसात्मकता (भावपक्ष) की काव्य मे उपेक्षा होने लगी। रस यद्यपि काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया था परन्तु प्रस्तुत काल के कवियों ने उसे एक शैली का रूप दे डाला। नाट्यशास्त्र के सूत्र "विभावानुभाव व्यभिचारि संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करके कविगण रस-परिपाक के लिए विभाव, अनुभाव और संचारी भावों को एकत्र करने लगे, फलतः इस क्रिया में शाब्दिक कारीगरी प्रधान हो गई और रसात्मकता गौण। रस-परिपाक के विषय को अत्यन्त अधिक विश्लेषणात्मक बना देने के कारण काव्य के भाव-पक्ष पर आघात हुआ। विश्लेषण की ओर कवियों की दृष्टि विशेष गई।

कविवर बेनीप्रवीन के निम्नलिखित लक्षण मे प्रत्यक्षतः किसी प्रकार की त्रुटि दिखलाई नहीं देती :

"जहं विभाव अनुभाव विभि चारी देत प्रकास।
स्थाई भावनि मोदमय सोई रस की रास॥"[1]

परन्तु जब कवि, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के सूक्ष्म प्रदर्शन में पड़ जाता है तब रस-परिपाक का प्रश्न दूर हट जाता है और प्रदर्शन ही प्रधान रह जाता है।

यह विश्लेषण शृंगार का ही विशेष किया गया। रसराज शृगार के टुकड़े टुकड़े करके उसकी पूरी शव-परीक्षा कर डाली गई। लेखनी की नोक जब चुभी तब शृंगार के ही कोमल कलेवर मे; फलतः सबसे अधिक बाह्य-प्रदर्शन भी उसी में आया :

---

१. नवरस-तरंग, पृष्ठ ३

"जहं विभाव अनुभाव मिलि संचारी तेंतीस।
सात्विक थाई स्वाद सुख जानत हैं रस ईस॥"[1]

बेनीभट्ट ने उक्त रसांगों का एकत्रीकरण केवल "रस-ईस" का दर्शन कराने के लिए ही किया है, अन्य रसों के लिए नही; अन्य रस तो एक एक उदाहरण के द्वारा सत्कृत करके छोड़ दिए गये है। इस प्रकार शृंगार की विस्तृत आलोचना, उसके अंगो का सूक्ष्म-चित्रण और मोहक अनुभावों के भंगिमापूर्ण प्रदर्शन द्वारा उत्पन्न नाटकीयता तो शृंगार काव्य में आई परन्तु भावुकता उथली रह गई।

इस कलात्मक काव्य में कल्पना, सौंदर्य-साधना, उक्ति-वैचित्र्य, आलंकारिकता की सहायता से शृंगार के ऊहात्मक-पक्ष का चित्रण प्रधान रूप से हुआ अवश्य और इस प्रकार की काव्य-दृष्टि से इसका स्थान कुछ निम्न भी हो गया, परन्तु इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि शृंगार के इस विलासमय वर्णन में भी एक प्रकार की स्वस्थता के दर्शन होते है। न तो उसमें अशक्त शरीर की निराशा है और न अस्वस्थ मन का रुदन। वासना, मनुष्य की व्यापक वृत्ति होने के कारण सर्वग्राह्य है और आनन्दपूर्ण परिस्थिति के रंगीन चित्र उसे आशावादी बना देते है। अन्य रसों का उपयोग स्वतंत्र रूप में इतना नहीं हुआ जितना शृंगार के अन्तर्गत। हास्य तथा करुण का प्रयोग शृंगार के अन्तर्गत अधिक हुआ है; वीर, भयानक, रौद्र, शान्त, अद्भुत, वीभत्स को विशेष महत्व नहीं दिया गया, यद्यपि ये बिल्कुल उपेक्षित नही रहे। अब हम यहां पर अवध के शृंगारकालीन-काव्य के भावपक्ष पर आलोचनात्मक दृष्टि डालेंगे।

साधारणतः शुद्ध भावुकता की दृष्टि से शृंगार-काव्य का वियोग-पक्ष विशेष सफल कहा जा सकता है। सयोग में एक तो ऊहात्मकता अधिक है और दूसरे कलात्मकता का प्राधान्य है अतः वह भावुकता को आच्छादित कर लेता है।

नायिका ने घनश्याम के अंग-प्रत्यंग को अपने नेत्रों में बसा रक्खा है। उसने नेत्रो को अगो के अनुरूप भाजन बनाकर घनश्याम को अधिक से अधिक आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है। वियोग में भी संयोग की यह आनन्दमयी परिस्थिति वास्तव मे नायिका के हृदय की तीव्र तन्मयता की ओर निर्देश करती है :

"अँग अंग विराजतु है उनके इनही के कनीनिका रंग सन्यो।
उन्हें भौंर की भांति बसाइवे कारन "दास" इन्हें कलकंज भन्यो॥

---

१. रस विलास, छं० ७० (ह० लि०)

लखि री उनको वसि कीवे ही कों इनको इनमें गुन जाल तन्यौ ।
घनश्याम को श्याम सरूप अली, इन आंखिन ही अनुरूप बन्यौ ॥"[1]

यद्यपि उक्त कथन आलकारिकता के प्रभाव से बहुत कुछ आक्रान्त है तथापि तन्मयता की मधुर भावना उसमे पूर्णत: झलकती है ।

कासिम ने भी इस तन्मयता का स्वरूप नारी के आत्मसमर्पण में देखा है । जवाहिर, हंस के हाथों में अपने को सौंपती हुई कहती है :

"आप मैं खोय मिलौं तुम पाहीं, दूसर कौन लखै परछाहीं ।
तुमते कन्त नेह मम लागा, औटि मिल्यो जस कनक सोहागा ।
मिलौं तुम्हे समुद्र होय मोती, मोती प्राण कन्त तुम्ह जोती ।
तुम सरवर हौं कंवल की गोई, तुम बिन प्राण और कित होई ।
तुम जग भानु चन्द्र होय नारी, तुमरी जोति रहै उजियारी ।
हौ धन फूलबास तुम पीऊ, तुम बिनु नारि होय बिनु जीऊ ।"[2]

इस आत्मसमर्पण मे भारतीय नारीत्व की दाम्पत्य-भावुकता के तीव्र उद्गार दृष्टिगत होते है । प्रकृति के उपकरणो से सयोग के उपमान ग्रहण किए गए हैं, जिससे उसमे व्यापकता तथा स्थायित्व आ गया है, साथ ही सुकुमारता का समावेश भी हो गया है जो कवित्व की सहायक है ।

देव-रति मे इस प्रकार की भावुकता यद्यपि भक्ति की आधारभूत होती है, तथापि कही कही पर मानवीयता अधिक प्रधान हो जाने पर, उसमें मानव-वृत्तियां ही अधिक स्पष्ट रहती हैं । भगवान् शकर का पार्वती के प्रति निम्न-लिखित अनुराग-चित्रण इसी प्रकार का लौकिक-शृंगार प्रतीत होता है,

"ऊंचे खाले आपनो धरत पग आगे भू मैं,
आपै तोरि देत श्रम संका तरु फूलपर ।
आपनेई भाग भागवदी मानि सोवत है,
परम सोहाग मृग चरम बिछौना वर ।
वेनी कवि प्रेम भरे धोखे जो करत कछू,
चूमि लेत चोप भरे ककन कलित कर ।
सुमिरत दुहून के दूरि होत बाधे सदा,
जैसे अनुराधे आधे अंग धरे नारीहर ॥"[3]

---

१. का० नि०, पृ० १३४
२. हं० ज०, पृ० ६७
३ र० वि०, पृ० ३ (ह० लि०)

भगवती पार्वती के कंकण-कलित कर का चुम्बन करना देवाधिदेव की चरम-श्रृंगार-भावना को व्यक्त करता है। शास्त्रीय दृष्टि से इसका वर्णन दोष हो सकता है किन्तु महाकवि कालिदास के रसात्मक काव्य "कुमारसम्भव" का पदानुसरण करने वाला कवि दोष-निवृत्त भी हो सकता है। प्रेम-विह्वलता का बहुत कुछ आभास उक्त उद्धरण से मिलता है।

अवधवासी कवियों द्वारा चित्रित संयोग-श्रृंगार के कुछ चित्र विशेष भावपूर्ण मिलते हैं। राधा-घनश्याम का निम्नलिखित हिंडोल-दोलन बहुत ही सजीव है। प्रकृति की पृष्ठिभूमि अत्यन्त स्वाभाविक तथा मनोहर है। पावस की फुहार, समीर के झोंकों तथा यमुना-तट-कुञ्जों के आकर्षक दृश्य स्वयमेव चलचित्रों के समान सम्मुख आ जाते हैं :

"नीलमनि पुखराज साजि चारु चौकी पर,
उपमा अनूप रूप श्याम तन गोरे मैं।
तरनि तनूजा तीर कलित कदंब नीर-
सीकरनि सीतल समीर के झकोरे मैं।
गावैं गीत सावन के नेह सरसावन के,
बेनी मन भावन के भावन हिलोरे मैं।
वारौं रति काम कहा बिज्जु घनश्याम आजु,
राधा घनश्याम हंसि झूलत हिंडोरे मैं॥"[1]

वंशीध्वनि के सामीप्य से प्रियतम कृष्ण के दर्शन की सम्भावना गोपिकाओं को आनन्द-विभोर बना देती है। चित्र-रचना में संलग्न हाथ मे लेखनी ग्रहण कर, चित्र रंगने के लिए प्रस्तुत बालाओं के कान में वंशीरव पड़ते ही उनकी दशा स्वयं चित्रवत् हो जाती है। सम्पूर्ण घटना का सजीव वर्णन "द्विजदेव" जी ने इस प्रकार किया है :

"आजु बरसाने की नवेली अलबेली बनि,
पावनचरित्र, बलि बावन तयारी में।
लैं लैं कर लेखनी लगावन लगीं ही रंग,
आनंद उमंग ते सबीह न्यारी न्यारी में।
ताही समैं बांसुरी सुनाई कहूं कान्हैं टेरि,
"द्विजदेव" की सौं या, अनंद अधिकारी में।

१. र० वि०, पृ० ६० (ह० लि०)

चित्र लिखिवे की कौन चरचा चलायें जब ,
चित्र को लिखी सी भई सारी चित्रसारी में ।।"[१]

दाम्पत्य रति के भावपूर्ण उद्‌गार कुछ 'सतनामी' कवियों के काव्य में भी प्राप्त होते हैं किन्तु उन्हें शुद्ध शृंगार के अन्तर्गत नहीं लिया जा सकता क्योंकि उनमें प्रतीक भावना ही प्रधान है। उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयोग-शृंगार में भावुकता, कलात्मकता से आक्रान्त अवश्य रही है। वियोग-पक्ष में भावुकता विशेष रूप से प्रस्फुटित हुई है। यद्यपि शारीरिक-पीड़ा का वर्णन उसको भी अतिशयोक्तिपूर्ण तथा कला-प्रधान बना देता है तथापि उसमें हार्दिक भावनाएं संयोग पक्ष से अधिक प्राप्य हैं।

वियोगजन्य भावुकता का प्रकाशन कवियों ने अनेक साधनों के द्वारा किया है। प्रमुख साधन तो प्रस्तुत कवियों में शास्त्रीय ही है। रसांगों की सहायता से विभाव, अनुभाव, संचारी भाव के द्वारा, इन रसांगों के स्फुट उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए, कवियों ने वियोग वर्णन किया है। इसी साधन के अन्तर्गत षट्‌ऋतु-वर्णन भी आ जाता है, बारहमासा भी इसी का एक रूप है। नाना प्रकार की भावभंगी तथा रूप-चित्रण के साधन अनुभाव हैं, जिनमें सात्विक भाव भी सम्मिलित हैं; संचारी भावों के द्वारा भी नाटकीय चित्रणों में सहायता मिली है। व्यंग्यात्मक शैली में वियोग-वर्णन के लिए कवियों ने यत्र-तत्र उद्धव-गोपी-संवाद का उपयोग भी किया है जिसमें उपालम्भ तथा नैराश्य की भावना सन्निहित है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शृंगार का वियोग-पक्ष बहुमुखी है तथा भावुकता-प्रदर्शन के लिए उसका क्षेत्र व्यापक है।

रसाल मंजरी वियोगिनी को विशेष पीड़ा पहुंचाती है। संयोग की स्मृति को सजग करके प्रकृति के मादक वातावरण से वियोगिनी को उन्मत्त बनाकर, बसन्त में विश्वासघातिनी "आमिनिया" बौरी है। पीड़ा का विह्वलता-पूर्ण उद्दीपन अत्यंत स्वाभाविक है :

"भ्रम भूले मलिन्दन देखि जितै तन भूलि रहे किन भामिनियां।
"द्विजदेवजू" डोली लतान चितै हिय धीर धरै किमि कामिनियां।
हरि हाय विदेश में जाय बसे तजि ऐसे समय गजगामिनिया।
मन बौरै न क्यों सजनी अब तौ बन बौरी बिसासिनि आमिनिया।।"[२]

इसी प्रकार श्रावण मास का आगमन मात्र ही विरह-विदग्धाओं के हृदय में

१. शृं० ल०, पृ० ७५
२. शृं० ल०, पृ० ११४

असंख्य कामनाओं तथा स्मृतियों को जागृत कर देने में समर्थ है, साथ ही उन्हें यह भी विश्वास है कि श्रावणागम के निर्देश-मात्र से प्रियतम के हृदय में भी उन वृत्तियों की जागृति अवश्यंभावी है। अतः वे सूत्र रूप में केवल "सावन सुहावन" के आने का सन्देश भेजती हैं :

"जोग की न कहियो, वियोग की न कहियो,
औ भोग की न कहियो न सोग सरसाइयो।
हित की न कहियो, अहित की न कहियो,
औ इत की न कहियो न चित की जताइयो।
बूझै जो प्रवीन बेनी रसिक रसाल लाल,
बालन को हाल वा बिहाल हू न गाइयो।
ऊधौ मन भावन को सहज सुभावन को,
सावन सुहावन को आवन सुनाइयो॥"[१]

बंशी तो गोपिकाओं के साथ सपत्नी-द्वेष रखती ही है। अपने स्वरों से जो पीड़ा वह गोपिकाओं को पहुंचाती है वैसी सम्भवतः कसाई भी पशु को न पहुचावेगा। "हरि के मुंह लगी" यह बंशी अपना सारा नारीत्व जैसे खो चुकी है। इसके जीवन में केवल परुषता ही रह गई है।

"बांसुरिया यक ओर कढ़ी त्यों कढ़ी यक ओर चवाइने जूहन।
जाई बड़े बड़े बंशन की पै कसाइन को दुखौ ठानि रहीं प्रन।
ये दुख दाई दोऊ व्रज मे इन पै नहीं व्यापै कछूक तियापन।
कानन लागि हरैं सुख वे हरि आनन लागि हरै यह प्रानन॥"[२]

षट्ऋतु वर्णन तथा बारहमासा हार्दिक भावों के प्रतिबिम्ब रूप ही कहे जा सकते हैं। प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक ऋतु में प्रिय के साथ व्यतीत की हुई आनन्दमयी परिस्थिति, प्रकृति की सहानुभूति के साथ सयुक्त होकर मानो सजीव हो उठती है। जीवन संघर्ष की शक्ति, प्रियतम से विच्छिन्न होकर, बारहमासे में मानो आधी ही दृष्टिगत होती है, जिसके फलस्वरूप उत्पन्न विषाद की भावना बड़ी ही मार्मिक हो उठती है।

वसन्त का वर्णन ऋतुओं मे प्रधान है। होली भी इसी के अन्तर्गत आ जाती है। वासन्ती शोभा, पलाश की प्रफुल्लता, त्रिविध समीर का वर्णन इसके प्रमुख उद्दीपक अंग है। बसन्त का प्रभाव कवियों ने बड़ा मार्मिक तथा व्यापक वर्णित

१. न० त०, पृ० ४१
२. शृं० स०, पृ० ६२

किया है। ऊहा के आवरण मे छिपी हुई भावुकता 'द्विजदेव' के इस छन्द में प्रदर्शित होती है :

> "आहि कै कापि कराहि उठी दृग आमुन मोचि सकोचि घरी द्वै।
> लै कर कागद कोरो लला लिखिवे कहाँ बैठी वियोग कथा स्वै।
> ऐसे मे आनि कहू "द्विजदेव" बसन्त बयारि कढ़ी तितही ह्वै।
> बात की बात में बौरी तिया अरु पीत ह्वै पाती परी कर सों च्वै।"[१]

पतझार के साम्य से कवि ने निराशा और अभाव का मार्मिक चित्रण किया है। 'बौरी' और 'पाती' का श्लेष कलात्मकता की ओर निर्देश करता है किन्तु पाती का हाथ से चू पड़ना असहायता तथा करुणा का सजीव चित्र खीचता है।

पावस का वर्णन भी विशेष भावात्मक तथा हृदयस्पर्शी चित्रित किया गया है। दादुर, मयूर, चातक, पुरवा वायु, घन-गर्जन, झिल्ली-झनकार, खद्योत-मालिका आदि इसके प्रमुख उद्दीपन हैं। निम्नलिखित छन्द में कवि ने वियोग के आनन्दमय जन्म का मधुर चित्रण किया है। वियोगिनी के लिए नवजात वियोग-शिशु वात्सल्य की सरिता उमड़ाता हुआ आया है। रूपक के द्वारा कवि ने अपने चित्रण को विशदता प्रदान की है। प्रिय-वियोग मे अन्तिम अवलम्ब सन्तान ही है, अतः उसके वियोग मे सुतोत्पत्ति प्राण-धारण करने का साधन तो बनेगी ही :

> "बाजत नगारे मेघ, ताल देत नदी नारे,
> झीगुरन झांझ, भेरी विहंग बजाई है।
> नीलग्रीव नाचकारी, कोकिला अलापकारी,
> पौन बीनधारी, चेटी चातक लगाई है।
> मनिमाल जुगनू, "मुबारक" तिमिरथार,
> चौमुख चिराग चारु चपला चलाई है।
> बालम बिदेस नये दुख को जनम भयो,
> पावस हमारे लाई बिरह बधाई है।।"[२]

'बारहमासा' वियोगजन्य पीड़ा का बड़ा सजीव चित्रण करते है। ये गेय होते हैं और प्रधानतः वर्षा मे ही गाये जाते है। अतः आषाढ़ मास के वर्णन से ही इनका आरम्भ होता है और ज्येष्ठ मास के वर्णन से समाप्ति होती है। भारतीय जन-जीवन का चित्रण इनमें बहुत सच्चा तथा स्वाभाविक मिलता है। अवध के

---

१. शृं० ल०, पृ० १२२
२ मुबारक, बिलग्रामी, स्फुट

कवियों की ये विशेष रचना हैं। जायसी का बारहमासा बहु-विश्रुत है। कासिम शाह ने भी परम्परा के अनुसार बारहमासा लिखा है और उसमें भी पर्याप्त भावुकता विद्यमान है। अवध प्रान्त का ऋतु-वैचित्र्य तथा हरी-भरी प्रकृति की पूर्ण सहायता इसे प्राप्त होती रही है।

आषाढ : "श्याम घटा धाई चहुं ओरा। बरसै लाग मेघ झरघोरा।
पपिहा रटै लाग पिउ पीऊ। विरहिनि आगि दीन्ह तन जीऊ।
दादुर मोर करें बहु शोरा। विरह काल भा दारुन मोरा।
अदरा बीज परा मुइं जामा। जग हरियर मोहिं जारै कामा॥"[१]

प्रकृति की आनन्दमयी परिस्थिति की तुलना में विरहिणी की विषम दशा और भी करुण दिखलाई पड़ती है।

श्रावण में विरहिणी के नेत्र 'ओरौती' के समान टपक रहे हैं। सारा संसार हरा-भरा हो रहा है परन्तु विरहिणी का शरीर ज्वाला से पूर्ण है।

"झिमिकि झिमिकि जो बरसै मेहा। पवन झकोर दहै मम देहा।
हरियर भा सिगरो संसारा। मोहिं करतार अग्नि मंह डारा।
× × ×
नैन चुयें जस सावन ओरी। पिउ बिनु नाव को खेवै मोरी।"[२]

कार्तिक के सुहावने दिन तथा उज्ज्वल रातें आ गईं परन्तु विरहिणी की पीड़ा को सुनने वाला कोई नहीं :

"मोर न आस पूरि भई कन्ता, डाह विरह कीन्हों भस्मंता।
दिवस सुहावन निशि उजियारी, मो कह कंत रात दिन भारी॥"[३]

वसन्त भी आ गया। चैत्र मास मे सारी प्रकृति अनुराग के रंग में अनुरक्त हो उठी परन्तु वियोगिनी ने योगिनी का रूप धारण कर रक्खा है। पत्रहीन प्रकृति फिर लहलहा उठती है परन्तु इस वियोगदग्ध काया के पुन: पल्लवित होने की अब क्या आशा ?

"राता बन फूला होय टेसू, मोहिं कीना विधि योगिन भेसू।
पलुही जग बिन पत्ता सारी, कत पलुही काया दुख जारी॥"[४]

और इस नैराश्य मे वैशाख अपना तीव्र उत्ताप लेकर आ पहुंचा। लुएं चलने

---

१. हं० ज०, पृ० १३०
२. वही, पृ० १३१
३. वही, पृ० १३१
४. वही, पृ० १३३

लगी, सारा संसार जलने लगा, प्रिय के आगमन का मार्ग भी मूंद गया, अब काया की पीड़ा को, उत्ताप को कौन शीतल करेगा ?

"चढ़े असार उठे जग धूरी, तबहुं न फिरा बाट भई झूरी।
पानी पवन भयो सब ताता, पिउ बिन करै को शीतल गाता॥"[1]

इस प्रकार प्रकृति के उपकरणों को लेकर कवि ने बड़ी सहृदयतापूर्वक बारहमासा द्वारा मानव-हृदय की कोमल अनुभूतियों को व्यक्त किया है।

आदर्श प्रेमिका गोपिकाओं के व्यंग्यात्मक उपालम्भ में करुण-हास्य की जो मार्मिक पुट मिली हुई है, वह वियोगजन्य निराशा को विशेष पुष्ट करती है। उद्धव का विश्वविश्रुत उपदेश गोपिकाओं को उनके प्रेमपथ से भ्रष्ट करना चाहता था। इस तथ्य में स्वयमेव इतनी उपहासास्पदता थी कि उद्धव पर जो भी व्यंग्य किये जाते, थोड़े थे; जिस प्रकार मयूर मेघों के प्रति अपनी अनुरक्ति नहीं त्याग सकता, जिस प्रकार चातक क्षुद्र, गन्दे गड्ढे में भरा हुआ जल पान नहीं कर सकता, जिस प्रकार मछली जल का त्याग नहीं कर सकती, जिस प्रकार इनके अनुराग को भग करने का प्रयास उपहासास्पद है, उसी प्रकार गोपिकाओं के प्रेम को भी मार्गभ्रष्ट करने का प्रयत्न उद्धव की निर्बुद्धि का परिचायक है। गोपिकाओं का व्यंग्य इसी लक्ष्य को लेकर है :

"कोऊ जाय सिखीगण को सिखवै, अनखात न क्यों मघवा जल सों।
पपिहाऊ पियैं किन जाय कै नीर, अषाढ़ कै गोखुर के थल सों।
अब ऊधो दया करि आये इतै, ब्रजवासिन पायो महाफल सों।
थल बावरे दावरे बीच करैं, रह्यो मीनन काम कहा जल सों।"[2]

वास्तव में उद्धव जी बड़ा ही सुन्दर समाधान ले आए हैं वियोग की विषम समस्या का ! ब्रजबालाओं के तो मानो उन्होंने प्राण ही बचा लिए !! अब क्या है ? अब तो मयूर मेघ से, पपीहा स्वाति से और मीन जल से सम्बन्ध विच्छेद करके मुक्त हो जायेंगे, सदैव के लिए उन्हें निश्चिन्तता प्राप्त हो जायगी ! गोपिकाएं भी कृष्ण की ममता-मोह को छोड़, आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगी। उद्धव का उपकार धन्य है !!

परंतु किसी निस्स्वार्थ प्रेमिका का सन्देश भी तो उद्धव को ले जाना है। कुब्जा के प्रेम में मग्न कन्हैया के प्रति शुभकामनाएं भी तो उन्हें पहुँचानी है। वे जहां रहे, प्रेम-मग्न और सुखी रहे, यही भावना गोपियां व्यक्त कर सकती हैं।

---

१. हं० ज०, पृ० १३४
२. शृं० ल०, पृ० ९५

उद्धव में क्या सामर्थ्य है कि वे इस प्रेम-योग को समझ सकें !! उसे तो प्रेम के अधिकारी कृष्ण ही समझेंगे :

"लावौ हमें भोग कै सिखावो कुछ योग कला लीन्हें अंगराग कै परागन घने रहो।
बिनती इतीक पै हमारी पिय प्रीतम सों कहिबें को ऊधौ उर आपने गने रहौ।
अब उर अन्तर इतीयै अभिलाष रही असहु जहांई तहां आनद सने रहौ।
याही ते हमारे सुख पगन लगैंगो तुम लगन लगे हू पिय भगन बने रहौ।।"[1]

गोपिकाओं ने तो प्रेम का परिणाम दुःख ही देखा है, यदि सौभाग्य से कृष्ण को कुब्जा के प्रेम-परिणाम मे सुख मिल सके तो उन्हे बड़ी प्रसन्नता होगी। उनकी कामना तो यही है।

संक्षेपतः इस शृंगार-काव्य में भावुकता का स्थान चाहे परिमाण में अधिक उपलब्ध न हो किन्तु जितना जो कुछ प्राप्त है उसमे गहरी भावुकता के दर्शन होते है। यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि इन राग-विराग के चित्रों की पृष्ठ-भूमि प्रकृति ही है जिसने भावुकता के व्यक्तीकरण मे पूर्ण सहायता दी है। अवध प्रदेश की रमणीक स्थली के विभिन्न पशु-पक्षी तथा वनस्पति की सहायता से हृदय के उद्‌गारों की व्यंजना में विशेष मार्मिकता उत्पन्न हो गई है, यह निर्विवाद है। प्रकृति की अनेकरूपता के कारण रमणीयता में और भी अधिक वृद्धि हुई है; अतः यह लांछन प्रस्तुत कवियों पर लगाना व्यर्थ है 'कि उन्होने प्राकृतिक दृश्यों की उपेक्षा की है। हां, इतना अवश्य सत्य है कि ये प्राकृतिक दृश्य केवल उद्दीपन के रूप मे ही प्रयुक्त हुए हैं। प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अवध के कवियों का आकर्षण, हम यथा-स्थान वर्णित करेंगे।

शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का उपयोग हमारे कवियों द्वारा गौण रूप में ही किया गया है। या तो इन रसों का प्रयोग, शृंगार के अन्तर्गत हुआ है अथवा ये बहुत सामान्य रूप में वर्णित हुए हैं। शृंगार के साथ अद्‌भुत का मैत्री-भाव आचार्यों ने स्वीकार किया है। "शृंगार रस करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रसों के साथ विरुद्ध होता है" (सा० द०, पृ० १६२)। परन्तु विभिन्न आश्रयों अथवा आलंबनों मे प्रयुक्त स्थायी भावों में विरोध का परिहार हो जाता है। अतः इस दृष्टि से विरोधाविरोध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे शृंगारी कवियों ने भी अधिक से अधिक रसों को शृंगार के अन्तर्गत लाने का प्रयत्न किया है। परन्तु अधिकांश मे वे भाव, संचारी के रूप मे ही देखे जा सकते है।

---

१. शृं० ल०, पृ० १११

होली के अवसर पर गुलाल का उड़ना, मृदंग की ध्वनि, रंग द्वारा उत्पन्न पंक तथा दामिनीवर्ण राधा का इधर-उधर दौड़ना, भागना और ग्वालों के शरीर पर रग डालना आदि देख-सुनकर दर्शक को फाल्गुन में ही पावस का आभास होने लगता है। यह आश्चर्यमय दृश्य, शृंगारभावना से समानांतर चलता है। उपमा, भ्रम तथा उत्प्रेक्षा के आधार पर कवि ने शृंगार-चित्रण को अद्भुत रूप प्रदान किया है।

"लै लै कर झोरी जुटि आई इतै गोरी,
उतै होली खेलिवे को ग्वाल जाल हू बनायो कीच।
छाय गो छिनै में यो गुलाल मेघ माल ऐसो,
"द्विजदेव" जासों ना जनायो परै ऊंच नीच।
ऐसी भई धूधरि धमारि की सी ताहि समै,
पावस के भोरे मोर शोर कै उठे अपीच।
घन के समान ज्यों ज्यों दौरें घनश्याम,
त्यों त्यों संपा सी दुरति आली चम्पा घन वन बीच॥"[1]

हास्य-मिश्रित शृंगार का वर्णन कवियों ने प्रचुरता के साथ किया है। आनन्द-मयी संयोगावस्था को चित्रित करने मे हास्य विशेष सहायक होता है, साथ ही नायक-नायिका के सजीव चित्रण में भी इसकी उपयोगिता देखी जा सकती है।

मुग्धा नायिका को अपने यौवनागम का पता नही है। उसका गौरवर्ण अचानक ही वयः-सन्धि के कारण, चम्पक वर्ण में परिवर्तित हो गया है, अतः उसकी गज-मुक्ताओं की श्वेत माला, शरीर की आभा को ग्रहण करके, पद्मराग की सी प्रतीत होने लगी है। स्नान करने के बाद उसका चम्पक वर्ण और भी उद्भासित हो उठा है; अतः उसे अपनी माला के बदल जाने का पूर्ण विश्वास हो गया है। उसकी इस भ्रमित मुद्रा को, कल्पना के नेत्रों द्वारा देखकर, हँसी आए बिना नही रह सकती :

"कालि्ह ही गूदि बबा की सौं मैं, गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहां ते इहां पुपराज की, संग यई जमुनातट बाला।
न्हात उतारी मैं वेनी प्रवीन, हंसै सुनि वैननि नैन विसाला।
जानति ना अँग की बदली, सब सो बदली बदली कहै माला॥"[2]

द्विजदेव जी की नायिका को 'नीरद' से शिकायत है। नी+रद, दन्त विहीन, यह

---

१. शृ० ल०, पृ० ४०
२. न० त०, पृ० ६

बादल भी उसका उपहास कर रहा है। समय की महिमा है, प्रिय-वियोग न होता तो यही नीरद सुखद बन जाता। आज तक वियोगिनी आंगन में भी न निकली थी, अतः आज इस नीरद को वृद्ध समझकर वह उसके सम्मुख हुई तो वह भी उसका उपहास करने लगा।

"जा दिन ते प्यारे प्रिय प्रीतम सिधारे कहूं,
जानि ब्रजमण्डल घनेई घने उतपात।
'द्विजदेव' ता दिन ते बैठी दुरि मन्दिर में,
सुमुखि सखीन हूं की नेकहूं सुनी न बात।
बूढ़ो बिन दांत को विचारि शठ तोको ताते,
आज यहि आगन में निकरि देखायो गात।
अबला अबल जानि तुहूं इतरात अरे,
नीरद विश्वासी कहा करत विश्वासघात॥"[१]

सच है, निर्बल को सभी सताते है।

वियोग-श्रृंगार के अन्तर्गत मरणदशा को करुण की सीमा मे लिया जा सकता है। वास्तव में करुण भाव वहां प्रधान होता है जहां भविष्य मे प्रिय-मिलन की आशा समाप्त हो जाती है। हंस के वियोग मे जवाहर की यह दशम दशा करुणा उत्पन्न करती है।

"ब्याकुल भइ थरथर हो कापी, लहर चढ़ै कोउ रोय न चांपी।
गिरी अचेत भई तन छारा, छिटकी मांग छिटक गये बारा।

× × ×

सखी जो धाय गईं लिपटाई, रोवत गहि बिन प्रान उठाई।
का करतार कीन्ह निशि माहां, कै हरिलीन कंवल सुख छाहां॥"[२]

दासजी की नायिका की भी ऐसी दशा हो गई है कि मरण में कुछ शेष नहीं रहा।

"नारि न हाथ रही वहि नारि के मारती मोही मनोज महा की।
जीवन ढंग कहां ते रह्यो परजंक मे आध रही मिलि जाकी।
बात को बोलिबो गात को डोलिबो हेरें को दास उसास को थाकी।
सीरी ह्वै आई तताई सिधाई कहो मरिबे मैं कहा रह्यो बाकी॥"[३]

सीता-हरण के पश्चात् राम की दशा, उनका संयोग के दिनों का स्मरण और

---

१. श्रृं० ल०, पृ० १०
२. हं० ज०, पृ० ६८
३. श्रृं० नि०, पृ० ३०

अपनी प्राण-हानि की सम्भावना, वियोग-दशा में करुणा का पर्याप्त सम्मिश्रण कर देती हैं। पिता का आदर्श सम्मुख रखते हुये राम स्वयं भी वियोग दुःख में प्राण-त्याग को प्रस्तुत है। सीता के पुनर्दर्शन की सम्भावना तो समाप्त हो ही चुकी है।

"रूठि मोसों झूठहू कवों न मुरि बैठी अब,
कत दुरि बैठी कछू कीन्हें हेरि हांसु है।
बोलिये न बोल बेगि श्रवन सुधा से नाइ,
येतेऊ वियोग मोहिं दुसह नेवासु है।
तुम हो प्रवीन बेनी प्यारी वसुधा की जाई,
सरबस हांसो जापै जगत के बासु है।
मैं तो ताही भूप के तनुज तुम देखो सोचि,
सुत के वियोगते पयाने प्रान जासु है॥"[१]

प्रधानतः अद्‌भुत, हास्य तथा करुण का मिश्रण शृंगार के साथ अधिक हुआ है; अन्य रसो की ओर विशेष ध्यान नही रहा। बेनी प्रवीन ने वीर का मिश्रण भी शृंगार के साथ किया है; प्रायः वह अश्लील हो गया है, क्यों कि शृंगारी कवि, रति-समर में ही वीरता का प्रदर्शन उपयुक्त समझते रहे हैं। नायिका का अंग-प्रत्यंग सैन्य-समूह के रूप में एकत्र हुआ है। उत्साह का प्रचुर-प्रदर्शन हो रहा है और भिड़ने की पूरी तैयारी है :

"नैनन बैनन कज्जल सैनन, भौंह कमानन ते हम जानी।
बेनी प्रवीन हंसी बिलसी अति, ढारन ढालन की पहिचानी।
आगे खरे कुच कंचुक बाके, टरै न कबौ जे महा भटमानी।
आज भिरैंगे पिये मदमत्त, फिरैं उतसाह भरी उमदानी॥"[२]

वीररस-मिश्रण का यह प्रयास प्रत्यक्षतः बहुत कुछ कलात्मक ही हो गया है। वीर, शृंगार का स्वभावतः विरोधी है, अतः शृंगार के साथ उसका मिश्रण अवश्य ही प्रयत्न-प्रसूत होगा और उसमे विनोद की भावना प्रधान होगी, वीर भाव नही। करुण भी यद्यपि शृंगार का विरोधी ही स्वीकृत हुआ है तथापि वियोग की चरमसीमा, मरणदशा उसे शृंगार के अन्तर्गत ला सकी है। अद्‌भुत तो शृंगार का मित्र है ही। हास्य भी उसका उपयुक्त सहायक प्रमाणित हुआ है। इस प्रकार, शृंगार के अन्तर्गत आये हुये रसो के उपरान्त, अब हम भावुकता की दृष्टि से अन्य सब रसो पर दृष्टिपात करेंगे।

---

१ न० त०, पृ० ६९
२. न० त०, पृ० ७०

हास्य के आलम्बन, इन कवियों द्वारा प्रधानतः भगवान् शंकर ही चुने गये हैं। उनकी विचित्र वेष-भूषा, भूत-प्रेत-पिशाच आदि का समाज उद्दीपन के रूप में वर्णित है। यद्यपि यत्र-तत्र, दो-एक, दारिद्र्य आदि से संबंध रखने वाले अन्य आलम्बन भी दृष्टिगत होते हैं किन्तु वे नगण्य हैं। शिवजी ही इस रस के प्रधान लक्ष्य हैं। वर्णन प्रायः परम्परागत है और उक्ति-चमत्कार के अतिरिक्त उनमें कोई विशेषता नहीं है। दृश्य-वर्णन में अवश्य अन्तर है। कहीं गंगा-स्नान से (भक्त को) शिव का नग्न-स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जिसे पाकर लज्जा के कारण घर से बाहर निकलना कठिन हो जाता है, कहीं भगवान शंकर के विवाह में नेगी-जोगियों की कौन कहे स्वयं पार्वती कांप उठती हैं, कहीं शंकर की बारात के भूत-प्रेत आदि से नगर निवासी आतंकित हैं और कहीं उनका नन्दी घरों की दीवालें बेंसे डाल रहा है। कहीं बेचारा चोर, शंकर के घर में घुसकर धतूरे के बीज, चावलों के धोखे में चबा जाता है और घोर रूप से उन्मत्त होकर मारा-मारा फिरता है, इत्यादि।

बेचारी पार्वती के वस्त्र का छोर शिवजी के सर्प की दुम से जोड़कर ग्रंथि-बन्धन किया गया। त्रिनेत्र की ज्वाला से व्याकुल पुरोहित 'श्रीवर' के सम्मुख आंख भी नहीं उठा पाता। उधर मण्डप के नीचे घोर आतंक है। "कोउ मुख-हीन विपुल मुख काहू। बिनु पद कर कोउ बहु पद बाहू।" का सजीव दृश्य उपस्थित है। ऐसी दशा में नेग-जोग की बात ही क्या ? प्राण बचें, यही बहुत है ! इस शंकर-विषयक हास्य में व्यंग्य अधिक है और इसे भक्ति-प्रधान कहा जा सकता है।

"बेनी ग्रन्थबंधन को बसन भुजंग पूछि,
उमा के बिवाह लोग शंकित शहर को।
लोचन अनल भाल रोचन सकै न करि,
सोचन पुरोहित बिलोके मुखवर को।
भूत प्रेत डाकिनी पिशाच मड़ये में फैले,
फफकि फफकि फनी उगिलै जहर को।
कहा नेग जोग जीव बाचै कौं न जोग जहां,
गारी देत मागे नेगदारी सब घर को॥"[१]

करुण-रस की उत्पत्ति प्रधानतः अपने निकटस्थ व्यक्ति की मृत्यु, भावी मृत्यु अथवा विनाश की शंका से होती है। मृत व्यक्ति का शव अथवा उसकी मृत्यु का

१. बेनी, र० वि०, पृ० ४१ (ह० लि०)

काल्पनिक दृश्य उसके आलंबन होते हैं। अपमान आदि से पूर्ण परिस्थितियां भी इसकी उत्पत्ति कर सकती है। अधिकतर करुण के आलम्बन, रामकथा सम्बन्धी दृश्य लिये गये है। अवध प्रान्त के लिये ये उपयुक्त भी थे। राम-निर्वासन पर दशरथ-विलाप, कैकेयी की आत्मग्लानि के कारण आत्मघात की आशंका, रावण-वध और मन्दोदरी-विलाप आदि विषय लेकर काव्य-रचना की गई हैं। यद्यपि यहां भी केवल निर्वेदात्मक, मृत्यु-सम्बन्धी करुणा का चित्रण हुआ हैं तथापि उक्त कथात्मक दृश्य अधिक हैं। रसलीन जो मन्दोदरी की करुण-दशा का वर्णन करते है।

"बिलखि कहति मन्दोदरी, गहि दशमुख को गात।
बीस करण हू राखि तुम, सुनत न मेरी बात॥
सोइ जागिबो आपनो मो नैनन के साथ।
लै सब इनकी नीद को सुख सोये तुम नाथ॥"[१]

रावण का मृत शरीर आलम्बन है, उसके बीस कान, विशाल शरीर, अनन्त निद्रा, उद्दीपन है और मन्दोदरी का विलाप अनुभाव है। परोक्ष में राम के शौर्य की ओर कवि की दृष्टि है।

दासजी दशरथ की प्राणहानि के भय का चित्रण करते है। राम बनगमन के बाद दशरथ प्राण-धारण की आत्मग्लानि से व्याकुल है। उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी जान पड़ती हैं और राम से वियोग अनन्त है। सम्पूर्ण विश्व राम के वियोग मे दुखी है, ऐसी परिस्थिति मे उन्हें अपना प्राण-धारण बड़ा लज्जास्पद ज्ञात होता है :

"बतियां हुती न सपनेहु सुनिबे की सो सुन्यो,
मैं जु हुती न कहिबे की सो कह्योई मैं।
सारे नर - नारी पक्षी - पशु देहधारी,
रोऐं परम दुखारी ऐसे सूलन सह्योई मैं।
हाय अपलोक वोक पथहि गह्यो पै,
बिरहागिनि रह्यो मैं सोक सिंधुनि बह्योई मैं।
हाय प्रानप्यारे रघुनंदन दुलारे तुम,
बन को सिधारे प्राण तन लै रह्योई मैं॥"[२]

मृत्यु-सम्बन्धी निम्नलिखित करुण का उदाहरण कथात्मक नही है पर उसका शान्त में पर्यवसान उत्तम हुआ है।

---

१. र० प्र०, पृ० ८३
२. का० नि०, पृ० ३१

"घोड़े पील पालकी खवास खिजमतगार,
सैना को समूह जे जितैया वड़ी रारि के।
जेवर जवाहिर खजाने तोपखाने सब,
ऐसे छोड़ि चले जैसे बकुचा बेगारि के।
वेनी कवि कहैं परमारथ न कीन्हें मूढ़,
कीन्हे पाप घने हित सुत सुता नारि के।
काल सर साधे, देपु माया मद आधे कछू,
गाठि में न बांधे अब बांधे जाति चारि के ॥"[1]

संसार-सघर्ष मे लिप्त मनुष्य मात्र को आलम्बन रूप में मानना चाहिये। उसकी सम्पत्ति, शवयात्रा उद्दीपन है, उसके भले-बुरे कार्यो का स्मरण भी उद्दीपन ही है, कवि की उपदेशात्मक वृत्ति ही अनुभाव कहनी चाहिए और शान्त भाव, करुण की पुष्टि करता है।

वीर, भयानक तथा रौद्र रसो मे हमारे कवियों ने अधिकतर रामायण तथा महाभारत के नायको तथा उपनायकों को आलम्बन-रूप मे ग्रहण किया है। यद्यपि वीर के चार भेद, दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर तथा दयावीर, आचार्यो ने माने है तथापि प्रधानतः युद्धवीर का ही वर्णन श्रृंगारी कवियों ने अपने ग्रन्थों में किया है। उत्साह, भय तथा क्रोध के आलम्बन प्रधानतः विरोधी पक्ष के लोग ही होते है। कवियों ने राम, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि के उत्साह को रावण दुर्योधन आदि पर आलम्बित किया है। ये स्वयसिद्ध आलम्बनादि कवियों के हाथ में पड़कर पर्याप्त रूप से रस-परिपाक कर सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

राम के उत्साह का आलम्बन, रावण की असीम सेना है जिसे देखकर सभी चकृत-विस्मित हो रहे हैं। मेघनाद आदि की सहायक सेना, दलों का विस्तार आदि उद्दीपन हैं। राम की आनन्दमयी मुद्रा और आलस्यमयी निश्चिन्तता संचारी-रूप से उनके उत्साह को पुष्ट करती है।

"सैना को समूह छिति मंडल में छाय आय,
अजर अमर आज रावन बजाय कै।
इन्द्रजीत दाहिने विपच्छ पच्छ दलन के,
दलन में दच्छ वेनी कहत सुनाय कै।
लच्छन चकित अति वाल विसमित तहां,
वायुज विलोके चल चरन उठाय कै।

---

१. र० चि०, पृ० ४१ (ह० लि०)

आनन्द सरस रस आलस सहित परी ,
राम जी की नजरि सरासन में जायकै ।।"[१]

द्वित्व वर्णों के द्वारा इन परुष रसों में ओज उत्पन्न करने की परम्परा भी कहीं-कहीं पर कवियों ने पालन की है, दास जी ने रावण-युद्ध में इस प्रवृत्ति का परिचय दिया है :

"क्रुद्ध दशानन बीस भुजान सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत ।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत ।
मारु पछारु पुकारु दुहूं दल रुण्ड झपट्टि दपट्टि लपट्टत ।
रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत ।।"[२]

भयानक के आलम्बन वह सभी प्राणी अथवा दृश्य हैं जिनको देखकर हृदय में भय की उत्पत्ति होती है। किसी भयंकर प्राणी को, अथवा कराल व्यक्ति की आकृति को देखकर हृदय भयभीत होता है, अतः ये सब भय के आलम्बन है। शरीर का कम्प, अस्फुट वाक्य आदि अनुभाव हैं। राम के धनुष भंग का दृश्य इसी प्रकार के आतंक से पूर्ण है :

"कोल कच्छ दबे फेन फैलत फनी के
मुख धसि गई धरनि धराधरऊ दरके।
हरके रहे न भानु भरके तुरंग 'बेनी',
चौंकि चले वाहन बिरंचि हरिहर के।
जपत गगन झुकि कम्पत दुवन हल-
कम्पत भुवन गुन खैंचे रघुबर के।
दंती दबे आसन सकाने पाकसासन;
न कोऊ थिर आसन सरासन के करके ।।"[३]

शरासन की कड़क आलम्बन है। राम का गुणाकर्षण उद्दीपन है और सारे संसार का भयभीत होना अनुभाव है। इन्द्र का शंकित होना, संसार का सशंक हो जाना, वाहनों का चौंककर भाग चलना आदि में आवेग संचारी है। रस का सुन्दर परिपाक इस दृश्य में हुआ है।

रौद्र का आलम्बन भी शत्रु होता है। वीर, रौद्र में केवल स्थायी भाव का अन्तर है, अन्यथा दोनों समान हैं। क्रोध स्थायी के आलम्बन शत्रु होते हैं। शत्रु

---

१. र० वि०, पृ० ४१ (ह० लि०)
२. का० नि०, पृ० ३१
३. र० वि०, पृ० ४१ (ह० लि०)

द्वारा किया हुआ अपमान अथवा अनिष्ट, उद्दीपन हैं और क्रोध दिखलाना, बिगड़ना, वक्रदृष्टि, भृकुटि-भंग आदि अनुभाव है। उग्रता आदि संचारी है। द्रौपदी को अपनी जंघा पर बिठालने का जो निर्देश दुर्योधन ने कौरव-सभा में किया था उसकी स्मृति भीम के क्रोध को उद्दीप्त करती है और वह दुर्योधन के जानुभंग और सम्पूर्ण सेना को मसल डालने की प्रतिज्ञा करते हैं। यह अनुभाव है। ये उग्र वचन उनकी भावभंगी को व्यक्त करते हैं। उनकी स्मृति, उग्रता और अमर्ष संचारी हैं :

"योधन की ऐसी दशा देखि भीम योधन की ,
कहैं दुरयोन की ग्रीवहि मरोरिहौं।
कौरव की सेना सब मीजिहौं मैं सैन ही सों ,
सैनानी ये महाबली मानो न करोरिहौं।
गज जूह ढाहौं अरि व्यूह अवगाहौं कविराज ,
निरबाहौ प्रण तौ लगि न शोरिहौ।
दोर्षहि भुजान गहे थापतु है जानु जौन ,
यहै जिय जानु यहै आन तेरी तोरिहौं॥"[1]

बीभत्स रस में ग्लानि उत्पन्न करने के प्रधान आलम्बन मांस, मेद, मज्जा आदि हैं। श्मशान का घृणित दृश्य, युद्ध-क्षेत्र का रुधिरावक्त वातावरणादि, ये सब बीभत्सता के आलम्बन हैं। कुत्तों, स्यारों की नोच-खसोट, गीधों, चीलों का मांस नोचना, खींचना आदि उद्दीपन हैं और नाक सिकोड़ना, मुँह घुमा लेना, थूकना, मितली आदि अनुभाव हैं। आवेग, व्याधि, मरण आदि संचारी हैं। अवध के कवियों ने बीभत्स का चित्रण करने के लिये भी प्रायः रामायण अथवा महाभारत की कथाओं का ही आश्रय ग्रहण किया है। युद्ध-क्षेत्र के चित्र इसके लिये उपयुक्त सामग्री हो भी सकते हैं अतः राम-रावण-युद्ध अथवा भीम दुःशासन-संघर्ष के चित्रणों में इस रस का परिपाक किया गया है। कहीं-कहीं आश्रयदाताओं के युद्ध-वर्णन का भी सहारा लिया गया है। राम-विजय के निम्नलिखित दृश्य मे युद्ध-क्षेत्र आलम्बन है। भूत-प्रेतों का मांसादि खाना, चीलों का आँतें खींचना उद्दीपन है। इस दृश्य का दर्शन ही अनुभाव है और इस दृश्य मे निमग्न होकर भूत-प्रेतादि का मुग्ध होना ही संचारी है :

"भूत औ प्रेत खबीस खुसी अति ते उत को फिरैं भू पर धावत।
सोनित की सरिता उमहै बहै रुण्ड औ मुंड बनै न गिनावत।

---

१. फा० प्र०, पृ० १५

खाय कै मांस विहंग छके रहे बोलत राम बिजै गुन गावत।
आंत लै चील्ह अकास चढी मनो जोगिनि पूत पतंग उड़ावत।।"[१]

सुखदेव मिश्र ने अपने आश्रयदाता फाजिलअली के युद्ध-क्षेत्र का वर्णन भी इसी प्रकार के बीभत्स-परिपाक द्वारा किया है।

"तेग गहे अनिरुद्ध फाजिलअली से क्रुद्ध,
कविराज जुरै युद्ध कियो अरिघात है।
लोथिन सों लागी लोथि खँचें खग चोथि चोंथि,
गिद्धगण गोथि गोथि गूदन को खात है।
समर मतंग हनो लै चलो मतंग मुख,
अति ही उतंग देखे को धों न सकात है।
तात सों कहत आउ चित्त में चढत चाउ,
दौनागिरि मानो वायु छौना लिये जात है।।"[२]

परन्तु आश्रयदाताओं से सम्बन्ध रखनेवाला बीभत्स-विषयक काव्य अवध के कवियो में अधिक नही है। प्राधान्य महाकाव्य सम्बन्धी कथात्मक घटनाओं का ही है।

अद्भुत की रसात्मकता विस्मय में है। इस विस्मय का आलम्बन कोई आश्चर्यजनक दृश्य होता है। अवध के कवियों ने इस क्षेत्र में अधिकांशतः अलौकिकता की ओर विशेष ध्यान दिया है। देवी-देवताओ के चमत्कार अथवा महापुरुषों की विशेषताओं और विलक्षणताओं की ओर विशेष ध्यान देकर अद्भुत चरित्रों का चित्रण किया गया है। सारे संसार का पोषण करनेवाला, परब्रह्म परमात्मा, वामन जैसा स्वरूप बनाकर भिक्षा-याचना करता है, यह अवश्य अद्भुत दृश्य है। वामन भगवान का लघु शरीर आलम्बन, उसकी अद्भुतता का वर्णन उद्दीपन, चकित होना अनुभाव, भ्रम का भाव संचारी हैं।

"प्रकट देखियत जो सकल जग के पोषनहार।
ठाढ़े हाथ पसारि कै मागत बलि के द्वार।।"[३]

इसी प्रकार भगवान शंकर के वरदानी होने पर कवि आश्चर्य प्रकट करता है क्योकि वे स्वयं महादरिद्र, वृद्ध, दुर्बल हैं, खाने तक का ठिकाना नही है।

"अद्भुत रंग सुनो कविराज शिव अंग,
कीजियत अंगराग धूरिन के धपरा।

---

१. र० वि०, पृ० ४२ (ह० लि०)
२. फा० प्र०, पृ० १६१
३. र० प्र०, पृ० ८६

ध्याये लोकपालन ते पाये सुखपालन वैं,
खाइबे को सालन कपालन के खपरा।
धाग की न देखी गति पाग की चलावैं कौन,
भाग की निकाई अग ढापो नहीं कपरा।
रति बरदाइकै कहां ते बरदाइ भये,
सवै बरदाइ बूढ़ो छाह है न छपरा॥''[1]

इसी प्रकार गंगा द्वारा, पानी से पाप के पहाड जला देने पर कवि आश्चर्य प्रकट करता है अथवा माता यशोदा के द्वारा उस ब्रह्म को ''जेवरी'' से बाधने के प्रयत्न पर विस्मित होता है जिसने बलि जैसे शक्तिमान राक्षसराज को, अथवा अथाह सागर को क्षण भर में बांध डाला था। संक्षेपतः इस रस मे भी देवभाव प्रधान है, लौकिकता की ओर विशेष ध्यान नही है।

शान्त रस निर्वेदात्मक है। संसार से विरक्ति और आत्मिक शान्ति उत्पन्न करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है। ससार की असारता का चित्रण, उसका ज्ञान ही इसका आलम्बन है। शात स्थल, वातावरण, सत-समागम उद्दीपन है और वैराग्य भाव आदि संचारी है। शान्त का विषय तो प्रधानतः ईश्वर सम्बन्धी है ही। सत-काव्य प्रधानतः शान्तरस प्रधान ही कहा जा सकता है। भव-पारावार का निम्नलिखित विस्तार, रामनाम-बोहित द्वारा ही पार किया जा सकता है। बावले मनुष्य को इस सुन्दर साधन को पाकर इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये। इस बोहित पर सब प्रकार की सुरक्षा है; किसी प्रकार की विपत्ति की आशंका नही है क्योकि सद्गुरु रूपी कर्णधार भी तो विद्यमान है, फिर लोभ-लहर, भंवर-माया, मोह-मद-मत्सर रूपी मगर, मच्छ-कच्छ आदि का क्या भय ?

''जामैं लोभ लहरि लगै न न भंवर माया,
छाया दाया सन्तन को सन्तत सुभाव रे।
मोह मद मत्सर मगर मच्छ, कच्छ, कूर,
तिनको कछू न चलि सकत कुदाव रे।
मुमुख समीर है भगत परवीन बेनी,
बादवान विदित सुसंग चित चाव रे।
राम नाम बोहित करनधार गुरु पाइ,
भवपारावार मे मगन होउ बावरे॥''[2]

---

१. फा० प्र०, पृ० १६३

२. न० त०, पृ० ७२

भूपति जी ने भी संसार से विमुख होकर, एक मात्र मनमोहन के नाम का आश्रय ग्रहण करने की प्रेरणा जन-साधारण को दी है :

"जोगु जुगुति नहिं काम की, नही काम को काम।
ऐहै काम अकेलेई, मनमोहन को नाम॥"[1]

सक्षेपत: शृगारेतर रसों पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि भक्ति-काव्य का बहुत कुछ प्रभाव इन पर पड़ा है। जो प्रवृत्ति कलात्मक होकर शृगार में समाई है वही भावना, प्रधान होकर अन्य रसों मे दृष्टिगत होती है। भावना के आलम्बन प्रधानत: रामकृष्ण की अवतार लीलाएं है। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि नवरसो का वर्णन करके कवियों ने अपनी सर्वतोमुखी प्रवृत्तियो को चरितार्थ कर दिया है। यद्यपि शृंगार के अतिरिक्त शेष आठो रसों के वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त हैं तथापि भावना की दृष्टि से उन्हें कवि की वृत्तियों का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। कला तो उनका व्यवसाय था, परन्तु इन रसों में व्यक्त भक्ति-भावना उसकी सच्ची प्रवृत्ति थी, इसमे सन्देह नही। जहां शृंगार के द्वारा हम इन कवियो की कला-पटुता आक सकते है, वही अन्य रसों के द्वारा उनके हृदय की भक्ति-भावना की परख कर सकते हैं, इस दृष्टि से ये सक्षिप्त रस भी अपना महत्व रखते हैं।

प्रकृति-पर्यवेक्षण की ओर अवध के शृगारकालीन कवियो की दृष्टि भी लगभग उतनी ही मन्द है जितनी तत्कालीन अन्य कवियों की। यही कारण है कि अवध प्रान्त की शस्य-श्यामला, हरी-भरी प्रकृति के वैभव से आच्छादित भूमि में निवास करते हुए भी उसके रमणीय मुग्धकर सौन्दर्य की ओर उनकी दृष्टि प्राय: नही के बराबर ही पड़ी अन्यथा ऐसे वातावरण मे निवास करने वाले, कवि के लिए प्रकृति के सहृदयतापूर्ण दृश्यों का चित्रण करने की पर्याप्त सामग्री थी। यह केवल सयोग की बात थी कि तत्कालीन कवि, एक तो मुक्त प्रकृति के मध्य मे, ग्राम्य-वातावरण मे, ही प्राय: निवास करते थे अथवा यों कह सकते हैं कि उस समय तक नागरिक जीवन का सर्वांगीण विकास नही हुआ था, अत. नगरों मे भी ग्राम्य वातावरण बना हुआ था और दूसरे इन कवियो ने जिस कृष्णकथा के आधार पर अपनी काव्य-रचना की थी उसमें स्वभावत: प्राकृतिक पृष्ठभूमि विद्यमान थी। यमुना निकुज, वृन्दावन, नानावर्ण के प्रफुल्लित पुष्प, भ्रमर, कोकिल, पपीहा, मयूर, वसंत, शरद, वर्षा के रमणीय दृश्य, स्वाभाविक रूप में ही उक्त कथा के अग थे, अत: उनका कथन कवियों

---

१. भू० स०, पृ० ५५

के लिए एक प्रकार से अनिवार्य हो गया था अन्यथा उन दृश्यों पर भावुकता-पूर्ण दृष्टि डाली गई प्रतीत नहीं होती; व्यापक दृष्टि तो है ही नहीं।

प्रकृति का उपयोग केवल वासनात्मक वृत्तियों को उत्तेजित करने भर के लिए ही हो पाया है जिसका निष्कर्ष यह निकलता है कि कवियों ने उसे अपने इन्द्रिय-सुखभोग का साधनमात्र स्वीकार किया है, उसे सप्राण मानकर उसकी विभिन्न क्रियात्मकता की ओर न तो दृष्टिपात किया है और न अपने जीवन को उसके साथ तल्लीन करने का प्रयत्न ही किया है। आचार्य शुक्ल के शब्दों में : "जो केवल प्रफुल्ल प्रसून प्रसार के सौरभ संचार, मकरन्द लोलुप मधुप गुंजार, कोकिल कूजित निकुञ्ज और शीतल सुखस्पर्श समीर की ही चर्चा किया करते हैं वे विषयी या भोगलिप्सु हैं।"[1] इसी प्रकार जो लोग, प्रकृति की विचित्रता पर ही दृष्टि रखते हैं वे "तमाशबीन" कहे जाने चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति के प्रति शृंगारकालीन कवियों की दृष्टि में यही वैचित्र्यता अथवा कलात्मकता पाई जाती है। अतः अवध के इन प्रस्तुत कवियों में हमें प्रकृति-चित्रण का वही रूप देखना होगा जैसा इस काल के कवियों ने किया है।

रूढ़िगत उपमानों तथा वृत्तियों को ग्रहण करके केवल उद्दीपन-रूप में चित्रित होनेवाले प्राकृतिक दृश्य, यद्यपि सहृदयता से हीन ही कहे जायेंगे तथापि कवि का हृदय निरन्तर एकरस नहीं रहता, उसकी अनुभूति का कोटिमान परिवर्तित होता रहता है। कहीं पर कवि, वासना के उद्गारों से अभिभूत होकर, प्रकृति को गौणता प्रदान करता हुआ, अपनी वृत्तियों को ही ऊपर रखता है, ऐसे स्थल निश्चय ही काव्य-गुण से हीन हो जाते हैं परन्तु जहां कहीं वह प्राकृतिक शोभा को ही प्रधान रखता हुआ अपनी वृत्ति की ओर संकेत भर कर देता है, वहां चित्रण में विशेष आकर्षण तथा सहृदयता की प्रतीति होती है।

अवध प्रान्त के कवियों में द्विजदेव जी इसी श्रेणी के कवि कहे जा सकते हैं। उनके वर्णनों में यद्यपि रूढ़िगत उपमानादि का प्रयोग है और प्रकृति के दृश्य उद्दीपन की दृष्टि से ही अंकित किये गये हैं तथापि वासना का प्रत्यक्ष निदर्शन उनमें नहीं है। वसन्तागम का मादक वातावरण अपनी सम्पूर्ण गुरुता को लेकर दिग्मण्डल में व्याप्त हो गया है, उसके माधुर्य के भार से सारी प्रकृति आभारी हो रही है। इस भार-गौरव से, गजगामिनी के समान, उस प्रकृति की गति में मन्दता आ गई है। वास्तव में सौन्दर्योन्माद का मार्मिक वर्णन द्विजदेवजी ने किया है :

---

१. चिन्तामणि, भाग १, पृ० २०४

"सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के ,
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूं न गौन ।
द्विजदेव त्योंही मधुभारन अपारन सों ,
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअदौन ।
खोलि इन नैनन निहारौ तौ निहारौ कहा ,
सुखमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन ।
चादनी के भारन देखात उनयो सो चन्द ,
गन्ध ही के भारन बहत मन्द मन्द पौन ।।"[१]

वेनी ने यद्यपि वचन-चातुरी के उदाहरण में कालिन्दी-तट की निर्जनता, सहेट-स्थल, का वर्णन किया है तथापि दृश्य-चित्रण की दृष्टि से भी निम्नलिखित वर्णन सफल है और उसे प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोरम उदाहरण स्वीकार किया जा सकता है :

"अचल कपोत पिक बोलत मधुर बानी ,
उठती तरंगैं तैसी निरमल नीर मैं ।
फूलि फूलि लता लपटानी वेनी तरुन तें ,
गलिन अंधारी भारी अलिन की भीर मैं ।
आस पास बिथुरे हैं भुयरे सुगंध तैसे ,
हीतल की हरैं ताप सीतल समीर मैं ।
कहत बनै न कछू देखत ही आवै बनि ,
कुंजन की सोभा जैसी कालिंदी के तीर मैं ।।"[२]

भूपति जी का निम्नलिखित ग्रीष्म-वर्णन विशेष रूप से स्वतन्त्र है तथा उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करने वाला है । "उत्ताप का रस सारे ससार में छा गया है"—यह कथन ध्वन्यात्मक हो सकता है फिर भी वर्णन बहुत कुछ मुक्त-प्रकृति का चित्र प्रस्तुत करता है :

"बन उपवन बन सब सुखैं रूरे ग्रीषम घाम ।
एकै रस सब छिति छयो तरनि तेज उद्दाम ।।"[३]

दुःखपूर्ण अनुभूतियां हमारे हृदय पर अपेक्षाकृत अधिक स्थायी प्रभाव डाल जाती हैं, आनन्दमय दृश्य उतने स्थायी नहीं होते; यही कारण है कि विरहात्मक

---

१. शृं० ल०, पृ० ३
२. र० वि०, पृ० २३ (ह० लि०)
३. भू० स०, पृ० ४०

चित्रण, संयोगात्मक दृश्यों से विशेष प्रभावशाली होते हैं। प्रकृति के सौंदर्य के साथ जहां पर ऐसे चित्रणों का सामञ्जस्य हो गया है वहां पर वे विशेष मार्मिक बन गये हैं, परन्तु ऐसे स्थलों पर शुद्ध प्राकृतिक-सौन्दर्य के दर्शन प्रायः नही होते, कला की ओर विशेष झुकाव इन चित्रणों को शुद्ध काव्य-स्तर से कुछ नीचा गिरा देता है, फिर भी सहृदयता और प्रकृति के प्रति आकर्षण तो ऐसे दृश्यों में व्यक्त ही होता है।

वर्षा के समारोहपूर्ण आगमन को दास जी ने कामदेव के प्रबल सैन्य के रूप में देखा है यद्यपि आलंकारिकता की ओर उनका ध्यान विशेष है तथापि दृश्य-चित्रण बहुत कुछ सजीव तथा स्वाभाविक है :

"धावैं धुरवारी मदवारी असवारी की है,
कारी कारी घटा ना मतंग मदधारी है।
न्यारी न्यारी दिशि चारी चपला चमतकारी,
बरनै अनारी ए कटारी तरवारी है।
केकी किलकारी 'दास' बुन्दन सरारी पौन,
दुंदुभी धुकारी तोर गरज डरारी है।
बिना गिरिधारी ह्वार भारी मिस मैन,
ब्रजनारी प्रानहारी देव दलनि उतारी है।।"[१]

भूपति जी ने भी ग्रीष्म को ऋतुराज के वियोग में जलते देख, वर्षा को उसके प्रति दयालु कर दिया है और जलवृष्टि के द्वारा उसे शीतल कराया है किन्तु उत्ताप और शीतलता की अनुभूति-व्यंजना निम्नलिखित दोहे में बहुत कुछ स्पष्ट है। विषमता (Contrast) प्रत्यक्ष लक्षित होती है :

"जनु बिछुरत ऋतुराज के, ग्रीषम जरत दवागि।
लियो बचाइ सिंचाइ जल, जनु पावस लग लागि।।"[२]

उक्त उद्धरणों पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि यद्यपि शृंगारकालीन अवध के कवियों के नेत्र, प्रकृति के प्रति बन्द नही थे, उन्होंने सहृदयतापूर्वक अपने आस पास के मनोरम प्राकृतिक दृश्यों पर दृष्टि ही नही डाली थी, वरन् उन पर मुग्ध भी हुए थे, परन्तु सामयिक परिस्थितियों के कारण, प्रकृति के मुक्त चित्रण की ओर उनकी प्रवृत्ति नही थी। यही कारण है कि रूढ़िवाद से प्रेरित कवि-समुदाय इन दृश्यों को केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही ग्रहण कर सका, फिर

१. का० नि०, पृ० ९५
२. भू० स०, पृ० ४०

भी इसमें सदेह नही कि इस पृष्ठभूमि के ऊपर मानव-चित्र विशेष सजीव हो उठे हैं।

यह तो प्रत्यक्ष ही है कि ऋतु-वर्णन सम्बन्धी प्राकृतिक दृश्यों की ही प्रधानता दृष्टिगत होती हैं और इनमे भी बसन्त और वर्षा का वर्णन कवियो ने अधिक किया है। सम्भवतः इसका कारण यही हो सकता है कि बसन्त का आगमन विशेष सुखद और मनोरम होता है और वर्षा की रमणीयता, हरीतिमा आदि अधिक स्थायी रहती हैं। अन्य ऋतुओ मे शरद मनोरम है परन्तु उसका सौन्दर्य विशेष स्थायी नहीं होता, साथ ही वर्षा का प्रभाव उस ऋतु में भी थोडा बहुत अपना अधिकार जमाये रहता है। शीत का वर्णन शृंगार के संबंध मे, उद्दीपन रूप मे हुआ है, परन्तु कम; शायद परम्परा ही इसका कारण हो। ग्रीष्म के दृश्य अधिक काव्योपयुक्त नही। अतः प्रकृति-सौन्दर्य का मुक्त-क्षेत्र शृगारी कवियों मे विशेष समादृत नही रहा, यह देखा जा सकता है।

कला पक्ष

हिन्दी साहित्य के शृगारकाल में कला का प्राधान्य था और अवध के कवियों मे भी उसका प्रचुर-प्रदर्शन हुआ है। एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि उनकी रचनाएं बहुत कुछ कला के ही दृष्टिकोण से हुई हैं। सौन्दर्य-साधन को दृष्टि में रखकर इन्होने चमत्कारपूर्ण कल्पनाएं की अथवा भाषा को अनेक प्रकार से अलकृत करने का प्रयत्न किया, जिसके कारण कलात्मकता का अतिरजित रूप सम्मुख आया। दूसरे, संस्कृत के साहित्य-शास्त्रियों का आदर्श ग्रहण करने के कारण, शृंगारकालीन ये हिन्दी के कवि, उन्ही के प्रदर्शित मार्ग पर चलने लगे, परिणाम यह हुआ कि लक्षण ग्रंथों के ही रूप मे इनका काव्य रचा गया। इस प्रकार काव्य तथा आचार्यत्व, दोनों क्षेत्रो में इन्होने कला का पूर्ण उपयोग किया। इन कवियों का कवि-रूप प्रधान है और आचार्यत्व बहुत कुछ गौण है।

"कला उस कौशल को कहते है जिसके द्वारा किसी प्राकृतिक पदार्थ को ऐसे मोहक रूप में ले आया जाय, जिससे उसे प्रत्यक्ष करने वाले सहृदय जनो के चित्त में चमत्कृति के साथ एक विशेष आनन्द का उद्रेक हो।"[1] अतः कलात्मकता का प्रधान उद्देश्य सौन्दर्य-साधना ही दिखलाई पडता है। यह साधना प्रधानतया कल्पना अथवा अलंकार की सहायता से सिद्ध की गई है। अलकार

से तात्पर्य दशांग-साहित्य से लिया जा सकता है, क्योंकि "संस्कृत के आचार्य सारे दशांग साहित्य को अलंकार कहकर ही मानते हैं" (मिश्रबंधु)। इस प्रकार रीति, वृत्ति, ध्वनि, आदि काव्यांग, अलकार के अन्तर्गत ही आ जाते है। मिश्रबंधुओं ने इसी अलकार का योरोपीय पर्यायवाची शब्द "कला" माना है और इसीलिए इस शृंगार-काल का नाम कला-काल भी स्वीकार किया है, इसी से इस काल की कला-प्रधानता स्पष्ट है। अस्तु।

कला मनुष्य की सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति है। भौतिक संसार से भिन्न एक अपूर्व संसार की रचना, मनुष्य अपने अन्तःप्रदेश में करता है। यह सृष्टि उसकी सौन्दर्यानुभूति के अनुकूल होती है और स्वाभाविक दृश्य-जगत के सौन्दर्य से उसका सौन्दर्य अपनी निज की विशेषता लिए हुए होता है अत. यह मनुष्य-कृत सृष्टि, केवल व्यक्तिगत ही नही है वरन् अस्वाभाविक, कृत्रिम, भी है। यों कह सकते है कि सौन्दर्यानुभूति की यह मनःस्थिति ही कला के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार व्यक्तिगत होने के कारण कला के आदर्श में भिन्नता हो सकती है। किसी की कला सौन्दर्यानुभूति को पराकाष्ठा तक पहुंचा देती है, किसी की कला मे वह उच्चता नही होती; किसी की कला आदर्शवाद को लेकर चलती है और किसी की कला यथार्थ-चित्रण को ही सब कुछ समझती है; किसी की कला केवल शृंगारमयी है और किसी की कला जीवन की विविध वृत्तियों का चित्रण करती है। तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की रुचि के अनुसार, कला का आदर्श बदलता रहता है।

परन्तु यदि कला व्यक्तिगत हो जाय तो उसका उद्देश्य ही नष्ट हो जाय। अत: कला सहानुभूति के चरम उद्देश्य को लेकर चलती है। यह सहानुभूति सारी मानवता को एकता के सूत्र मे बाधने का प्रयत्न करती है, चाहे वह किसी एक वृत्ति के सार्वभौम चित्रण द्वारा हो और चाहे अनेक वृत्तियों के। रतिभाव के व्यापक चित्रण के द्वारा कलाकार, मनुष्यमात्र के प्रेम-वियोग की भावना को स्पर्श करना चाहता है और इस प्रकार मानव-हृदय की एकता की अनुभूति को चरितार्थ करता हुआ वह दर्शक अथवा पाठक को कुछ समय के लिए आत्मविस्मृत कर देता है, यही कला की सार्थकता है। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए शृंगारकालीन प्रस्तुत कवियो को सफल कलाकार का स्थान दिया जा सकता है।

१. कल्पना :

कला-साधना की प्रधान सहकारिणी कल्पना है। कल्पना "वह शक्ति है जो अन्त.करण में ऐसी वस्तुओं के स्वरूप उपस्थित करती है जो उस समय

इन्द्रियों के सम्मुख उपस्थित नहीं होती।"[१] अंग्रेज विद्वान ले हण्ट का कथन है कि "कल्पना श्रेष्ठ कवियों का सर्वोत्कृष्ट गुण है।" प्राकृतिक वस्तुओं को सम्मुख देखकर, अनुकरण के आधार पर उनका सुन्दर चित्रण करने की कला श्रेष्ठ अवश्य है किन्तु यह अनुकरणात्मक काव्य, यथार्थ-चित्रण होने के कारण, स्थल-विशेष पर प्रभावित करने की शक्ति से हीन भी हो सकता है। कल्पना क्योंकि मानसिक-आदर्श पर स्थित है अतः उससे ऐसा भय नहीं है। वह निरन्तर सुन्दर है। इसका उपयोग करता हुआ "कवि विधि की नाईं चित्र विचित्र कल्पना सृष्टि बनाया करता है।" "पुराने कवियों के काव्य परमोत्कृष्ट होने के यही कारण हैं।... तत्कालीन कल्पना शक्ति की प्रबलता ने उनके काव्य को अत्यन्त पुष्ट किया।"[२] अतः यह स्पष्ट है कि कल्पना श्रेष्ठ-काव्य की जननी है।

दैनिक-जीवन के दृश्यों से लेकर अलौकिक चित्रों की अनेकरूपता तक इस कल्पना का क्षेत्र विस्तृत है, वास्तव में कल्पना को शुद्ध दृष्टि से अनुभूति ही कहा जाना चाहिए। गम्भीरतम तथा प्रभावशाली साम्यों की अनुभूति को उच्च कल्पना कहा जा सकता है। यह साम्य चाहे वस्तुओं की स्वाभाविक वृत्तियों के हो और चाहे उनके वाह्य रूपों के। इस प्रकार कल्पना का संबध भावुकता से साथ बहुत निकट का हो जाता है। परन्तु जहा पर यह कल्पना केवल खिलवाड के लिए विचित्र रूप-साम्य आदि खड़े करती है अथवा विलक्षण उपमाएं प्रस्तुत करती है, वहा उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। उक्त दोनों प्रकार की कल्पना के स्वरूप हमको अपने अवध के कवियो में सुलभ हैं। प्रथम में कल्पना के आधार पर भावानुभूति जागृत होती है और द्वितीय मे कल्पना प्रधानतः चमत्कार-वृत्ति को सचेत करके रह जाती है। इसे कल्पना न कह कर भावना (fancy) कहना विशेष उपयुक्त है। यह "भावना विनोदमूलक है। भावना में गुरुत्व का अभाव है। भावना के द्वारा जीवन के गम्भीर सत्यों का अनुसधान नही होता।"[३] अतः इस भावना में हलकापन विशेष होने के कारण, यह श्रेष्ठ काव्य के स्तर तक नही पहुंचती। अनेक अतिशयोक्तिपूर्ण ऊहात्मक चित्रण, अद्‌भुत सूझ, विचित्र वस्तुओ के सामंजस्य, आडम्बरपूर्ण रचनाएं भावना के अन्तर्गत ली जा सकती है और हमारे प्रस्तुत कवियों में इस श्रेणी के काव्य की कमी नही है।

---

१. हिन्दी शब्दसागर, पृ० ५०३

२. निबंधमालादर्श, चिपलूणकर, पृ० १९

३. समालोचना-तत्व, न० मो० सान्याल, पृ० १२।

रूप-चित्रण के अन्तर्गत नायक और नायिका दोनो के सौन्दर्य-चित्र कवियों के द्वारा निर्मित हुए हैं। नायक का चित्रण शृंगार-मूर्ति तथा शौर्यवान् सुपुरुष के रूप में प्रधानतया मिलता है; प्रधानता तो शृंगार की है ही। नायिका का सौन्दर्य विशेष विस्तार के साथ चित्रित किया गया है। कला का विशेष प्रदर्शन और कल्पना की उड़ान इन्हीं वर्णनों में उपलब्ध होती है। इसमें सन्देह नहीं कि ये वर्णन परम्परागत हैं और अधिकतर नखशिख के रूप मे प्राप्त होते है। इनमे प्रयुक्त उपमान रूढिगत ही हैं परन्तु स्थान स्थान पर कल्पना के द्वारा इन वर्णनों मे विशेष चमत्कार उत्पन्न किया गया है, जिससे कवियो की कला-कुशलता का परिचय मिलता है।

नायक का सौन्दर्य-वर्णन हमारे कवियों द्वारा इतने विस्तार से नही किया गया जितना नायिका का। वर्णन करने वाले प्रधानत: पुरुष थे और इस कारण उनका आकर्षण स्त्री-सौन्दर्य की ओर होना स्वाभाविक ही था। फिर भी शृंगार-लीला की सम्पूर्णता के लिए अर्थात् नायक नायिका के तुलनात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से अथवा विषय को सांगोपाग वर्णित करने के लिए नायक का सौन्दर्य सर्वथा उपेक्षित न हो सका और शृंगार-मूर्ति के रूप मे ही उसका वर्णन किया गया। भगवान् कृष्ण के भुवन-मोहन सौन्दर्य का आदर्श ग्रहण करके कवियों ने अपने नायक को उसी रूप मे चित्रित करना आरम्भ कर दिया। श्यामवर्ण, बनमाल, पीताम्बर, मुरली, मयूर-पंख तथा आभूषणो से अलंकृत, कवि का नायक, यमुना-पुलिन के निकुञ्जों में केलिक्रीड़ा करता हुआ, गोपियों के प्रेमवियोग का सूत्रधार बनकर प्रकट हुआ। कही गोपिकाओं के बीच वंशी बजाता हुआ, कही युगलछवि धारण किए हुए, राधिका रानी से सयुक्त, कही वरवेश मे वैवाहिक वस्त्राभूषण धारण किये हुए, कही गोपियो को वियोग की अग्नि मे झुलसाता हुआ, कही खण्डिता नायिका की वियोग-व्यथा को उत्तरोत्तर उद्दीप्त करता हुआ और कही सहेटस्थल का चिह्न शरीर पर धारण किए हुए, प्रियतमा को घोर निराशा के सागर में डुबोता हुआ, हमारे कवियों का "कन्हैया" नायक, प्रात:काल से संध्या तक और संध्या से प्रात.काल तक अपनी रंगीन दुनियाँ के रस-विलास में डूबा हुआ दृष्टिगत होता है। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहां उसका स्वरूप लोकरक्षक अथवा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध दिखलाई पड़ता हो। फिर भी जहां पर कृष्ण के इस स्वरूप के स्थानापन्न वे आश्रयदातागण हो गए हैं, जिनसे कवियों की जीविका चलती थी वहां पर थोड़ा बहुत उनके सौन्दर्य और शृंगार का वर्णन कर दिया गया है, परन्तु अधिकतर इनकी दानवीरता अथवा शूरता का ही वर्णन प्रधान दिखलाई देता है।

अधिकतर नायक का सौन्दर्य परम्परागत ही दृष्टिगत होता है। शृंगार-मूर्ति कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य तथा उनकी मुग्धकरी मुसकान पर प्रत्येक गोपी का आत्मसमर्पण, यही भाव, चित्रण मे अधिकांशतः पाये जाते हैं। इन चित्रणों में व्यक्तिगत अनुभूति के कारण, निज की नवीनता तो रहती ही है साथ ही नायक की विचित्र मुद्राओं के अंकन में सजीवता भी पर्याप्त मिलती है। बेनी कवि का यह वर्णन, परम्परागत होते हुए भी रूप-चित्रण की प्रभावोत्पादकता से युक्त है :

"शीस मोर मुकुट सुबैजयती माल गरे,
अंगदादि भूषन रहे हैं छवि छाइ कै।
पीत पट चटक लटक भरी चालु तैसी,
ऐसी ब्रजवधू को न मिलै तिन्है धाइकै।
श्याम तन सुन्दर सोहायो चारु चन्दन ते,
बेनी कवि कहै अनुराग सरसाइ कै।
मंद मुसकाइ मुखचंद दरसाइ हरि,
कौन को न लेत मन बाँसुरी बजाइ कै ॥५६॥"[१]

पीतपट से सुशोभित, हरि की लटक भरी चाल को कवि ने सफलतापूर्वक प्रदर्शित किया है तथा मंद मुसकान ने उसमे प्राण-प्रतिष्ठा की है। अंग संचालन की सक्रियता ने दृश्य को अभिनयात्मक भी बना दिया है।

बेनी प्रवीन जी ने सारी मोहिनी, मुख-माधुरी और बड़े बड़े लोचनों मे ही केन्द्रित कर दी है। तंत्र-मंत्र के समान यह माधुरी बलात् चित्त को चुराती है। इस "चलाकी के जोर" के आगे किसी का जोर नही चलता। नेत्रो की भंगिमा का सजीव चित्र खीचने मे कवि को पर्याप्त सफलता मिली है। कृष्ण की सारी क्रीडा-प्रियता नेत्रों की चंचलता में केन्द्रित हो उठी है।

"आनि कढो महि गैल भटू महि मंडल में अलबेलो न और है।
देखत रीझि रही सिगरी मुख माधुरी को जु कछू नही छोर है।
बेनी प्रवीन बड़े बडे लोचन बांकी चितौनि चलाकी को जोर है।
सांची कहै ब्रज की जुवती यह नन्द लड़ैतो बड़ो चित चोर है ॥२०३॥"[२]

वास्तव में इस जबरदस्ती के आगे ब्रज युवतियों का शिकायत करना स्वाभाविक ही है, परन्तु कठिनाई तो यह है कि यह 'जबरदस्ती' भी स्वाभाविक

---

१. टिकयित-राय-प्रकाश, (ह० नि०)
२. नवरस-तरंग, बेनी प्रवीन

है ! ब्रज-युवतियों की तो बात ही क्या है, स्वयं रति को अपने प्रिय मनोभव की प्रतीति होने लगती है। कृष्णनायक के भुवनमोहन सौन्दर्य को देखकर उसे वही आनन्द अनुभव होता है जो स्वयं मनसिज को देखकर होता और संयोग से आज तो नटराज कृष्ण ने मदन-मोहन रूप भी धारण किया है। मकराकृति कुण्डलों ने उन्हें प्रत्यक्ष मकरध्वज का स्वरूप प्रदान कर दिया है। पुष्पशर धारण करके उन्होंने पंचबाण के नाम को सार्थक कर दिया है। सौन्दर्य तो उनकी अपनी सम्पत्ति ही है। फिर वे रति को सुखदायक क्यो न हों और रमणी-समूह की विवेक बुद्धि क्यों न भ्रमित कर दें। वास्तव में दास जी ने अपने नायक को बड़ा ही अद्भुत और मनोरम स्वरूप प्रदान किया है :

"है रति को सुखदायक मोहन यों मकराकृति कुंडल साजै।
चित्रित फूलन को धनुबान लस्यो गुन भौंर की भ्राति को भ्राजै।
मुग्ध सुरूपनि मे गनो एक विवेक हनै तिय सैन समाजै।
दास जू आजु बने ब्रज मे ब्रजराज सदेह अदेह विराजै ॥१६॥"[1]

नायक का उपर्युक्त सौन्दर्यवर्णन आलम्बन रूप में ही है, यह तो स्पष्ट ही है। उद्दीपन के माध्यम से नायक का सौन्दर्य परोक्षतः वर्णित हुआ है जहां पर अप्रस्तुत-विधान को प्रत्यक्षतः ग्रहण किया गया है। ऐसे स्थलों पर किसी प्रसिद्ध उद्दीपन का मानवीकरण किया गया है और आलम्बन के समान ही उसके रूप-सौन्दर्य तथा व्यापक प्रभाव का वर्णन किया गया है। ऋतुराज वसन्त ने इसी प्रकार नायक का स्थान ग्रहण किया है। उसका प्रभुत्व, उसकी दानशीलता, उसकी अनेक पत्नियों के प्रति अनुकूलता और कामदेव का प्रधान सहायक होना, ऐसे गुण है जो उसके नायकत्व की उपयुक्तता प्रमाणित करते हैं। महाराज "द्विजदेव" ने अपने 'वसन्तराज' में राजाओं के समस्त लक्षण सन्निहित कर दिए हैं, इसमें सन्देह नहीं। उसके पधारने पर सम्पूर्ण प्रजा सुखी होगी, इस तथ्य मे किसको सन्देह हो सकता है ?

"सोंधे समीरन को सरदार मलिन्दन को मनसा फलदायक।
किंशुक जालन को कलपद्रुम मानिनी बालन हूं को मनायक।
कन्त अनन्त अनन्तकलीन को दीनन के मन को सुखदायक।
सांचो मनोभव राज को साज सु आवत आज इतै ऋतुनायक ॥७॥"[2]

शृंगार के अतिरिक्त और अथवा अन्य रसों मे नायक का रूप-वर्णन इतना

---

१. काव्यनिर्णय, दास, पृ० ९१
२. शृं० ल०, द्विजदेव

प्रमुख नहीं है। भावपक्ष में रसों के अन्तर्गत हमने कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें नायक के शौर्य, दानवीरता, दयावीरता तथा धर्मवीरता का परिचय मिलता है। कल्पना के आधार पर उक्त चित्रणों में स्वभाव का वर्णन ही प्रमुख रहता है, रूप-सौन्दर्य प्रधानता मे नहीं आता। महाराज टिकयितराय के नायकत्व का उदाहरण पर्याप्त होगा :

"गुन गन भीर हित गुरसरि नीर मनि,
मुकता अनेक धरे सोभा सदा सरसाय।
छिति पर छमाधर असरन सरन हैं,
वाहिनी को पति ऐसो दूसरो न दरसाय।
नई नई मौजैं वेला बेला पर देखियत,
बेनी कवि जगत में जीवन अपार पाय।
लाज के जहाज नैन बोलत सुधा से बैन,
सागर समान महाराज श्री टिकैतराय ॥११॥"[1]

नायिका के सौन्दर्य का वर्णन केवल व्यापक ही नही वरन् अनेकरूपता लिए हुए भी है। कवियो की सम्पूर्ण कलात्मकता नारी के अंगों का चित्रण करने मे व्यय हुई और आलम्वन-रूप में उसके नखशिख का सांगोपांग चित्रण कवियो के द्वारा किया गया। नायिका-भेद का व्यापक विस्तार इस तथ्य का साक्षी है कि नारी-सौन्दर्य के ऊपर कवियों की बहुत सूक्ष्म दृष्टि पड़ी थी। उनके एक-एक अग के विकास तथा सचालन का उन्होंने गहरा अध्ययन ही नहीं किया था वरन् परिस्थितियो के अनुसार उनका वर्गीकरण भी कर लिया था। जीवन के विभिन्न क्षेत्रो में नारी का मनोवैज्ञानिक निरीक्षण भी इन कवियों द्वारा सफलता के साथ हुआ था जिसके फलस्वरूप संयोगिनी तथा वियोगिनी नायिकाओं की मन:स्थिति का विस्तृत वर्णन किया गया। हावों के चित्रण द्वारा उसके सौंदर्य मे नाटकीयता का समावेश हुआ। सात्विक भावों ने उसके स्वाभाविक सौन्दर्य को अलंकृत किया। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत कवियों के लिए नारी-सौन्दर्य, प्रेम और कला का आदर्श था जिसके प्रति उनकी पूर्ण आस्था उनके काव्य से व्यक्त होती है। कल्पना-प्रसूत ऐसे ही नारी-सौन्दर्य के चित्रों पर एक दृष्टि हम यहाँ पर डालेंगे।

कुलवधू का बड़ा ही सरल तथा स्वाभाविक चित्र वेनी प्रवीन जी ने खींचा है :

---

१. टि० प्र०, (ह० लि०)

"पर दोष दुख जाके प्रीति रीति नाह पर,
श्रवन अलभ सदा बोलिबो निपट मंदु।
पति प्रेम नेम जैसे गहत बखील हेम,
गुरु जन सेवा सो प्रबीन बेनी मेवा कंदु।
परम पुनीत कुल रीति नीति हित चित,
करम नेवारन नदी को जल छल छंदु।
पग दीबो पौरि पन्नगन पै परत,
पर दीप पर भौन पर पीव चौथि को सो चदु।"[1]

मौलिक उपमानों की कल्पना द्वारा कवि ने स्वकीया के स्वभाव का बड़ा ही सजीव चित्रण किया है। पतिप्रेम को उसने सूम के धन के समान ग्रहण कर रक्खा है। गुरु-जन-सेवा ही उसके लिए मेवा-कद है, छल-छद कर्मनाशा नदी के जल के समान है जिसे कोई भी स्पर्श करना नही चाहता और मर्यादा और लज्जा ऐसी है कि द्वार की देहरी पर पैर रखना भी उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो वह सर्प पर पड़ गया हो। पर-पीव, पर-भौन की ओर वह वैसे ही नही देखती जैसे भाद्र की चतुर्थी को स्त्रिया चन्द्र की ओर नही देखती, क्योकि वह कलंक का कारण होता है। भारतीय आदर्श का बड़ा मर्यादित चित्र कवि ने उपस्थित किया है। किसी भी भारतीय सद्गृहस्थ को उक्त गुणो से युक्त पत्नी पर गर्व हो सकता है और सपत्नियो की उसके प्रति ईर्ष्या भी स्वाभाविक ही है। वरन् यों कहना भी उचित है कि यदि उसके सद्गुण सपत्नियो को विष तुल्य लगते है तो यह उसकी महत्ता का ही प्रमाण है। उसने अपने इन गुणों द्वारा पति के हृदय पर सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त करके सपत्नियों को पति-प्रेम से सम्पूर्णतः वंचित कर रक्खा है, फिर वे उसे 'हलाहल सोती' क्यों न कहें? दास जी ने तो इस कटुतापूर्ण उद्‌गार को भी नायिका के लिए उसकी सर्वगुण-सम्पन्नता का प्रमाणपत्र माना है। देखिए:

"प्रीतम प्रीति मई उनमानै परोसिनी जानै सुनीतिहि सों ठई।
लाज सनी है बड़ी निसनी बर नारिन मैं सिरताज गनी गई।
राधिका को ब्रज की जुवती कहैं याही सोहाग समूह दई दई।
सौती हलाहल सोती कहैं औ सखी कहै सुन्दरि सील सुधा मई॥"[2]

क्षीर-तरंग की प्रभा के समान आभामयी इस शुक्लाभिसारिका को देखिए

१. न० तं०, पृष्ठ ४
२. शृ० नि० (ह० लि०)

जिसके चारों ओर आनन्द छटा की ऐसी किरणें विकीर्ण हो रही हैं जिन्होंने उसके शरीर की छाया को भी छिपा दिया है। सम्पूर्ण भूमंडल को दुग्ध-धवल शोभा प्रदान करने वाली, कार्तिक की ज्योत्स्नामयी रजनी में क्षीरधि की तरंग सी उमड़ती हुई इस नायिका की कल्पना बड़ी ही अलौकिक है। क्षीर-सिन्धु से उत्पन्न कमला के अस्तित्व के समान उसकी स्थिति अलग लक्षित ही नही होती, केवल 'भ्रमर भीर' ही उस पद्मिनी का पीछा नही छोड़ती और इसी से उसकी उपस्थिति का पता कवि को चल जाता है।

"सिखनख फूलनि कैं भूषन विभूषित कै,
बाधि लीन्ही बलया विगत कीन्ही बजनी।
तापर संवारे सेत अम्बर को डम्बर, सिधारी
श्याम सन्निधि निहारी काहू न जनी।
छीर के तरग की प्रभा को गहि लीनी तिय,
कीन्ही छीर सिन्धु छिति कातिक की रजनी।
आनद छटा सों तन छांह हू छपाये जाति,
भौरन की भीर सग लाये जाति सजनी।"[१]

अप्रस्तुत-विधान की दृष्टि से, प्राची-बाला ने प्रातःकालीन आकाश के मिस जो अनेक वर्ण का वस्त्र धारण किया है उसकी कल्पना करके कवि ने कलात्मक सौन्दर्य-प्रियता का अच्छा परिचय दिया है। प्रभातकालीन अरुणिमा, स्वल्प अंधकार तथा यत्र-तत्र नक्षत्रों की जगमगाहट ऐसा आभास देती है मानों प्राची नायिका ने धूप-छांह की सितारों जड़ी साड़ी पहन रक्खी हो :

"अलप अरुन छवि अलपतम अलप नपत दुति जाल।
लियो विविध रंग नभ वसन जनु प्राची वर बाल ॥२७०॥"[२]

उक्त उदाहरण यद्यपि परंपरागत नारी-सौदर्य-चित्रण की ही पुनरावृत्ति करते हैं, तथापि यह स्पष्ट है कि कवियों की कल्पना इन छन्दों मे पुन: अपनी मौलिकता तथा उदारता का परिचय पर्याप्त मात्रा मे देती है। केवल प्रचलित उपमानों पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित नही थी। प्राय: वे नवीन तथा कलापूर्ण कल्पनाओं की उद्भावना करते थे जिनकी सहायता से श्रेष्ठ चित्रणो की सृष्टि होती थी। परम्परागत उपमानों का उपयोग तो प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है ही। एक उदाहरण पर्याप्त होगा :

---

१. का० नि०, पृष्ठ १३२
२. भूपति सतसई, पृष्ठ २२

"अमल कमल पग लटक मटक चोलु,
अंग अंग अनुपम रंग रंग के निचोल।
नाभि लोट रोम राजी राजित प्रवीन वेनी,
बहियां बिसाल कंठमाल कीन्ही ज्यों अमोल।
कुन्द कांति दन्त पांति अधर बंधूक भांति,
भूलत न एक पल मधुर मृदुल बोल।
लांबी लटैं लंक छीन कुच पीन नैन मीन,
मुख चन्द हास मन्द कोमल कपोल गोल॥"[1]

दृश्य चित्रण : नायक-नायिका के रूप-चित्रण के उपरान्त अब हम कल्पना-प्रसूत दृश्यों पर दृष्टिपात करेंगे। केलिक्रीड़ा, लीला-विलास से ओतप्रोत जीवन का चित्रण करते हुए कवि-वर्ग ने दैनिक जीवन मे घटित होने वाली प्रचुर घटनाओं की कल्पना की है। नायक-नायिकाओं के विविध क्रियाकलाप, प्रिय से सयोग अथवा वियोग की परिस्थिति में नाना प्रकार के व्यवहार, मिलन दशा मे अनेक प्रकार की सरस क्रीडाए, गृहकार्य, गो-दोहन, दधि-विक्रय, जल भरना, आदि न जाने कितनी परिस्थितिया हैं जिनके आश्रय से प्रेम-क्रीड़ा के दृश्य घटित होते रहते हैं। परकीय-प्रेम में इन घटनाओं की सरसता बढ़ जाती है क्योंकि उनमें वाक्चातुरी और क्रियाचातुरी के कारण दृश्य विशेष कलात्मक हो उठते है। हावों के द्वारा संयोग-पक्ष मे बड़े सुन्दर दृश्यों की सृष्टि होती है। नाना प्रकार की मनोरम भावभंगी, आकर्षक वेशभूषा इन दृश्यो को सजीव बना देती है। सचारी भाव भी अनेक स्थलों पर नाटकीय दृश्य उपस्थित करते हैं। वियोग-पक्ष में स्वप्नदर्शन, छायादर्शन, मान तथा वियोग की दशाओं द्वारा सुन्दर दृश्य चित्रित होते है। स्मृति जैसी दशा में कवि की कल्पना ने पर्याप्त ऊँची उड़ान भरी है। तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत कवियों के नायक-नायिकाओं की सम्पूर्ण विलासमयी सक्रियता, घटनात्मक रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

शृंगारेतर दृश्य भी बड़े आकर्षक रूप से यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। महाभारत अथवा रामायण के छोटे-छोटे प्रसंगों का चित्रण भी बड़ी तन्मयता किया गया है। शिव-गंगा सम्बन्धी प्रसंग भी चित्रित किए गए हैं तथा हास्य-पूर्ण चित्र भी उपलब्ध होते हैं। ये छोटी-छोटी घटनाएँ, जीवन के प्रांगण में कलात्मक सौन्दर्य धारण करके हमें मुग्ध करती हैं। प्रकृति और कहीं कहीं पर

---

१. न० त०, पृष्ठ ६६

उक्त दृश्यों का चित्रण अप्रस्तुत-विधान की सहायता से भी करता है और उनके द्वारा मानव-मन की व्यापकता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। प्रकृति के मनोरम दृश्यों पर मानवीय भावुकता का आरोप करके कवि अपने काव्य-क्षेत्र की व्यापक सीमा का आभास दे देता है। वास्तव में मुक्तक काव्य का यह अंश कला के अभिनयात्मक सौन्दर्य का उत्तम उदाहरण है।

गोपिकाओं के प्रति कृष्ण की ढिठाई पराकाष्ठा को पहुंच गई है। कभी घर मे घुस जाना, दीवार फलाग कर भाग खड़े होना, बन में जा छिपना और गोपिकाओ का यशोदा को उलाहना देना, कृष्ण की ढिठाइयों का वर्णन करते हुए, व्रजमडल छोड़कर चले जाने की धमकी देना इत्यादि घटनाओं का सच्चा चित्र बेनी प्रवीनजी ने प्रस्तुत किया है। गोपियां कठोर शब्दों में यशोमति से शिकायत करती है और साथ ही अपने प्रति किये गए अनाचार का वर्णन करती हैं। 'तोरिगो हार, मरोरिगो बाही' कथन से उनकी असहाय तथा दयनीय दशा का निर्देश होता है :

"पैठि पर्‌यो पत मांह फलगि गो, कौन कहो पकरै परछाही।
देखत ही हरि बेनी प्रवीन गयो भजि सो बन कुजन माही।
तू सुत की सुनिहै न जसोमति, हौ ब्रज मे बसिहौ अब नाही।
फोरिगो माठ, ढिंढोरि गो मन्दिर, तोरिगो हार मरोरि गो बाही ॥३६४॥"[1]

परन्तु सब गोपिया इतनी सहनशील नही है। रोज-रोज की यह "घाल समेटा" कहा तक सहे ? मार्ग मे कृष्ण ने जो उनमे से एक की चूनरी पकड़, उसे रोकने का प्रयत्न किया, तो उसने भी तुरत पलटकर उनका पटुका पकड़ लिया। कृष्ण को इस ढिठाई पर आश्चर्य हुआ और उन्होंने उसका हार झपटकर उसे भयभीत करने का प्रयत्न किया, परन्तु उधर से भी तुरंत प्रत्युत्तर मिला। गोपिका ने चट से बनमाला पर हाथ डाल दिया। अब तो इस लपट-झपट से काम नही चलता, यह देखकर कृष्ण ने डाट-फटकार का सहारा लिया, परन्तु उधर कौन दबने वाला था ? कृष्ण ने जो पूछा, तू किसकी बेटी है, तो उत्तर मिला तू किसका बेटा है ? तात्पर्य यह कि यदि तू मुझे अकिंचन समझता है तो मैं तुझे कुछ नही समझती !!

चूनरी का सिरा पकड़ने की मृदुल भावना का जाकर किस कठोरता मे अन्त हुआ ! ठीक ही है, नित्य के "घाल-समेटा" का यही परिणाम अपेक्षित ही था। सम्पूर्ण घटना का विकास कवि ने बड़े ही स्वाभाविक रूप मे किया है।

---

१. नवरस तरंग, पृ० ५२

अन्तिम चरण के उत्तर-प्रत्युत्तर में अमर्ष की भावना पूर्णतः लक्षित होती है :

"मेरी गही उन चूनरी मोहन, मैं हूं गह्यो उनको तब फेंटा।
मेरो गह्यो उन हार झपेटि कै, मैं हूं गही बनमाल झपेटा।
आज लौं बेनी प्रबीन सही जे भई सखियान में घाल समेटा।
मों सो कह्यो अरी कौन की बेटी है, मैं हूं कह्यो तू है कौन को बेटा ॥३६५॥"[१]

और इस छीन-झपट के बीच एक दूसरा दृश्य भी है। इस रूपगर्विता को देखिए जिसे अपनी सौन्दर्य-शक्ति पर पूरा विश्वास था। वह तो सम्पूर्ण शृंगार से सज कर अपनी कटाक्ष-कला का प्रयोग करके, कृष्ण पर ठगौरी डालने चली थी! दधि बेचने के बहाने वह अपनी शक्ति की परीक्षा भी करना चाहती थी। परन्तु कैसी निष्फलता! उसके अस्त्र तो मनमोहन की छवि के सम्मुख कुण्ठित हो गए!! वह तो स्वयं उसके सम्मुख मोह मुग्ध हो रही! "चितवन" का प्रयोग करने का अवसर ही न मिला, कटाक्ष-कुशल कृष्ण ने पहले ही उसे अपने नयन-शरों से घायल कर दिया। वह तो स्वयं ठगी सी, बिकी सी रह गई!! सहृदय कवि ने बड़ा ही नयनाभिराम दृश्य कल्पित किया है :

"जिहिं मोहिबे काज सिंगार सज्यो तिहिं देखत मोह में आय गई।
न चितौनि चलाय सकी उनहीं के चितौनि के घाय अघाय गई।
वृषभान लली की दसा सुनो दास जू, देत ठगौरी ठगाइ गई।
बरसाने गई दधि बेचन कों तहं आपु ही आपु बिकाय गई ॥"[२]

दधि के साथ स्वयं बिककर गोपिका ने अपनी पूर्ण-पराजय स्वीकार कर ली।

इस मोहनी शक्ति की साधिका वंशी की ध्वनि का प्रभाव थोड़ा नहीं है। चेतन जगत की तो बात ही क्या, जड़ पदार्थ भी उसके प्रभाव से प्रभावित हो जाते हैं। गौ, वत्स उसे सुनकर खाना-पीना भूल जाते हैं, गौवें तृण नहीं छूतीं, बछड़े दुग्धपान नहीं करते, परन्तु इतना ही नहीं, मुरली-माधुरी के मुग्धकर स्वर से प्रभावित हो कृष्ण-प्रिया श्यामांगिनी यमुना का जल भी जड़वत्-स्थिर हो जाता है, कुछ क्षणों के लिए उसकी गति भी अवरुद्ध हो जाती है!! कितनी मादक है उस स्वर-लहरी की मधुरिमा :

"गैया तनु छीवैं नहीं बछरा छुवैं न छीर।
सुनत बांसुरी थंमि रहो जमुना हू को नीर ॥१६४॥"[३]

---

१. न० त०, पृ० ५२
२. का० नि०, पृ० १२५
३. भू० स०, पृ० १४

आपने किसी बुझी हुई मशाल को अचानक प्रज्वलित हो उठते देखा होगा; कितनी प्रभा फैल उठती है अचानक चारों ओर ! दर्शकों के नेत्र एक बार ही चकाचौंध हो उठते हैं । सारा वातावरण उसकी रक्तिम आभा मे अरुण हो उठता है ! प्रकाश-पुञ्ज को घूघट की आड में छिपाए हुए मशाल सी इस नायिका की सौन्दर्य-प्रभा को विकीर्ण होते हुए, कवि-कल्पना के नेत्रों से देखिए । होली के वातावरण मे घूघट का आवरण हटाते ही सौन्दर्य-प्रभा छिटकती है, गुलाल की मूठ चलाते ही प्रकाश की अरुणिमा चारो ओर बिखर जाती है । तन्वंगी नायिका अवश्य ही मशाल सी लौंकती है । भूपति जी के शब्दों मे यह कल्पना सुखद है :

"घूघट टारि चलावती, तिय हरि ताकि गुलाल ।
बुझी रही मानो बरी, एकै बार मसाल ॥४७२॥"[१]

सौकुमार्य का एक दृश्य रसलीन के शब्दो की सहायता से और कल्पित कर लीजिए । लज्जावती मुग्धा नायिका प्रियतम की ओर से मुख फेरकर बैठ गई है । प्रयत्न करने पर भी वह प्रियोन्मुख नही होती । प्रियतम अपनी स्नेहसिक्त, रस-स्निग्ध दृष्टि द्वारा उसकी सौन्दर्य-सुधा का आस्वाद चाहता है, परन्तु सुकुमारी नायिका क्या इस कोमल दृष्टि का भार भी वहन कर सकेगी ? सम्भवतः नही; उस कोमल दृष्टि के कठोर आघात को बचाने के लिए ही तो वह मुंह फेरकर बैठी है । रसलीन जी साक्षी हैं :

"नवला मुरि बैठनि चितै, यह मन होत विचार ।
कोमल मुख सहि ना सकति, पिय चितवनि को भार ॥८९॥"[२]

कितनी सहृदय कल्पना है और साथ ही कितनी ऊंची ! अतिशयोक्ति होते हुए भी सीमा का उल्लघन नही है । सौकुमार्य की सहज स्वाभाविकता नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाती है । इस प्रकार के शृंगार-सम्बन्धी मनोरम चित्रो से अवध के कवियों का काव्य परिपूर्ण है ।

पौराणिक प्रसंगों मे रामायण सम्बन्धी चित्र अधिक मिलते है । समुद्र-लघन का एक दृश्य दासजी ने इस प्रकार चित्रित किया है :

"तेरे योग काम यह राम के सनेही, जामवन्त
कह्यो औधिहू को धौस दस ह्वै रह्यो ।
एती बात अधिक सुने ते हनुमंत, गिरि
सुन्दर ते कूदि कै सुबेल-पर ह्वै रह्यो ।

---

१. भूपति सतसई, पृ० ३८
२. रस प्रबोध, पृ० ८

"दास" अति गति की चपलता कहां लौं कहौ,
भालु कपि कटक अचम्भा जकि ज्वं रह्यौ।
एक छिन वार-पार लागी पारावार के,
गगन मध्य कंचन धनुष ऐसो वैं रह्यो ॥१३॥"[1]

जामवन्त-हनुमान-संवाद के द्वारा कवि ने तत्कालीन घटना का चमत्कारपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है। गति की चपलता इस आश्चर्यमयी घटना को चमत्कार प्रदान करती है। भालु-कपि का कटक, स्तम्भित होकर इस दृश्य को देख रहा है और "स्वर्ण-शैलाभ-देह" वाले हनुमान, आकाश-मार्ग से उड़ते हुए, एक धनुपाकार स्वर्ण-रेखा जो बना रहे है, उसने सारे चित्र को अपनी शुभ्र आभा से जगमगा दिया है। तुलसी ने यदि हनुमान के आकाश गमन को "प्रतच्छ परव्वत लीक" के समान लसित देखा था तो दास ने उस रेखा पर स्वर्णाभा चढ़ा दी।

दूसरा दृश्य कंस के भयातुर होने का है। कृष्ण के आने का समाचार सुनते ही उसकी सारी चतुराई भूल जाती है। द्वार पर कुवलयापीड़ जैसे प्रबल व्याल (हाथी) तथा वीर सेनापतियों के खड़े रहने पर भी, मारे भय के वह अन्तःपुर की ओर भागा जा रहा है और वहां भी डरता, कांपता किसी प्रकार, किसी कोने मे सिकुड़कर छिप जाना चाहता है :

"आयो सुनि कान्ह भूल्यो सकल हुंस्यार पन,
स्यार पन कंस को न कहत सिरातु है।
व्यालवर पूर औ चमूप द्वार ठाढ़े तऊ,
भभरि भगाय गए भीतर ही जातु है।
दास ऐसी डर डरी मति है तहांऊ ताकी,
भरभरी लागी मन थरथरी गातु है।
खर हूं के खरकत धकधकी धरकत भौन,
कौन सकुरत सरकतु जात है ॥३६॥"[2]

कवि ने किसी डरपोक व्यक्ति के क्रियाकलाप का सूक्ष्म वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है। "डरडरी, भरभरी, थरथरी, धकधकी" जैसे शब्दों के द्वारा वातावरण उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः पौराणिक कथा-प्रसंग के सजीव चित्रण, चमत्कार को ही प्रधानता देकर किए गए हैं और

---

१. का० नि०, पृ० १००
२. का० नि०, पृ० ३२

जिस प्रकार हम नाटक के अद्‌भुत दृश्य देखकर प्रभावित होते हैं उसी प्रकार इस काव्य मे अंकित कल्पना से भी प्रभावित होते हैं।

एक स्वाभाविक दृश्य बरसाती मार्ग का देख लीजिए। प्राचीन लखनऊ का फोटोग्राफ है। आजकल की परिस्थिति में यह कल्पना बहुत कुछ प्रत्यक्षतः दृष्टिगत हो सकती है :

"झीला के परत झीलैं गली गली भरैं और ऊपर पनारन के झरना झरत हैं।
हाथिन के हलके, तुरंग बड़े बल के, शुतुर, खर-खच्चर विलोकि विडरत हैं।
आगे भीर भारी पीछे पुलिस पुकारी, लोग तरकस कैसे तीर टारे ना टरत है।
सकटे सकट रथ अटके अनेक जहां लपटे दिवालन में रपटे परत हैं ॥२८॥"[1]

वास्तव मे कवि की कल्पना बड़ी ही सजीव है। एक 'झीला', साधारण बौछार पडते ही गलियो मे झीलें भर गई है; उन गलियों की क्या दशा होगी, अनुमान किया जा सकता है। सारे के सारे रास्ता चलने वाले, धर्म-संकट में से पड़े, विचार कर रहे हैं कि आगे बढ़ें या पीछे फिर जायं !! उधर पुलिस वाला भीड़ बढ़ते देख ललकार रहा है। लोग किसी प्रकार दीवार का सहारा लेकर आगे बढ़ते हैं, रपटे पड़ रहे हैं, बड़ी दुर्दशा है।

इस प्रकार के स्वाभाविक हास्यपूर्ण दृश्यों का चित्रण हमारे प्रस्तुत कवियों में अधिक उपलब्ध नही है।

आगे हम अप्रस्तुत-विधान की सहायता से कविवर द्विजदेव द्वारा चित्रित वसन्तागम के सुन्दर दृश्यो पर दृष्टिपात करके इस प्रसंग को समाप्त करेंगे।

परम प्रतापी महाराज वसन्त का आगमन सुनकर सम्पूर्ण वनस्थली आनन्द-मग्न है। लोकप्रिय शासक की छत्रछाया में प्रजा धन-धान्यपूर्ण है, सम्पूर्ण वृक्षराजि पुष्प-पल्लव से सम्पन्न है। सारी सम्पत्ति सुलभ है। ऐसी दशा में महाराज ऋतुराज के आगमन का संवाद पाकर यदि श्रद्धालु प्रजा उनका स्वागत करने का यथासाध्य प्रयत्न कर रही है तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? दर्शन के लिए उत्सुक प्रजावर्ग जिस प्रकार इधर-उधर डोलते हुए स्वागत-प्रबन्ध का निरीक्षण करते है उसी प्रकार 'फूले-फूले' वृक्ष आनन्दपूर्वक डोल रहे हैं। कुछ नत-मस्तक होकर मानों प्रणाम करते हैं। कुछ मकरन्द बिखराते हुए मानो आनंदाश्रु-वर्षण कर रहे हों और कुछ कर-'पल्लव' जोड़कर-मानो ऋतुराज को उनकी असीम प्रजावत्सलता के लिए आशीर्वाद दे रहे हो !! वास्तव में यह चित्र किसी महाराज की लेखनी द्वारा ही प्रसूत झलकता है :

---

१. बेनी, स्फुट काव्य (ह० लि०)

"डोलि रहे बिरवे तरु एकै सु एकै रहे हैं नवाइ कै सीसहिं।
'त्यों द्विजदेव' मरन्द के ब्याज सों एकै अनंद के आंसु बरीसहिं।
कौन कहे उपमा तिनकी जे लहैं सबै बिधि सम्पति दीसहिं।
तैंसई ह्वै अनुराग भरे कर पल्लव जोरि कै एकै असीसहिं ॥२६॥"[1]

इस प्रतीक्षा के बाद अब महाराज का प्रत्यक्ष आगमन भी देखिए : कन्याएँ आनन्द प्रकट करती हुई खीलों की वर्षा करती है, नर्तकियों ने स्थल-स्थल पर नृत्य का आयोजन किया है। चारण-वृन्द यशगान कर रहे हैं और ब्राह्मण तथा देवता दीर्घायु होने का आशीर्वाद देते हुए पुष्प-वर्षा कर रहे हैं।

"मिलि माधवी आदिक फूल के ब्याज विनोद लवा बरसायो करैं।
रचि नाच, लतागन तानि बितान सबै बिधि चित्त चुरायो करैं।
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो बसन्त सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं ॥२७॥"[2]

कुमारिकाओं के लिए माधवी लताओं का साम्य बड़ा ही उपयुक्त हुआ है और कवि ने अपने उपनाम का सार्थक प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया है। समासोक्ति की सहायता से कवि ने सम्पूर्ण राजवैभव का सजीव चित्र, प्राकृतिक उपमानों से उपस्थित किया है। इस प्रकार के प्रकृति-आधार पर किए गए सफल चित्रण, द्विजदेव जैसे सहृदय कवियों के काव्य में ही उपलब्ध है, अन्य कवियों ने प्रकृति-सम्बन्धी इतने मनोरम चित्रण नहीं किए है।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि कल्पना के आधार पर किए गए उक्त सम्पूर्ण, रूप अथवा दृश्य चित्र, अवध के कवियों की सौन्दर्योपासक-वृत्ति को व्यक्त करते हैं। सुकुमारता, नाटकीयता, उदारता और प्रकृति-प्रियता के ऊपर इन कवियों ने कल्पना का जो रंग चढ़ाया है, उससे प्रत्येक चित्र की रेखाओं में प्राणों का स्पन्दन उत्पन्न कर दिया है। ये चित्र, जीवन के प्रत्येक पक्ष के साथ हमारी रागात्मक-वृत्ति को संयोजित करते हैं। इनमें नैराश्य-रोदन नहीं है, असफल प्रेम द्वारा उत्पन्न, ससार के प्रति विरक्ति भी नहीं है। इनमें जीवन की स्फूर्ति तथा प्राणों का संगीत अपनी सम्पूर्ण मादकता के साथ विद्यमान है। वास्तव में ये चित्र विश्व की चित्रशाला के अमर आभरण हैं।

अलंकार : कल्पना के बाद हम अलंकार पर दृष्टिपात करेंगे। अलंकार कलात्मक सौन्दर्य-साधना का दूसरा उपकरण है। यदि "कल्पना मानसिक चित्रों

---

१. शृ० ल०, पृ० १२
२. शृ० ल०, पृ० १३

की परम्परा है"[1] तो "अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की शैली है, वर्णन व विषय नहीं",[2] अतः कल्पना और अलंकार मे अभ्यंतर और बाह्य का विभेद है वास्तव मे जिस प्रकार भाषा द्वारा भाव प्रकाशित होते है उसी प्रकार अलंका विभिन्न भाव-लहरियों को अनुरञ्जित करते है। कवि अपने वर्ण्य-विषय को केवल पाठकों के सम्मुख उपस्थित ही नही करना चाहता, वरन् एक आकर्षक तथा सुस्पष्ट रूप मे व्यक्त करना चाहता है। फलतः उसे अनेक ऐसे सुन्दर तथा लोकप्रिय पदार्थों की सहायता ग्रहण करनी पड़ती है जिनसे संतुलित करके वह अपने वर्ण्य को मूर्तिमान् कर सके। अतएव प्रत्येक काव्यकार के लिए इस प्रकार की तुलना-शैली आवश्यक हो जाती है। कुछ तो अपने कथन को सुस्पष्ट बनाने के लिए और कुछ उसे रमणीयता प्रदान करने के लिए, कवि अनेक ऐसे लोक-प्रचलित उपमान उपस्थित करता है जो पाठकों द्वारा सरलता-पूर्वक ग्राह्य होते है और इस प्रकार उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति मे सुगमता तो होती ही है साथ ही उसके वर्णनो में सुन्दरता का भी समावेश हो जाता है।

उन कलाकारों की बात हम अभी नही कह रहे है जो इस प्रकार के संतुलन को ही काव्य की रचना का उद्देश्य समझते है; उनके लिए तो अलंकरण साधन नहीं, वरन् साध्य है। अतः उसमें सौन्दर्य-साधना का प्रश्न ही नही उठता वहां तो केवल सौन्दर्य-साधना के निर्जीव उपकरण मात्र ही दृष्टिगत होते हैं। हम यहां पर केवल उन्ही कवियो की बात कह रहे है जो अपने सहृदयता-पूर्ण काव्य की सौन्दर्य वृद्धि के लिए उसमें यत्र-तत्र कुछ सुन्दर आभरण भी सुशोभित कर देते हैं। अथवा कम से कम इतना तो स्पष्ट देखा जा सकता है कि उन्होने अलकारों का उपयोग केवल उन्हे साधन मान करके ही किया है अर्थात् अलंकार-प्रयोग उनकी दृष्टि मे केवल सौन्दर्य-साधना का उपकरण मात्र है, अन्तिम लक्ष्य नहीं। ऐसे कवियों का काव्य, सम्पूर्ण साहित्य-धारा मे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकता है। इस काव्य मे स्वाभाविक रमणीयता दृष्टिगत होती है और इसी में अलंकार-प्रयोग सार्थक है।

हमारे प्रस्तुत दो सौ वर्षो के बीच सम्पूर्ण हिन्दी कवियों मे अलंकार की प्रवृत्ति ही प्रधान रही। इसी प्रवृत्ति को लक्ष्य करके मिश्रबंधुओं ने प्रस्तुत काल को अलंकृत-काल का नाम प्रदान किया था।[3] परम्परागत लक्षण-लक्ष्य ग्रंथ

---

१ समालोचना-तत्व, पृ० १२०
२. हिं० शब्दसागर, पृ०१६६
३. हिं० सा० का इति०, पृ १८७

निर्माण के मार्ग को ग्रहण करके, अनेक कवियों ने इस युग में केवल रीति का निर्वाह मात्र किया है। अवध के कवियों में भी सुखदेव, दास और बेनी भट्ट जैसे कवियों ने अलंकार-परम्परा का यथावत् पालन किया है। फिर भी कितने ही कवि, हृदय की मुक्त रसानुभूति से प्रेरित होकर, ऐसे सत्काव्य की रचना करते रहे जिसमें अलंकार अपने रमणीय तथा सौन्दर्यसाधक स्वरूप को ही लेकर विद्यमान हैं। अवध के कवियों मे भूपति, रसलीन, वेनीप्रवीन तथा द्विज-देव ऐसे सत्कवियों की श्रेणी मे परिगणित होते हैं जिन्होंने उपर्युक्त अलंकरण द्वारा अपने काव्य को रमणीय तथा आकर्षक बना दिया है। ऐसा तो नहीं कह सकते कि इन कवियों के काव्य मे अलंकार की शोभा नितान्त निष्प्रयास है, फिर भी इतना स्पष्ट है कि यह अलंकार बहुत कुछ रस-परिपाक का सहायक मात्र है; अत: स्वाभाविक तथा सौन्दर्यशाली है। जहां एक ओर उक्त कवियों का काव्यालकरण थोडा बहुत प्रयत्न-प्रसूत भी लगता है, वही दूसरी ओर गिरिधर, जगजीवन तथा कासिमशाह जैसे ग्राम्य-भाषा में काव्य-रचना करने वाले कवियों में अलंकरण का बहुत ही स्वाभाविक तथा सरल स्वरूप दृष्टिगत होता है।

दैनिक जीवन के वार्तालाप मे अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए हम भांति-भांति के उपमानों का आश्रय ग्रहण करते है। किसी का "पत्थर जैसा हृदय" "देवताओं जैसा स्वभाव" "शरीर मानो पर्वत" आदि साम्यों के द्वारा हम अपनी अनुभूतियों को प्रकट करने का प्रयत्न करते हैं। इन तुलनाओं में वक्ता को विशेष प्रयत्न नही करना पड़ता। किसी पूर्व-परिचित तथा बहुविश्रुत वस्तु से अपने वर्ण्य विषय को संतुलित करके वह अपने भावाभिव्यंजन के कार्य को बहुत कुछ सुगम बना लेता है। अनेक स्थलो पर अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए वक्ता अपनी वर्ण्य-वस्तु का ऐसी वस्तु से संतुलन करता है जो समानता के स्थान पर पूर्णतया विषमता ही प्रकाशित करती है और इस प्रकार दो वस्तुओं के बीच सीमान्त विरोध दिखलाकर वह अपनी वर्ण्य वस्तु की महत्ता अथवा लघुता प्रमाणित कर देता है। अत: समता अथवा विषमता प्रदर्शित करने का एकमात्र उद्देश्य अपनी अनुभूतियों को तीव्रतम रूप में व्यक्त कर देना ही है। उद्देश्य दोनो का एक ही है, चाहे समता का प्रदर्शन हो अथवा विषमता का, कवि अपने वर्ण्य, उपमेय, का ही स्पष्ट अकन करना चाहता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्ण्यविषय के स्वरूप, गुण अथवा कर्म का स्पष्ट अंकन करने के लिए उपमा ही प्रमुख अलंकार है जो सर्व-स्वाभाविक रूप मे उद्देश्य की पूर्ति करता है। उपमेय के स्वभाव का यथातथ्य चित्रण करने के लिये स्वभावोक्ति नामक शैली इतनी सरल तथा अकृत्रिम है कि उसे भी आचार्यों ने मूल अलंकारों मे स्थान

दिया है। आचार्य देव ने इस प्रकार इन दोनों अलंकारों की स्थिति, सम्पूर्ण अलंकार मात्र में कही है :

"अलकार में मुख्य है, उपमा और सुभाव।
सकल अलकारिनि विषय परसत प्रकट प्रभाव ॥"[१]

उपमा की व्यापकता को व्यक्त करते हुए कविवर वेनीभट्ट ने कहा है :

"उपमा व्यापक सबन में कीन्हे बुद्धि विवेक।
ल्यावत स्वांग अनेक है ज्यों नट कामिनि एक ॥ २ ॥"[२]

इस प्रकार स्वभावोक्ति, उपमा और उससे निकटतम सम्बन्ध रखनेवाले अलकार साधारण वार्तालाप मे निरतर प्रयुक्त होते तथा स्वाभाविक समता द्वारा भावाभिव्यक्ति करते हैं, यही अलंकारो का उद्देश्य है।

इस प्रकार के अलंकार-प्रयोग के कुछ उदाहरण यहाँ पर उपयुक्त होंगे।

१. सागर की विशाल, प्रबल लहरों को देखकर कवि की कल्पना प्रलयकालीन उथल-पुथल तक पहुँच जाती है। जिस प्रकार असीम जलप्लावन, प्रलयकाल में स्वर्ग से पाताल तक, सम्पूर्ण ब्रह्मांड एक कर देता है, उसी प्रकार ये लहरें मानों आगामी प्रलय का आभास दे रही हों। साधारण सरल रूप से उपमा का प्रयोग करके कवि ने दृश्य का सजीव चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया है :

"उठै लहर ज्यों परलै आवै, सरग पताल एक लै लावै।"[३]

२. ऊंची-ऊंची लहरों को देखकर ऐसा अनुमान होने लगता है कि ये चारो ओर से स्वर्ग को इस पृथ्वी के साथ सयुक्त करने के लिये संयोजक का कार्य कर रही हों। उनके हलकोरे ऐसा अनुमान देते है मानों बार बार स्वर्ग से समोजन का प्रयत्न हो रहा हो। क्रिया-प्रदर्शन के लिये उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया गया है :

"उठै लाग जब हलर हिलोरा, जानू स्वर्ग जोट चहुँ ओरा।"[४]

३. शुक्ति मे मोती का वही महत्व है जो शरीर में प्राण का है। मोती से हीन शुक्ति का कोई अस्तित्व पृथ्वी पर नही रह जाता, यह सभी जानते है। इस साधारण तथ्य को लेकर कवि ने उत्प्रेक्षा की है कि प्रिय के दर्शन के उपरान्त वियोग व्यथा भोगते हुए प्रेमी का शरीर ऐसा कान्तिहीन हो रहा है मानों मोती निकल जाने पर शुक्ति श्रीहीन हो गई हो :

१. शब्द-रसायन, नवम प्रकाश (ह० लि०)
२. टिकयितराय-प्रकाश (ह० लि०)
३. हंस जवा०, पृ० १६७
४. हंस जवा०, पृ० १६७

जेहि दिखाय गई वह जोती, ले गई प्रान काढ़ जनु मोती ।।"[१]

४. एक दूसरे से मिलती-जुलती और आनन्द में मग्न होती हुई सहेलियां ऐसी लगती हैं मानों अनेक सुन्दर लताएं एक दूसरे के निकट स्थित होकर नव-पल्लवों से लहलहा उठी हों । वर्ण्य-संबंधी प्रथम वाक्य की तुलना धर्मी अवर्ण्य वाक्य के साथ करते हुए कवि ने प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण प्रस्तुत किया है, फिर भी वह प्रयत्न-प्रसूत नहीं लगता :

"हुलसि मिली सब सखी सहेली, पलुहि उठी सूखी जो बेली ।"[२]

५. किसी तथ्य का कथन करने के उपरान्त यदि उसको 'उदाहरण' द्वारा पुष्ट कर दिया जाता है तो कथन में प्रामाणिकता आ जाती है । जनसाधारण की मनस्तुष्टि भी इस प्रकार के कथन से शीघ्र होती है । अतः अपनी बात का स्थायी प्रभाव डालने के लिए इस प्रकार की उदाहरण-शैली बहुत उपयुक्त प्रमाणित हुई है । गिरिधर जी ने इस प्रकार इसका प्रयोग किया है :

"गुण के गाहक सहस नर, बिनु गुण लहै न कोय ।
जैसे कागा कोकिला, शब्द सुनै सब कोय ।
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन ।
दोउन को यक रंग, काग सब भये अपावन ।"[३]

६. सिद्धान्त रूप से किसी बात का कथन करने के उपरान्त उसका पोषण यदि किसी घटना विशेष द्वारा कर दिया जाय तो पाठक अथवा श्रोता उसे शीघ्र ग्रहण कर लेते हैं । वार्तालाप के रूप में नीति-कथन के लिए इस शैली का उपयोग सर्वसिद्ध है । गिरिधर जी ने अपने उपदेशात्मक काव्य में पौराणिकता का आधार लेकर, अनेक स्थलों पर मार्मिक कथन किए हैं जिन्हें अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से 'अर्थान्तरन्यास" अलंकार के अन्तर्गत लिया जा सकता है, यद्यपि साधारण वार्तालाप की दृष्टि से इसमें पर्याप्त स्वाभाविकता विद्यमान रहती है :

"साईं अवसर के परे को न सहै दुख द्वंद ।
जाय बिकाने डोम घर वै राजा हरिचन्द ।"[४]

७. किसी वस्तु के रूप-गुण, अथवा किसी दृश्य को देखकर जब कवि उसका अपनी इच्छानुसार अर्थ आरोपित करना चाहता है तब उक्त रूप, गुण अथवा दृश्य

---

१. हंस जवा०, पृ० १०४
२. वही, पृ० १७१
३. गि० कु०, पृष्ठ १५, (२७)
४. गि० कु०, पृ० २७, (४८)

का पूर्णत: निषेध करके अपना अभिलषित अर्थ स्थापित कर देता है। प्रत्यक्ष की समानता एक चमत्कारपूर्ण परोक्ष से की जाती है और वर्ण्य का निषेध ही विशेष लक्षण होता है। साधारण वार्तालाप मे भी इस "अपन्हुति" अलंकार का प्रचुर प्रयोग होता है। किसी का असीम बल देखकर हम कहते हैं "यह आदमी नही दानव है" इत्यादि। इसी प्रकार गिरिधर जी कहते हैं :

"नवल नारि रोवै नही, कहै पुकारि पुकारि।
जस पिय तुम हम सन करी, वैसं करव प्रचारि ॥२॥"[१]

वधू के रोदन का अर्थ कवि यों लगाता है कि वह रोती नही है वरन् पुकार-पुकार इस बात की घोषणा करती है कि हे प्रिय, जैसा तुमने मेरे साथ किया है अर्थात् मुझे अपने माता-पिता से छुडाया है, वैसा ही व्यवहार मैं तुम्हारे साथ करूँगी, अर्थात् तुम्हें तुम्हारे माता-पिता के साथ नहीं रहने दूँगी। घर में फूट डालकर तुम्हें उनसे अलग करवा दूँगी। रुदन का निषेध करके उसके स्थान पर इस प्रकार का नीतिपूर्ण अर्थ स्थापित करना विशेष रूप से चमत्कार पूर्ण है। फिर भी यह बहु-प्रचलित वार्तालाप शैली के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इस प्रकार की सहृदयता-पूर्ण शैली अत्यन्त स्वाभाविक है।

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि अलंकार, साधारण वार्तालाप अथवा भाव-प्रदर्शन में सौन्दर्य-स्थापना करने के साथ-साथ स्वाभाविक रूप मे, स्वत: प्रयुक्त हो जाते है। कविता में तो इनकी स्थिति एक प्रकार से अनिवार्य कही जा सकती है। "हिन्दी में आजकल जो कवि इन अलकारो का विरोधी है वह भी यदि देखेगा तो उसे जान पडेगा कि आधुनिक रहस्यवादी अथवा छायावादी कवियों की रचनाओ में भी आपसे आप अलंकारों की छाप बैठती रहती है। सर्वथा अलंकारहीन कविता बना सकना कठिन काम है।"[२] यहा तक कि जहा पर प्रत्यक्षत: कोई अलंकार नही होता वहां स्वभावोक्ति तो मिल ही जाती है। मनुष्य अथवा किसी अन्य प्राणी के स्वभाव, गुण, क्रिया आदि का मनोहर वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है। आत्मनिवेदन के निम्न-लिखित शब्दों मे कवि का हृद्गत, स्वाभाविक, भक्तिभाव अत्यन्त स्पष्ट रूप में व्यक्त हुआ है :

"आरति करौं सुनौ मेरे प्यारे, तुम गुनाह के मेटनहारे ॥टेक॥
बुद्धिहीन कछु गति नहिं जानौं, कृपा करहु तव नाम बखानो ॥१॥

---

१. गि० कु०, पृ० २३
२. भारती-भूषण (भूमिका) पं० कृ० वि० मिश्र, पृ० ४

....

जगजीवन के बस कछु नाही, दाया चरन बसहिं मन माहीं ॥४॥[1]
इस स्थल पर भक्त का व्यक्तित्व उसके हार्दिक उद्गारों द्वारा ही प्रत्यक्ष हो रहा है। उसका उपर्युक्त आत्मार्पण ही उसके स्वभाव को चित्रित कर रहा है और पाठक के मन को द्रवित करने वाला है। अतः उसका यह कथन, स्वभावोक्ति के अन्तर्गत आता है।

साहित्यशास्त्र से मुक्त वातावरण में काव्य-रचना करने वाले हमारे कवियों के काव्य में उक्त स्वाभाविक अलंकरण प्रधानतया पाया जाता है। गिरिधर कविराय, कासिमशाह, जगजीवन जैसे कवियों ने उक्त अलंकरण के लिए प्रयत्न नहीं किया। वे स्वाभाविक रूप से उनके काव्य में आ विराजे हैं। इसी से वे विशेष रूप से आकर्षक लगते हैं। परन्तु हमारे कवियों का प्रमुख क्षेत्र साहित्यशास्त्र की भूमि पर ही पड़ता है चाहे वे लक्षण-ग्रंथ-निर्माता हों अथवा स्फुट-काव्य-रचयिता, अतः इस साहित्यिक दृष्टि से इन कवियों की अलंकार-प्रियता पर हम एक बार दृष्टिपात करेंगे।

स्वभावोक्ति और उपमा आचार्यों द्वारा मौलिक अलंकार स्वीकृत किए गए हैं, यह हमने पहले कहा है। अतः सर्वप्रथम इन्हीं दो अलंकारों को देखेंगे। जहां हम एक ओर देख चुके हैं कि भक्त कवि के हार्दिक उद्गार ही स्वभावोक्ति के रूप में अपनी सारी सरलता तथा अकिंचनता लेकर उपस्थित हुए, वहीं दूसरी ओर शास्त्रीयता के मार्ग पर चलनेवाला कवि, केवल नायिका के रूप, गुण तथा स्वभाव-वर्णन में ही स्वभावोक्ति की स्थिति समझता है। वह कहता है :

"डोलनि मन्द मनोहर बोलनि चारु चितोनि में लाज है भारी।
रोस न नेकु कहूं 'कविराज' कहै पिय के चित की हितकारी।
सील की रासि सुधाई भरी अरु आपु सुधाधर रूप सुधारी।
धन्य धनी धरनीतल में जिनके घर ऐसी पतिव्रत नारी ॥७॥"[2]

इसमें सन्देह नहीं कि स्वकीया पतिव्रता का सरल स्वाभाविक चित्रण करने में कवि को पर्याप्त सफलता मिली है, तथापि स्वभावोक्ति जैसे व्यापक अलंकार का केवल संकीर्ण क्षेत्र में सीमित रह जाना, तत्कालीन प्रवृत्तियों का परिचायक है।

---

१. बानी, भाग १, पृ० ३६
२. सुखदेव मिश्र, फा० प्र०, पृ० ३८

जहा तक लक्षण-ग्रंथों के निर्माण का सम्बन्ध है, अलंकार-सौन्दर्य पर विचार करना विशेष उपयुक्त नहीं होगा, क्योंकि उन में तो कवि का उद्देश्य येन-केन-प्रकारेण अलकार का उदाहरण प्रस्तुत कर देना ही होता है। अतः अलकार-सौष्ठव की परीक्षा उन्ही कवियो के काव्य को दृष्टि में रखकर की जा सकती है जिन्होंने लक्षण-ग्रंथ न निर्माण करते हुए भी अपनी कविता को अलंकृत करने का प्रयास किया है। यद्यपि ये आलंकार प्रयत्न-प्रसूत हैं तथापि कला की दृष्टि से यह प्रयत्न-प्रसूतता भी गुण है, दोष नहीं। आलंकारिकता की सीमा का अतिक्रमण न हो, इस बात का ध्यान तो रहना ही चाहिए। फिर भी अतिशयोक्ति जैसे अलंकारो मे सीमातिक्रमण ही आलंकारिकता है, इसलिए ऐसे अलंकारों में सीमोल्लंघन के साथ-साथ सहृदयता तथा भावुकता पर ही दृष्टि रहनी चाहिए। यदि कवि अतिशयोक्ति की सहायता से रस-संचार कर सकता है तो अतिशयोक्ति का उद्देश्य सफल है। मुक्त रूप से अलंकार-सौंदर्य की सृष्टि करने वाले कवियों से कुछ उदाहरण हम यहां प्रस्तुत करेंगे :

नायिका की वेशभूषा, उसकी लाल घांघरी, श्वेत ओढ़नी तथा उसका कदम्ब की डालों का आश्रय लेकर खड़ा होना, अन्तः तथा वाह्य से रसपूर्ण होना उसे हरसिंगार के फूल से संतुलित करते हैं। सम्पूर्ण रूप से देखते हुए हरसिंगार के फूल की सुन्दरता तथा सुकुमारता से नायिका की तुलना कवि की गहरी सहृदयता का परिचय देती है। द्विजदेव जी की विप्रलब्धा सुकुमारी इसी रूप में प्रिय की प्रतीक्षा कर रही है :

"घांघरी राती सोहाती लखे, शिर सारी सजे सुधा शोभ समूली।
प्रेम पियूष पगी उंमगी, "द्विजदेव" कदंब की डारन झूली।
भौंर की भीर भुलाइ रही, जउ आय मरंदन के रस भूली।
हारसिंगार की बीथिन मे सो तो हारसिंगार के फूल सी फूली ॥१५०॥"[1]

हरसिंगार के वृक्षों से परिवेष्ठित वन-वीथियों के मध्य में हरसिंगार के पुष्प के समान प्रफुल्लिता नायिका का चित्रण, पूर्णोपमा का एक सुन्दर उदाहरण है। नायिका उपमेय है, हरसिंगार का पुष्प उपमान है, प्रफुल्लता समान धर्म है तथा "सी" शब्द वाचक है। उपनागरिका वृत्ति के अन्तर्गत आने वाले प, फ, भ, र, ल आदि कोमल अक्षरो की आवृति है। सम्पूर्ण छन्द में कोमलावृत्ति का प्राधान्य है। अनुप्रास का सफल प्रयोग है। अलंकार का यह उपयोग प्रशंसनीय है।

---

१. शृं० ल०, पृ० ८७

पद्मिनी कृष्णाभिसारिका का यह चित्र देखिए :

"चली प्रानप्यारी प्रानप्यारे पै प्रवीन बेनी,
नखसिख असित सिंगारन समेटी है।
रयनि अंधेरी स्याम सारी चहुं फेरी तापै,
घेरी घनी अलिन अतर कैसी फेटी है।
देह की दिपति न छिपति छिपे जात गात,
विपति विचारे बनचारिन को भेटी है।
दव कैसी धधरि धधकि धाई कुञ्जन में,
मानो धूम कुञ्जन मे लपट लपेटी है ॥१६६॥"[1]

सांगोपांग श्याम वर्ण की वेशभूषा से सुसज्जित, साड़ी के अनेक पर्तों में आवृत नायिका की स्वाभाविक पद्मगंध ने भ्रमरावली को भी आकर्षित कर लिया है। उसका आवरण इस भ्रमर-भीर ने और भी गहरा कर दिया है, परन्तु उसकी विद्युच्छटा सी अंगदीप्ति इतनी प्रखर है कि इन अनेक आवरणों के भीतर से भी निरंतर प्रकाशित होती रहती है। वनान्तर के वनचारियों को दावाग्नि का भ्रम होता है, वे भावी विपत्ति की आशंका से भयभीत हो उठते है। नायिका कुंजभवन में प्रवेश कर रही है। कवि की उत्प्रेक्षा है कि दावाग्नि की लौ के समान प्रकाश से युक्त यह नायिका ऐसी लगती है मानो धूम-समूह के बीच से अग्नि की ज्वाला प्रस्फुटित हो रही है। उक्त उत्प्रेक्षा यद्यपि अतिशयोक्तिपूर्ण है तथापि रूप-चित्रण में इस अतिशयोक्ति से पर्याप्त सहायता मिलती है। अनुप्रास का प्रयोग श्रुतिमधुर है। अन्तिम चरण मे 'ध' कार के प्रयोग द्वारा चित्रण में सफलता मिली है।

नायिका पंचशर-प्रहार से पीड़ित है। उसे ऐसा अनुमान होता है कि कामदेव शंकर के धोखे से उसके ऊपर आक्रमण कर रहा है। अपनी वेशभूषा में भी उसे शंकर जी की वेशभूषा से कुछ साम्य प्रतीत होता है अतः वह अपने वास्तविक स्वरूप का वर्णन करके कामदेव का भ्रम-निवारण करते हुए, उसके द्वारा रक्षा की प्रार्थना करती है :

"ना जटाजूट है बेनी प्रवीन जू कंठ में है न हलाहल रोंको।
या मृगनाभि की रेख न इन्दु है, कुन्द के फूल बतावत तोंको।
भूति न छाल गए परि अंग ही कंत वियोग ते सूतिनि चोंको।
मैं अबला क्यों महेस के धोखे, मनोज महाबल मारत मोंको ॥३२७॥"[2]

---

१. न० त०, पृ० २६
२. न० त० पृष्ठ ४७

इस प्रकार भ्रम-निवारण करके, वास्तविक दशा का ज्ञापन भ्रान्त्यापन्हुति अलंकार कहलाता है। उक्त छंद का भाव प्राचीन है। संस्कृत के एक श्लोक के आधार पर इसकी रचना हुई है।[1] परवर्ती कविवर पद्माकर ने भी इसी भाव को ग्रहण करके एक सुन्दर उक्ति प्रस्तुत की है किन्तु परम्परागत अलंकार-उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए जो बार-बार इसका ग्रहण किया गया है वही इसकी श्रेष्ठता का पर्याप्त प्रमाण है।

एक वस्तु को अनेक रूपों मे देखना उल्लेख कहलाता है। दर्शक एक व्यक्ति हो सकता है अथवा अनेक। विभिन्न क्षेत्रों में अपने उपयुक्त व्यवहार के कारण नायिका के प्रति विभिन्न धारणाएं बन गई हैं। प्रियतम उसे केवल प्रेममयी पत्नी के रूप में देखता है, पड़ोसिन उसे श्रेष्ठ व्यवहार से युक्त मानती है। वयस्काएं उसे लज्जावती मानती हैं और श्रेष्ठ स्त्रियां उसे अपनी शिरोमणि मानती हैं। व्रज-युवतिया उस नायिका, राधा, को सर्व-सौभाग्यवती मानती हैं और सपत्नियां द्वेष के कारण उसे हलाहल की सोती (स्रोत) ही कहती हैं। सखियों के लिए वह सुन्दरी तथा शील-संयुक्ता है। वास्तव में भारतीय नारीत्व की श्रेष्ठ मर्यादापूर्ण कल्पना कवि ने उपस्थित की है। उल्लेख का स्पष्ट रूप प्रस्तुत है। 'र' और 'स' का अनुप्रास, भाषा को अत्यन्त मधुर बना रहा है :

"प्रीतम प्रीति मई उनमानैं परोसिनि जानैं सुनीतिन सों ठई।
लाज सनी है बड़ीनि भनी बरनारिन में सिरताज गनी गई।
राधिका को ब्रज की जुवती कहैं याही सोहाग समूह दई दई।
सौती हलाहल सोती कहैं औ सखी कहै सुंदरि सील सुधा मई॥"[2]

रसमयी नायिका के नीलवर्ण, शैवाल-रूप केश, पृष्ठदेश पर लहरा रहे हैं। शुभ्र शरीर पर उनकी शोभा ऐसी ही प्रतिफलित होती है जिस प्रकार स्रोतस्विनी की धारा मे सुकुमार सिवार-समूह। परन्तु 'भूपति' जी की अंतर्व्यापिनी दृष्टि इस बाह्य-दर्शन से ही संतुष्ट नही होती। वे तो नायिका की हार्दिक वृत्तियों की व्यंजना, इस श्याम वर्ण के चिकुर-जाल में देखते हैं। कवि को ऐसा

---

१. जटा नेयं वेणी कृतकच कलापो न गरलं।
गलेकस्तूरीयं शिरसि शशिरेखा न कुसुमम्।
विभूतिर्नागेवं प्रिय विरहजन्मा धवलिमा।
पुरारातिभ्रान्त्या कुसुमशर मां किं प्रहरसि॥"
—साहित्य समालोचक, भाग ४, पृष्ठ १२८

२. भृं० नि०, 'दास' (ह० लि०)

भास होता है कि या तो इस केश-नीलिमा के बहाने भगवान् कृष्ण का उज्ज्वल-श्याम वर्ण ही नायिका के गौर अंगों को परिवेष्ठित किये हुए है अथवा स्वयं रसराज शृंगार ही (जिसका वर्ण नील है) इस रसज्ञा नायिका के अंगों से लिप्त है। वास्तव में कवि की सूझ दूर की तथा सहृदयतापूर्ण है। सन्देह अलंकार का निम्नलिखित दोहा उत्तम उदाहरण है; यह निश्चय नहीं होता कि प्रस्तुत वस्तु 'यह है अथवा यह है'। श्याम वर्ण चिकुरजाल को देखकर यह निश्चय नहीं हो पाता है कि यह 'व्रजराज-रंग' है या स्वयं 'रसराज', जो नायिका के अंगों को घेरे हुए है :

"नीले जरबीले छुटे केस सेवार समाज।
कै लपट्यो वृजराज रंग कै लपट्यो रसराज॥"[1]

शृंगार का वर्ण आचार्यों ने श्याम माना है और इसके देवता विष्णु हैं।[2]

उक्त उद्धरणों द्वारा यह तथ्य बहुत कुछ स्पष्ट है कि अलंकरण की प्रवृत्ति हमारे आलोच्य कवियों के काव्य में बद्धमूल होकर विद्यमान थी। लक्षण-उदाहरण काव्य के अतिरिक्त भी निरंतर आलंकारिता का समावेश होता रहता था और यह समावेश, अपेक्षाकृत स्वाभाविक तथा सहृदय विशेष होता था। सत्कवि अपने पूर्वरचित छन्दों को जहां पर उदाहरण रूप में रख देते थे, वहां उदाहरण-काव्य भी उच्चश्रेणी का उपलब्ध होता था यद्यपि ऐसे स्थल अधिक नहीं मिलते। दास जी की रूपगर्विता नायिका भ्रांत्यापन्हुति के उदाहरण में इस प्रकार कहती है :

"आनन है अरविन्द न फूले, अलीगन भूले कहा मड़रात हौ।
कीर कहा तुम्हैं बाई लगी भ्रम बिम्ब के ओठन को ललचात हौ।
दास जू ब्याली न बेनी बनाव है पापी कलापी कहा इतरात हौ।
बोलती बाल न बाजती बीन कहा सिगरे मिलि घेरत जात हौ॥२८॥"[3]

साधारणतया कवि उदाहरण की स्पष्टता की ओर विशेष ध्यान देते हैं और इस कारण *भावुकता का कोई मूल्य उनके सम्मुख नहीं रह जाता।* अनेक स्थलों पर केवल चमत्कार-प्रवृत्ति अथवा पाण्डित्य-प्रदर्शन इतना प्रधान हो जाता है कि काव्यगुण की कोई गिनती ही नहीं रह जाती। ऐसे स्थल प्रायः शब्दालंकार में विशेष मिलते हैं। श्लेष का एक उदाहरण देखिए :

---

१. भू० स०, दो० ५३०

२. अस्य दैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः (रसतरंगिणी, भानुमिश्र कृत, तरंग ६, पृ० १२८)

३. काव्यनिर्णय, पृ० ८४

"भैरों की दुहाई सुघराई में सरस देखे,
भाई तुम्हें ललित सुहाई गहे मौन हो।
गुनाकर आछे गाइयत परबीन मांझ,
ककुभं न यश जैं जैवन्त सब औन हो।
सारंग बिलोचनी मराल गौनी चाहो गौन,
ताके विजै कविराज यहां काय कौन हो।
गौरी संग करि कलियान कान्हरा के उत,
गूजरी के भोरे भोर आये मेरे भौन हो ॥३५॥"[1]

स्पष्ट है कि उक्त छन्द मे भैरों, सुघरई, ललित, सूहा, गुनकली, जयजयवन्ती, सांरग, गौरी, कल्यान, कान्हड़ा, गूजरी आदि रागों को लेकर उनका द्वयर्थक प्रयोग किया गया है। उक्त उदाहरण श्लेष अलंकार के लक्षण के अनुरूप ही दिया गया है :

"एक शब्द के अर्थ बहु, लिये धर्म जहं होय।
शब्द अर्थ अश्लेष सो द्वैविधि भाषत लोय ॥३४॥"[2]

परन्तु रस-काव्य के रचयिताओं ने भी इस प्रकार के श्लेष का प्रयोग कहीं-कही पर कर उठाया है। ऐसा काव्य केवल चमत्कारवादी है। उक्त छन्द में कवि की संगीत-ज्ञान-प्रदर्शन-भावना बहुत कुछ परिलक्षित होती है। आगे उदाहृत छन्द भी इसी प्रकार के व्यापक ज्ञान-प्रदर्शन का उदाहरण है, यद्यपि उसकी रचना लक्षण-उदाहरण के रूप मे नही मिलती है। सामयिक कबूतरबाजी की प्रवृत्ति को स्पष्ट करने वाला यह मुद्रा अलंकार का एक अच्छा उदाहरण है :

लोटन लोटत गूलीबंद तीरा रेखता की,
नखतंग घाघरा न सुतरी बनाई है।
षपमति सुमुखी जरद कासनी है सुख,
चीनी स्याम लीला माह काबिली जनाई है।
पायमोज पटछुटी चोटीदार जोगिया की,
मिलै चोवा चदन सो संदली सोहाई है।
तामरा बदन क्यों करति मोतीचूर आखें,
गुरख सुपेद ह्या सिराइ जी में आई है ॥१०६॥"[3]

---

१. फा० प्र०, सुखदेव मिश्र, पृ० ८५
२. फा० प्र०, पृ० ८४
३. न० त०, बेनी प्रवीन, पृ० १७

लोटन, गुलीबंद, तीरा, रेखता, नखतंग, घाघरा, सुतरी, चपमति, सुमुखी, जरद, कासनी, चीनी, स्याम, लीलामाह, काविली, पायमोट, पटछुटी, चोटीदार, जोगिया, सदली, तामरा, मोतीचूर इत्यादि कबूतरों के भेद हैं। छन्द का शृंगार-रसात्मक अर्थ इतना अस्पष्ट हो जाता है कि उसे खोज निकालना जैसे पहेली बूझना है।

संक्षेप में यह कह सकते है कि हमारे आलोच्य कवियों में अलंकार-वृत्ति, शास्त्रीयता की दृष्टि से इतनी नही आई है जितनी कलात्मकता अथवा सौन्दर्य-साधना की दृष्टि से। अलंकारों का प्रयोग यद्यपि पग-पग पर मिलता है तथापि अधिकाश मे वह कल्पनात्मक तथा सहृदयतापूर्ण है। अलकृत-काल होने के कारण कुछ स्थलों पर सीमातिक्रमण अथवा कलाबाजी भी दृष्टिगत होती है परन्तु इस युग के हमारे कवियों की वही प्रमुख-प्रवृत्ति नहीं कही जा सकती। रसात्मकता, कला तथा सौन्दर्य के सुन्दर समन्वय से प्रस्तुत कवियों की आलंकारिकता परिपूर्ण है जिसके कारण काव्य के श्रेष्ठ उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

काव्य-भाषा

अवध प्रान्त के शृंगारकालीन कवियो की काव्य-भाषा प्रधानतया ब्रजभाषा ही रही है। इसके पूर्व, अवधी भी साहित्य-रचना के लिये प्रयुक्त थी और जायसी, तुलसी की अमर कृतियां उसमे रची गईं; तथापि ब्रजभाषा ने साहित्य क्षेत्र में अपना एकछत्र साम्राज्य स्थापित कर रखा था। शौरसेनी प्राकृत के आधार पर विकसित तथा अन्य अपभ्रंश भाषाओं में प्रधान, नागर अपभ्रंश से ब्रजभाषा की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। शौरसेनी प्राकृत का क्षेत्र, शूरसेन देश (मथुरा, ब्रजमण्डल) था और नागर अपभ्रंश, गुजरात तथा राज-पूताना प्रदेश में प्रचलित थी। यह शौरसेनी प्राकृत का पश्चिमी रूप था। १२वीं शताब्दी विक्रमीय में हेमचन्द्र अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि हुए। उनके काव्य में ब्रजभाषा-शब्दों के मूलरूप दिखाई पड़ते हैं :

(१) "जेह आसावरि देहा दिन्हउ। सुस्थिर डाहर रज्जा लिन्हउ॥"

(२) "एकला आइबो, एकला जाइबो हाथ पग दे झाड़ी॥" [1]

उक्त उद्धरणों में दीन्ह्यो, लीन्ह्यो, आइबो, जाइबो आदि ब्रजभाषा के यथा-रूप शब्द विद्यमान हैं। पृथ्वीराज रासो में भाषा का निश्चित रूप प्राप्त होता है किन्तु उसमें भी ब्रजभाषा के शब्दों का प्रयोग स्पष्ट है, "ओप निसि कन्दर

---

१. बुद्धचरित, भूमिका, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २ : ३

दिन्नो" तथा "दिन्न द्वादस ससि लिन्नो" मे "दिन्नो" तथा "लिन्नो" क्रमशः "दीन्ह्यौ" तथा "लीन्ह्यो" के प्राकृताभास रूप हैं। इस प्रकार व्रजभाषा की प्राचीनता तथा काव्यभाषा में उसके दीर्घकालीन प्रयोग के विषय में कोई सन्देह नही रह जाता। काव्यभाषा के रूप में अत्यधिक प्रभावशाली होने का एक कारण व्रजभाषा की यह प्राचीनता भी है।

गुजरात प्रदेश विद्वानों और कवियों का केन्द्र था। उन्होंने अपनी भाषा, नागर अपभ्रंश मे काव्य रचना की, और इस प्रकार व्रजभाषा के लिये पूर्व-पीठिका प्रस्तुत हुई। उक्त प्रदेश में इस भाषा को पर्याप्त राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। अतः इसकी क्रमशः उन्नति होती गई। एक ओर जहां इसकी लोकप्रियता बढ़ी, वही दूसरी ओर इसमें परिमार्जन होता चला और इसका स्वरूप स्थिर होने लगा। फिर भी इसकी व्यापकता का सम्यक् आरम्भ श्री वल्लभाचार्य के समय में हुआ।

वल्लभाचार्य जी ने जब से गोवर्धन पर्वत-स्थित श्रीनाथ जी के मन्दिर में सूर को कीर्तन का कार्य सौंपा तभी से व्रजभाषा ने एक नवीन मार्ग ग्रहण किया। यह घटना १६ शताब्दी विक्रमीय के उत्तरार्द्ध की कही जा सकती है क्योंकि वल्लभाचार्य का देहान्त सं० १५८७ वि० में हो गया था।[१] आगे चलकर तो धार्मिक, राजनैतिक और साहित्यिक कारणों से यह सारे उत्तर भारत की काव्यभाषा बन गई और अब तक अपने गौरव को अक्षुण्ण बनाये हुये है। धार्मिक दृष्टि से कृष्ण-भक्ति के आधार पर इसका प्रसार सारे उत्तर-भारत में व्यापक रूप से हुआ। आगरे को अपनी राजधानी बनाने वाले मुगल सम्राट् इस भाषा के माधुर्य से बहुत अधिक प्रभावित हुए और उनके आश्रय में अनेक कवियों ने व्रजभाषा में काव्य-रचना की। मुगल सम्राटों में अकबर ने ही नहीं वरन् औरंगजेब ने भी इस भाषा मे रचना की है जिसका एक उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है।

> "चरण धर धर मेरे गृह लालन भय आये आये मेरे।
> तनके दुख सब दूर गये सुख आये नेरे मेरे।
> मृदग बजावहु मंगल गावहु भागन ही पाये,
> कर रही प्रथम ही जतन बहुतेरे।
> 'साह औरंगजेब' प्रीतम अब मैं धन जनम कर मानत,
> जब आंखन भर हेरे।"[२]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, भा० १, डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ७३
२. हिन्दी (ना० प्र० सभा), वर्ष २, संख्या ५

प्रयोग-बाहुल्य के कारण ब्रजभाषा का रूप इतना निखर आया कि वह काव्य-रचना के लिये अत्यन्त अधिक उपयुक्त सिद्ध हुई और ब्रजेतर प्रान्त के निवासियों ने भी उसे अपनाया, यही कारण है कि अवध के निवासियों ने भी उसे पूर्णतः ग्रहण किया, यद्यपि अवधी जैसी प्रौढ़ तथा शक्तिशालिनी भाषा उनके प्रान्त में ही विद्यमान थी। उनके द्वारा ब्रजभाषा का ग्रहण अवधी के प्रति उपेक्षा का परिचायक नही है, वरन् ब्रजभाषा सारे हिन्दी-भाषी प्रान्त मे काव्य-भाषा के रूप में स्वीकृत हो चुकी थी और अवध के कवि भी उसे काव्य-रचना के लिये अपना कर केवल परम्परा-पालन की प्रवृत्ति का परिचय देते रहे।

काव्यभाषा के रूप मे स्वीकृत ब्रजभाषा के भी दो रूप साहित्य में दृष्टिगत होते हैं। एक तो पूर्वी, जिसमे बुन्देली शब्दों का समावेश हो गया है और दूसरा पश्चिमी, जिसमे ब्रजप्रान्त के शुद्ध तथा देशगत शब्दों का प्रयोग मिलता है। अवध प्रान्त मे ब्रजभाषा का पश्चिमी स्वरूप ही व्यवहृत हुआ। बुन्देली भाषा के सीधे सम्पर्क मे न आने के कारण इस प्रान्त में ब्रजभाषा उसके शब्दों से मुक्त रही। कहीं-कहीं पर एकाध शब्द मिल जाना दूसरी बात है। उसे हम व्यक्तिगत प्रवृत्ति कह सकते हैं। सुखदेव जी ने "छुओ" के लिए "छियो" बुन्देली प्रयोग इस प्रकार किया है :

"मोहि छियो न हहा हरि ऐसें ही, मेरियो देह कहूं रंगि जैहै।"[1]

स्वभावतः ब्रजभाषा का एक नवीन रूप, अवधी के मिश्रण से उत्पन्न हो गया। बोलचाल के कितने ही अवधी शब्दों से ब्रजभाषा परिपूर्ण हो गई। शाह औरंगजेब जैसे अवधेतर प्रान्त के निवासियों ने भी ब्रजभाषा काव्य में इन शब्दों का प्रयोग आरम्भ कर दिया। उद्धृत गीत में "सुरत आये नेरे मेरे" में "नेरे" अवधी प्रयोग है। पूर्वी अवधी मे इसके स्थान पर "नियरे" प्रयोग होना चाहिए। "नेरे" शब्द 'निकट' के अर्थ में लखनऊ, सीतापुर, लखीमपुर आदि पश्चिमी जिलो में प्रयुक्त होता है।

अवधी-मिश्रण के उदाहरण प्रस्तुत करने के साथ-साथ हम यह विचार करने का भी प्रयत्न करेंगे कि किन कारणों से उक्त मिश्रण घटित हुए। अवधी का क्षेत्र विशेष व्यापक नहीं था और न उसका विशेष संस्कार ही हो पाया था फिर भी उसके शब्द, काव्य में व्यवहृत हुए, इसका क्या कारण था ?

सर्वप्रथम तो हमारी दृष्टि इसी तथ्य की ओर जाती है कि अवध प्रान्त के निवासी कवियों की मातृभाषा अवधी थी अतः अपनी भाषा का यत्र-तत्र

---

१. रसार्णव, छन्द २०

मिश्रण काव्य-भाषा मे कर देना उनके लिए स्वाभाविक ही था। इस प्रान्त के निवासी सुखदेव मिश्र, जगजीवन, भूपति, दास, बेनी जैसे सभी कवियो की काव्यभाषा व्रजभाषा होते हुए भी अवधी से प्रभावित थी। हम कह चुके हैं कि अवधेतर प्रान्त के निवासियो ने भी अवधी शब्दों को अपनी काव्यभाषा में ग्रहण किया था, इसके कारणो पर भी हम दृष्टिपात कर लें।

आचार्य शुक्ल का कथन है कि "भाषा की दृष्टि से उर्दू की तरह हिन्दी मे भी दो टाट हो गए, एक विशुद्ध भाषा का व्रज-स्कूल, दूसरा मिली-जुली भाषा का अवध-स्कूल।"[१] इस "अवध-स्कूल" के अनुयायियों ने अवधी शब्दो का प्रयोग कई कारणो से अपनाया था।

पहला कारण तो यह दिया जा सकता है कि व्रजभाषा तथा अवधी के अनेक शब्दों तथा कारक चिह्नो मे इतनी समानता अथवा इतना कम अन्तर है कि बहुत थोडे परिवर्तन से उनका प्रयोग काव्यभाषा में किया जा सका। इन प्रयोगो के कारण कवियो को छद-सगठन मे सुविधा हुई और उनकी शब्दावली भी कुछ व्यापक हो गई। दो एक उदाहरण इस तथ्य को स्पष्ट कर देंगे।

"तूरति फूलन फूल सो, मूंदे दृग छपि छैल"[२]

"तूरति" क्रिया (अपूर्ण वर्तमान) का व्रजभाषा रूप "तोरति" होना चाहिए, परन्तु केवल ऊकारान्त और ओकारान्त के अन्तर की उपेक्षा करके कवि ने व्रजभाषा रूप के स्थान पर अवधी रूप का प्रयोग किया है।

"तिन कर धोवै पाप जन्म बहु जन्म धर्म के"[३]

"धोवै" सम्भाव्य भविष्यत् क्रिया का व्रजभाषा रूप "धोवहि" होना चाहिए, परन्तु "हि" के लोप तथा उसके स्थान पर "व" के ऐकारान्त हो जाने से उसका रूप "धोवै" हो गया है जिसका प्रयोग व्रजभाषा तथा अवधी में समान रूप से प्रचलित है।

"कण्ट कटीलिका बागनि में बओ"[४]

"बओ" (आज्ञा प्रयोग) के स्थान पर व्रजभाषा में "बवौ" होना चाहिए, परन्तु उच्चारण-सम्बन्धी अन्तर की नगण्यता के कारण अवधी रूप "बओ" प्रयुक्त हुआ है।

---

१. बुद्ध-चरित, भूमिका, पृ०१९
२. भूपति-सतसई, दोहा ३६
३. अध्यात्म-प्रकाश, सुखदेव
४. काव्य-निर्णय, दास, पृ० १४७

"फूलो सरोज कली होइ जात है"[1]

"होइ" (सामान्य वर्तमान) का व्रजभाषा रूप "ह्वै" है, परन्तु कवि के छन्द-संगठन के अभिप्राय से अवधी रूप "होइ" प्रयोग किया है, अन्यथा एक मात्रा कम पड़ जाती।

"चिवुक गरत मैं गिरत ही फिरि निकरत न सम्हारि।"[2]

पुन: के अर्थ में व्रजभाषा "फेरि" के स्थान पर अवधी "फिरि" का प्रयोग किया गया है।

"कितै रहे रमि अलि कितै बेलभि रहे घनश्याम"[3]

विलमना, विलम्बना, व्रजभाषा मे 'विरमना' रूप में प्रयुक्त होता है, कहीं-कहीं विलमना रूप भी मिलता है 'बेलंमाना' 'बेलंभि' रहना अवधी प्रयोग है।

दीन, कीन, लीन जैसी सामान्य भूत क्रियाओं का प्रयोग, बहुलता के साथ मिलता है यद्यपि इनके व्रजभाषा रूप दीन्हो, लीन्हो का प्रयोग भी स्वतन्त्रता के साथ हुआ है।

"मदन मनौ बहु भांति सों ललित सिखापन दीन।"[4]

"लै नवीन तिय बीन कर हीन मदन सर कीन।"[5]

"औचक ही मोतन चितै दीठ खींच जब लीन।"[6]

'घट का कारण मृत्तिका' में सुखदेव जी ने व्रजभाषा सम्बन्ध-कारक चिह्न 'को' के स्थान पर अवधी 'का' प्रयोग किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि रूपसाम्य तथा प्रयोग-सुविधा के कारण, काव्यभाषा में अवधी शब्दों का मिश्रण हुआ।

भाषा-मिश्रण का दूसरा कारण आलंकारिकता है। शब्दालंकार की सहायता से भाषा में सौंदर्य तथा चमत्कार उत्पन्न करने के प्रयत्न में कवियों ने सुविधानुसार अवधी शब्दों का उपयोग कर लिया है। व्रजभाषा शब्दों के स्थानापन्न कर देने से उक्त चमत्कार लुप्त हो जाता, अत: अनायास ही ऐसे स्थलों पर अवधी शब्द प्रयुक्त हो गये हैं।

---

१. का० नि०, पृ० १५५
२. भू० स०, दो० ६१
३. रस-साराश, दास, (ह० लि०)
४. भू० स०, दोहा १०९
५. ,, ,, ४०
६. अंगदर्पण, ,, ४७

"बड़े बड़े दाना लगे हैं जेहि सुमिरन माहि।
भली भली तोहि बीच मो गाँठि राखिवो नाहि॥"[१]

उक्त उद्धरण में 'दाना' शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ मनका अथवा गुरिया है। अवधी में दाना (एकवचन) का बहुवचन 'दाना' ही होता है और व्रजभाषा में 'दाने' हो जाता है। सम्पूर्ण दोहे की रचना व्रजभाषा में करते हुए भी, दास जी व्रजभाषा रूप 'दाने' का प्रयोग नहीं कर सके, क्योंकि जिस श्लेष-चमत्कार पर उनकी दृष्टि थी, वह 'दाने' के प्रयोग से नष्ट हो जाता। फारसी शब्द 'दाना' का अर्थ 'बुद्धिमान्' है। साधारण बोलचाल में यह शब्द प्रचलित है अतः दास जी श्लेष द्वारा यही दूसरा अर्थ व्यंजित करना चाहते हैं। 'सुमिरन में दाना लगे हैं' वाक्यांश के दो अर्थ हैं, माला में गुरिया पिरोई हुई हैं तथा स्मरण करने में बुद्धिमान् लोग तल्लीन हैं। इन दोनों अर्थों को स्पष्ट व्यंजित करने के लिए ही यहां पर अवधी बहुवचन 'दाना' का प्रयोग किया गया है।

"बाल लता लखि लीन हरि बाल लता लखि लीन।"[२]

बाला की शरीर-लता, लता-कुञ्ज में लीन हो रही है परन्तु हरि ने उसे देख लिया। उक्त उद्धरण में 'लीन' शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है और दोनों के भिन्न अर्थ है : लिया तथा तल्लीन। 'लिया' के अर्थ में व्रजभाषा 'लीन्ह्यो' अथवा 'लियो' होता, अतः यह स्पष्ट है कि कवि की यमकप्रियता ने ही उसे काव्यभाषा में अवधी शब्द प्रयुक्त करने को बाध्य किया है।

भाषा को विशेष संगठित तथा व्यंजनात्मक बनाने के लिए हमारे कवियों ने यथासुलभ मुहावरों तथा कहावतों का प्रयोग किया है। भाषा की लाक्षणिकता का चमत्कार बहुत कुछ इन प्रयोगों पर निर्भर रहता है। ये मुहावरे आदि लोक-प्रचलित भाषा से ग्रहण किये गये हैं और अवधी निकटतम भाषा थी जो काव्यभाषा की सहायक हो सकती थी अतः अवधी के मुहावरे तथा कहावतें प्रायः ग्रहण किए गये हैं। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :

१. गजेन्द्र-मोक्ष के अवसर पर श्री हरि की क्षिप्रता का चित्रण करने के लिए कवि कहता है :

"हाथा हाथो हरपि उबारयो हरि हाथी को।"[३]

---

१. रससाराश, दास, छ० २०७
२. भू० स०, दो० ३८
३. स्फुट कवित्त, बेनी

'हाथा हाथी', प्रयोग उक्त शीघ्रता को व्यक्त करने का सफल प्रयास है।

२. दयाराम के आमों की प्रशंसा करता हुआ कवि कहता है :

"पकुसाने परे घाम के" तथा

"बकला बनाये मनो घाम के"[१]

'पकुसाना' क्रिया का प्रयोग अवध में उन फलों के लिए किया जाता है जो धूप में गिर कर पीले हो जाते हैं और पके होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार अत्यन्त चिमड़े छिलके की तुलना चर्म से की जाती है। दोनों प्रयोग प्रचलित हैं।

३. भगवान शंकर की बरात देखकर कवि प्रश्न करता है :

"कौन के दुवारे यह आफति उतारोगे।"[२]

आफत उतारना, विपत्ति ला डालने के अर्थ में, अवध में प्रयुक्त होता है।

४. संसार की अनित्यता और निस्सारता के प्रति निर्देश करते हुए कवि बेनी कहते हैं कि मनुष्य अपनी सारी सम्पत्ति छोड़कर ऐसे चल देता है जैसे बेगार में पकड़ा हुआ मनुष्य गठरी छोड़ कर भाग खड़ा होता है :

"ऐसे छोडि चले जैसे बकुचा बेगारि के।"[३]

५. बढ़ई लकड़ी चीरने के पूर्व, काले या लाल रंग में डोरा भिगोकर उसे दाग लेता है और तब उसी रेखा पर आरा चलाता है, इससे चिराई सीधी होती है। रोती हुई विरहिणी के नेत्रों से कज्जल की रेखा बह निकली है, कवि उस रेखा को देखकर कल्पना करता है कि मानो उसके हृदय को चीर कर टुकड़े-टुकड़े करने के लिए विरह रूपी बढ़ई ने 'सूत धरा' हो जो कि कज्जल की रेखाओं के रूप में दृष्टिगत हो रहा है :

"चीरिबे को तिय को हियरा बिरहा बढ़ई मनो सूत धरो है।"[४]

६. भगवान शंकर के घर द्वार नहीं है, उनके बैठने के लिए :

"छाँह हैं न छपरा।"[५]

७. अभिसारिका के वस्त्र कंटकाकीर्ण मार्ग में इधर-उधर उलझते हैं :

---

१. स्फुट कवित्त, बेनी
२. रसविलास, बेनी, छं० ३८२
३. वही, छं० ३८५
४. फाजिलअली प्रकाश, पृ० ९८
५. वही, पृ० १६३

"अरुझत चीर झार झाँखर मैं". [१]

८. नीची दीवाल जिसे साधारणतया गांवों मे लोग ऐसे ही फांदकर लांघ जाते हैं "फंदफंदे की देवाल" कहलाती है :

"जौन सी अलंग फंदफंदे की देवाल है।"[२]

इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि अपने वर्णनों को सजीव बनाने तथा उनमें चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कवियो ने अवधी के अनेक मुहावरे, लोकोक्तियां तथा नीति-वाक्य ग्रहण किये। "अवाय रहे घरी द्वैक", "छींकते-छींकत काटत नाकै" आदि प्रचुर प्रयोग साहित्य में देखे जा सकते हैं। स्पष्ट है कि अवधी-मिश्रण का एक कारण यह भाषाधिकार प्राप्त करने की प्रवृत्ति भी अवश्य थी।

प्रबन्धकाव्य की शैली, दोहा-चौपाई, साधारणतया प्रचलित हो गई थी। जायसी, तुलसी की सफलता ने इस शैली के प्रयोग को और भी निश्चित कर दिया था, साथ ही अवधी भाषा ही इस शैली के लिए सर्वोपयुक्त समझी जाने लगी थी। शृंगारकालीन अवध के कवियो ने यद्यपि प्रबन्ध-रचना अधिक नही की, ब्रजभाषा मे तो बहुत ही कम की, तथापि जो कुछ हुई उसमें अवधी शब्दो का प्रयोग स्पष्टतया लक्षित होता है। सम्भवतः दोहा-चौपाई शैली अपनाने के कारण ही उसके साथ अवधी शब्द भी अनिवार्यतः प्रयुक्त हो गये। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बहुत से अवधी शब्द, ब्रजभाषा काव्य में इसलिए भी सम्मिलित हो गये क्योंकि अवधी-प्रधान शैली को ग्रहण किया गया था। शैलीगत विशेषता के कारण ये शब्द साहित्यिक भाषा में सम्मिलित करने पडे।

"दक्षादिकन ब्रह्माते पावा। तिनपुर कुत्स नृपहि सुनावा॥"

"अजर अरुज सुगन्ध तन होई। ताको नीर पियै जो कोई॥"[३]

उक्त उद्धरणों में पावा, सुनावा, होई आदि शब्द अवधी है। ब्रजभाषा मे इनके रूप क्रमशः पायो, सुनायो, होइहै, होते हैं। उक्त अवधी रूपों के प्रयोग से, दीर्घान्त हो जाने के कारण, चौपाई की मात्राएँ तो पूरी पड ही जाती हैं, साथ ही प्रवाह भी बढ जाता है। यह शैलीगत प्रयोग भी अवधी-मिश्रण का एक कारण कहा जा सकता है।

इस प्रकार ब्रजभाषा को काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए भी अवध

---

१. वही, पृ० ९०
२. नवरसतरंग, छं० १५४
३. विष्णुपुराण भाषा, दास

के कवियों ने उसका पर्याप्त संस्कार कर डाला। अवधी शब्दों के अतिरिक्त खड़ी बोली, उर्दू, फारसी के शब्दों का भी पर्याप्त मिश्रण साहित्यिक-भाषा, ब्रजभाषा, में हुआ। अवधी में रचना करने वाले कवियों ने भी इस प्रकार के पर्याप्त मिश्रण अपनी भाषा में किये।

अर्धमागधी का क्षेत्र कोशल प्रदेश था। यद्यपि कोशल, शूरसेन तथा मगध देश के मध्यस्थ है तथापि इसकी उत्पत्ति प्रधानतया महाराष्ट्री प्राकृत के मिश्रण से हुई है। शौरसेनी के भी अनेक लक्षण उसमे उपलब्ध होते हैं, फिर भी अपेक्षाकृत वह महाराष्ट्री के विशेष निकट दिखलाई पड़ती है। "आधुनिक देश-भाषाओं के विचार से पश्चिमी हिन्दी और बिहारी के बीच की भाषा पूर्वी हिन्दी है और उसमें दोनो के अश वर्तमान है।"[१] पूर्वी हिन्दी जैन-अर्द्धमागधी की अपेक्षा पाली के विशेष निकट है। पांचवी शताब्दी ईस्वी में जैन पंडितों ने अर्द्धमागधी में अपने ग्रंथों की रचना की थी, परन्तु इन ग्रन्थों की भाषा बहुत कुछ परिवर्तित रूप मे मिलती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन ग्रंथों के रचना-काल से बहुत पहले की प्राचीन अर्द्धमागधी ही पूर्वी हिन्दी की मूल थी।[२] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि साहित्य-रचना की दृष्टि से अवधी का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है जितना ब्रजभाषा का। भगवान् बुद्ध की मातृभाषा यही अर्द्धमागधी थी जिससे अन्ततोगत्वा पूर्वी-हिन्दी की उत्पत्ति हुई। भगवान् बुद्ध तथा महावीर स्वामी ने ५ वीं, ६ ठी श० ई० पूर्व में अपने उपदेश इसी अर्द्धमागधी से उत्पन्न पाली-भाषा में प्रचारित किये। महाराज अशोक के समय धर्मोपदेश की भाषा का प्रयोग राजकुल तथा राजशासन मे होता था अतः "राजभाषा होने के कारण इसका प्रभाव आजकल अंग्रेजी की तरह प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं पर था।"[३]

अपभ्रंश-काव्य में पूर्वी हिन्दी के शब्द अपने मूल रूप में विद्यमान थे। "संकट पाआ", "केण मिटाआ", "लग णहिअल" वाक्यांशों में पाआ = पावा, मिटाआ = मिटावा, लग = लगे, निकट, पूर्वी प्रयोग हैं। चन्द की भाषा तो "षड्भाषा" थी ही, उसमें पूर्वी प्रयोग विद्यमान होना स्वाभाविक ही था।[४]

---

१. हिं० भाषा और साहित्य, श्यामसुन्दर दास, पृ० १६

2. Evolution of Avadhi—Baburam Saksena, page 7

३. हिं० भा० और सा०, श्यामसुन्दरदास, पृ० १६

४. कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, पृष्ठ, ३७८

"अति ढब्यो न उघार सलिल जिमि सिण्णि सिवालहू।" में "उघार" प्रयोग पूर्वी है जिसका प्रयोग 'खुले हुए',के अर्थ में होता है।

"क्षीन शब्द सुप नीसरइ धीर परि कै राम।" "नीसरइ" का प्रयोग 'निकलने' के अर्थ मे पूर्वी भाषा में प्रचलित है।

जगनिक का आल्हखण्ड पूर्वी हिन्दी का वृहद् काव्य है। जनता के द्वारा जितना समादर इस काव्य का हुआ, उतना किसी भी दूसरे का नहीं हुआ। कबीर ने पर्याप्त पूर्वी प्रयोग किये हैं, यहां तक कि उनकी भाषा पूर्वी-प्रधान हो गई है। जायसी का पद्मावत जनता की भाषा के माध्यम से मानव-वृत्तियो का व्यापक चित्र प्रस्तुत करता है और तुलसी का मानस पूर्वी-हिन्दी का गौरव ग्रंथ ही नहीं है वरन् जनता का कण्ठहार भी है। हमारे प्रस्तुत कवियों के बीच भी अनेक कवि, हिन्दी साहित्य में पूर्वी भाषा की उक्त परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं। जगजीवन-पंथी साधुओं की वाणी अपने भक्ति-विषयक उद्‌गारों को इसी दैनिक व्यवहार की भाषा मे व्यक्त करती है। कासिमशाह ने अवधी का प्रचलित रूप प्रयुक्त किया है और अयोध्यावासी अनेक राम-भक्तों ने भी कथा-प्रबंध के लिए अवधी का प्रयोग किया है।

उक्त कथन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस पूर्वी हिन्दी को तथा इसके आरम्भिक रूप को भी, अधिक राजाश्रय प्राप्त नहीं हुआ। अशोक-काल में राजाश्रय पाकर भी इस भाषा का सम्पर्क जनता से ही बढ़ता रहा और हिन्दी-साहित्य के आरम्भ काल से तो इसकी प्रवृत्ति बहुत कुछ लोकोन्मुख हो उठी। जनता ने इसे अपना लिया और अपने अनुभूत्यात्मक उद्‌गारो को व्यक्त करने का साधन बनाया। कबीर तथा जायसी इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं, यद्यपि तुलसी जैसे विद्वान् के हाथो इसका समुचित सस्कार तथा शृंगार भी हुआ, परन्तु तुलसी की भाषा लोकभाषा से कुछ दूर जा पड़ी, सम्भवतः इसी कारण उसका अनुकरण यथातथ्य रूप में हमे बहुत कम उपलब्ध होता है।

कबीर तथा जायसी की परम्परा मे जगजीवन तथा कासिम, लोकभाषा का प्रचुर प्रयोग करते हुए दृष्टिगत होते है। गिरिधर कविराय जैसे नीतिकार भी इसी लोकभाषा के द्वारा जनता में सद्‌वृत्तिया जागृत करने का प्रयत्न करते है। विभिन्न प्रान्तवासियों तथा संस्कृतियों के सम्पर्क मे आने के कारण लोक-भाषा मे प्रान्तीय तथा विदेशी शब्दों का आना स्वाभाविक है, अतः उक्त कवियो की भाषा में भी हमको व्रजभाषा, खड़ी बोली तथा उर्दू के शब्दो के पर्याप्त मिश्रण प्राप्त होते हैं। ऐसे मिश्रणो को स्वीकार कर लेना, भाषा की शक्ति-सजीवता का परिचायक है और अवधी में यह शक्ति पूर्णतया विद्यमान

है। यहां पर हम चार प्रमुख विभाजनों के अन्तर्गत उक्त शक्ति का परिचय देने का प्रयत्न करेंगे। ये विभाजन हैं: (१) सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति (२) लाक्षणिकता (३) व्यापकता तथा (४) माधुर्य और संगीतात्मकता।

सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति का गुण, विकास-प्राप्त भाषा का लक्षण है। जब तक भाषा जनसाधारण के दैनिक-जीवन सम्बन्धी भावों तथा विचारों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त नहीं होती, तब तक उसमें सूक्ष्मतम भावाभिव्यंजन के उपयुक्त शब्दावली का निर्माण भी नहीं होता। जो भाषा जितने अधिक व्यक्तियों के द्वारा और जितने अधिक समय तक जनता द्वारा प्रयुक्त होती है उसकी भावव्यंजना की शक्ति भी उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। हम कह चुके हैं कि अवधी को राजाश्रय प्राप्त नहीं हुआ, अतः उसका व्यवहारक्षेत्र प्रधानतया जन-जीवन ही बना रहा, अतः उसे अपनी भावाभिव्यक्ति की शक्ति को विकसित कर लेने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। एक उदाहरण द्वारा इस कथन को स्पष्ट किया जा सकता है। क्रोध का भाव समय-समय पर, परिस्थिति के अनुसार, तीव्र अथवा मन्द रूप धारण करके उत्पन्न होता है। यद्यपि मूल भाव क्रोध ही रहता है तथापि तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार उसके रूप में परिवर्तन हो जाता है। भाषा का व्यवहार करने वाले सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति इन विभिन्न भावों का नामकरण कर लेते हैं और समयानुसार उन्हें रिसाना, बिरझाना, अनखाना, झीकना, खिरझिराना, झझाना आदि नामों से पुकारने लगते हैं। उक्त विभिन्न भेदों में स्पष्ट अन्तर है। रिसाना, तीव्र और स्थायी क्रोध का द्योतक है, बिरझाने के साथ रूठने का भाव मिश्रित है, अनखाना साधारण अप्रसन्नता को व्यक्त करता है, झीकने में असमर्थता का समावेश रहता है, खिरझिराना झुझलाहट का सूचक है और झझाने में असहिष्णुता निहित है। इस प्रकार एक ही भाव के अनेक रूपों का पर्यवेक्षण तथा नामकरण हो जाने से भाषा ने पर्याप्त शक्ति सम्पन्नता प्राप्त की। इस प्रकार के कुछ उदाहरण यहां पर उपयुक्त होंगे।

१. कुपुत्र के ससुराल में जा बसने पर माता झीकती है। पुत्र को उचित मार्ग पर लगाने में वह असमर्थ है, अतः उसकी इस खीझ में निराशा और असमर्थता का भाव मिश्रित है। क्रोध तो पुत्र के प्रति है ही :

"कह गिरधर कविराय मातु झींखै वहि ठाईं।
अस पुत्रिनि नहिं होय बंझ रहतिउ बरु साईं॥"[१]

---

१. कुंडलिया, गिरिधर, पृ० ८

२. फूहड़ स्त्री का कार्यक्रम सब अस्तव्यस्त तथा ऊटपटांग रहता है। उसके उलटे-सीधे व्यवहार का वर्णन करते हुए कवि 'धैना' शब्द का प्रयोग करता है :

"कह गिरिधर कविराय फूहर के याही धैना।
कजरौटा बरु होय लुकाठन आंजै नैना॥"[१]

उक्त शब्द अपरिवर्तनशील तथा स्वभावगत व्यवहार का बड़ा उपयुक्त द्योतक है। फूहड़ की अपने स्वभाव से पराजय इस शब्द के द्वारा बड़ी सफलता से व्यक्त हुई है। इस शब्द के स्थान पर 'धंधा' शब्द का प्रयोग सारी भाव-व्यंजना पर पानी फेर देता।

३. 'मकर' विदेशी शब्द 'मक्र' (अरबी) का परिवर्तित रूप है, तथापि अवधी भाषा ने इसे ऐसा अपना रक्खा है कि पूर्ण रूप से ग्राम्य ही समझा जाता है। किसी धूर्त व्यक्ति की चालबाजी के लिए इसका प्रयोग हो सकता है किन्तु अवधी में इसका प्रयोग प्रधानतया रोग, चोट, पीड़ा आदि का बहाना करने के लिए किया जाता है। 'त्रियाचरित्र' में इस प्रकार का जाल बना कर, पति को धोखा दे देने की विशेष कला है। उसी का उल्लेख करते हुए गिरिधर ने कहा है :

"मक्कर वाली नारि का मारा ना मिमिआइ।"[२]

ऐसे छल में पड़ जाने वाला व्यक्ति, बलि के बकरे के समान, एक ही प्रहार में समाप्त हो जाता है, उसे 'मिमियाने' का भी अवसर नहीं मिलता। इसी से मिलता-जुलता एक शब्द 'फेनहाव' भी अवधी में प्रचलित है। इसका प्रयोग केवल बन कर रोने-चिल्लाने, हाय-हाय करने आदि के अर्थ में ही किया जाता है। *मक्कर और फेनहाव के प्रयोगक्षेत्र का अन्तर इससे स्पष्ट हो जाता है।*

४. किसी वस्तु को विशेष ध्यानपूर्वक देखने को 'निरथाना' अथवा 'निर-ताना' कहते हैं। किसी सूक्ष्म वस्तु को देखने के लिए जब विशेष दृष्टि गड़ानी पड़ती है तब उस क्रिया को व्यक्त करने के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। भगवान् का ऐक्य प्राप्त करने के लिए दृष्टि को अन्तर्मुखी करके एकाग्र करना पड़ता है अथवा त्रिकुटी पर दृष्टि जमाकर उसका ध्यान करना पड़ता है, उक्त क्रिया को व्यक्त करने के लिए कवि ने इस शब्द का प्रयोग किया है।

---

१. वही, पृ० ९
२. वही, पृ० ८

"बास अक्त, रहि निरास, निरखहु निरथाई ॥"[१]

"निरताना" निरत होने, तल्लीन होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, उसी से निरथाना रूप परिवर्तित होकर आया है।

५. "अरथाना" शब्द का प्रयोग, अर्थ-गर्भित बात कहने के अर्थ मे होता है। जब गूढ़ भाव से पूर्ण बात कही जाती है तब "अरथा कर बात कहना" कहलाता है। जगजीवन ने अपने निर्गुण-सम्बन्धी विचारों को पारिवारिक रूपक द्वारा व्यक्त किया है, अतः वे स्मरण दिला देना चाहते हैं कि उनकी बात अर्थ-गर्भित है, उसका कोई लौकिक अर्थ न ग्रहण करे।

"गगरिया मोरी चित सो उतरि न जाय।
इक कर करवा, एक कर उबहनि, बतिया कहौं अरथाय ॥"[२]

इसी प्रकार कितने ही छोटे-छोटे, सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति करने वाले शब्दों का प्रयोग अवधी के कवियों द्वारा हुआ है, जिनसे भाषा की इस शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। कुछ शब्द उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त भी देखे जा सकते हैं :

बौहर (बावली, पगली), जनारो (जानवर, उपहास के अर्थ मे प्रयुक्त), अनारी (मूर्ख), घटिहा (घटी करने वाला, छली), अफराना (तृप्ति की अति हो जाना), जबहा (दुःसाहस), छिनकबुद्धि (अस्थिरमति मनुष्य), बिरुझना (झगड़ा करना) इत्यादि।

कुछ शब्द, समानार्थी दो शब्दो के संयोग से बने हैं जो क्रिया रूपों को बहुत कुछ स्पष्ट करते हैं। एक दूसरे से खींचतान करते-करते मनुष्य छीन झपट पर उतर आता है।

"ऐंचा खैंची भै सबहिन कै, परिगै झक्काझोरी ॥"[३]

ऐंचा-खैंची और झकाझोरी का प्रयोग, उक्त दृश्यों को स्पष्ट करने के लिए हुआ है। वादविवाद के लिए "लटापटी" का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :

"लटापटी होने लगी मोहि जुदा करि देहु"[४]

अभिमानी व्यक्ति के ऐंठने का चित्रण करने के लिए :

"ऐंड़ि-ऐंड़ि बतलाहि सूर्य के सम्मुख जुगनू"[५]

---

१. जगजीवन, बानी, भा० २, पृ० ८७

२. वही, पृ० ४७

३. वही, पृ० ७५

४. गिरिधर, कुंडलिया, पृ० ७

५. वही, पृ० ३१

में ऐंड़ि शब्द को दो बार प्रयोग करके अहं-भाव की सफल व्यंजना की गई है।

"पनहिन मूड ठठाना" और "टूटे रंड अरराय" में शब्दानुकरण का सहारा लेकर, ठठाना और अरराना शब्दों का प्रयोग हुआ है। सर पर पनही की, और वक्ष के सम्पूर्णतः टूट गिरने की ध्वनि, उक्त शब्दों द्वारा सफलतापूर्वक व्यक्त हुई है।

अवधी में इस प्रकार के शब्दों का बाहुल्य है जिनके द्वारा मनुष्य अपनी छोटी से छोटी अनुभूति को व्यक्त करने में समर्थ होता है। यद्यपि लोक-भाषा के बहुत से शब्द, काव्य में ग्राम्य समझकर प्रयोग नहीं किये गये तथापि इससे भाषा की शक्तिमत्ता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। अवधी को तो विशेष रूप से लोक-पक्ष प्राप्त हुआ था और उसी के बल पर वह शक्तिमती हुई।

लाक्षणिकता भाषा का एक आकर्षक गुण है। "मुख्य अर्थ का बाध होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाला अन्य अर्थ लक्षित हो, उसे 'लक्षणा' कहते हैं।"[१] अथवा "कभी-कभी ऐसा होता है कि शब्द के साधारण अर्थ से उसका वास्तविक अभिप्राय नहीं प्रकट होता। वास्तविक अभिप्राय उसके साधारण अर्थ से कुछ भिन्न होता है। शब्द की जिस शक्ति से उसका वह साधारण से भिन्न और दूसरा वास्तविक अर्थ प्रकट होता है, उसे लक्षणा कहते है।"[२] उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि वचन-वक्रता लक्षणा का एक प्रमुख लक्षण है। कथन की भंगिमा, भाषा को एक अपूर्व आकर्षण प्रदान करती है। भाषा की सारी मुहावरेदानी और चुस्ती इसी भंगिमा पर निर्भर करती है। यह भंगिमा, यद्यपि भाषा का संस्कार करने वाले कलाकारों द्वारा भी प्रस्तुत की गई तथापि लोक-व्यवहार के क्षेत्र में इसका विकास स्वाभाविक रूप में होता रहा। अवधी में इस प्रकार की स्वाभाविक वचन-वक्रता प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है क्योंकि व्यवहार-क्षेत्र में, अवधी निरन्तर प्रयोग-बहुला रही। अनेक शब्द, दैनिक वार्तालाप के व्यवहार में रूढ़ होकर एक नवीन अर्थ देने लगे जिससे उसकी मनोरमता बढ़ी। इन रूढ़ अथवा सप्रयोजन प्रयुक्त हुए शब्दों के द्वारा मुहाविरों का निर्माण हुआ जिनके द्वारा भाषा को भाव-प्रदर्शन का कलात्मक रूप प्राप्त हुआ। इस कलात्मकता के साथ-साथ उसकी भावव्यंजना की शक्ति में भी वृद्धि हुई।

---

१. रसमंजरी : सेठ क० ल० पोद्दार, पृ० १९
२. हिन्दी शब्द-सागर, पृ० २९९०

इस प्रकार के कुछ उदाहरण, प्रस्तुत कवियों के काव्य से उपस्थित किये जाते है। साधारण दैनिक व्यवहार अथवा घटनाओं की सदृशता के आधार पर विभिन्न अनुभूतियों को व्यक्त करने की प्रवृत्ति इन उदाहरणों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, भाव-व्यंजना की यह स्वाभाविक शैली, भाषा को मानव-जीवन के अत्यन्त निकट स्थापित कर देती है।

१. किसी वस्तु के पूर्ण रूप से जलकर समाप्त हो जाने को "जलकर भुट्टा हो जाना" कहते हैं। पूर्णतया भस्म हो जाने का अर्थ प्रयोजनीय होने के कारण, भुट्टा होने का लाक्षणिक अर्थ ग्रहण किया जाता है। "अघ कम जरि भै भूटा"[१] में इसी प्रकार का अर्थ निहित है। पापों और कर्मों में जलकर पूर्णतया विनष्ट हो जाने वाले मानव के लिए कवि ने भुट्टा हो जाने का लाक्षणिक प्रयोग किया है।

२. खूटे में बंधा हुआ पशु कितना पराधीन होता है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। केवल अपने सीमित क्षेत्र में ही चक्कर काटना उसके भाग्य में लिखा होता है। सांसारिक भ्रमजाल इसी प्रकार के खूटे के समान है जिसमें बंधा हुआ व्यक्ति केवल अपने क्षेत्र में ही चक्कर काटता रहता है, इसलिए उसकी वास्तविक असहाय दशा का बोध कराने के लिए "बांधे भ्रम के खूंटा"[२] प्रयोग बहुत ही उपयुक्त है।

३. भगवद्-स्तुति प्रत्येक जन के लिए संसार में सुलभ है। यदि वह वास्तव में भगवान् के यशगान की इच्छा रखता है तो वह उसे प्रचुर परिमाण मे उपलब्ध हो सकता है। इस इच्छानुकूल भगवद्-स्तुति का अवसर पाना मानो उसे लूटना है। "साधो अस्तुति जन जग लूटा"[३] में लूटने का यही लाक्षणिक प्रयोग देखा जा सकता है। भगवद्-भजन की सर्वसुलभता व्यक्त करना ही इस प्रयोग का उद्देश्य है।

४. विरह की दाहकता काव्य मे बहुप्रचलित है। अग्नि की लपट की उष्णता तो सर्वविदित ही है परन्तु जब अग्नि की ज्वाला अत्यन्त प्रबल होती है तब उसके निकट जाना तो कठिन होता ही है वरन् उसकी "झार", आंच, को सहन कर पाना भी अत्यन्त कठिन हो जाता है। इस झार की असहनीयता प्रदर्शित करके, कवि ने विरह-वह्नि की तीव्रता को यथारूप व्यक्त कर दिया

---

१. जग० बानी, भा० २, पृ० १६
२. जग० बानी, भा० २, पृ० १६
३. जग० बानी, भा० २, पृ० १६

है। वास्तव में जो व्यक्ति इस झार को सहन कर सके उसका हृदय धन्य है, क्योंकि वह सहनशीलता की पराकाष्ठा को पहुंच गया है।

"कांपे स्वर्ग पताल सब, धरती मेरु पहाड़।
कायम ताकर धन हिया, सहे विरह की झार॥"[१]

५. किसी वस्तु का सार-भाग प्राप्त करने के लिए उसे छान लेते हैं। छनी हुई वस्तु, शुद्ध तथा तत्वरूप समझी जाती है। ज्ञानोपदेश करने वाले व्यक्ति अपने शिष्यों को अनेक प्रकार की कथाएं, उपाख्यान इत्यादि सुनाकर उनके हृदय को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं किन्तु प्रस्तुत उपदेशक, सम्पूर्ण ज्ञान के अन्तिम तत्व, छने हुए रूप को, नाम-रूप को, ही देखता है।

"आवत देखि दृष्टि मोहिं ऐसे, ज्ञान कहत हौं छानी।
बिरले संत तंत ते लागे, प्रीति नाम ते ठानी॥"[२]

लोक-भाषा अवधी में प्रयुक्त होने वाले ऐसे लाक्षणिक प्रयोग असंख्य हैं और दैनिक वार्तालाप में उनका प्रयोग प्रचुरता से हुआ है, यहां तक कि बात बात में यह लाक्षणिक भंगिमा अपने स्वाभाविक रूप में देखी जा सकती है। उक्त उदाहरणों के अतिरिक्त कुछ और भी यहां पर प्रस्तुत किये जाते हैं।

१. "नाम के रंग छकी"[३]	छकी = मानसिक रूप से तृप्त।
२. "देखि दरस मोरा हियरा जुड़ाइ"[४]	जुड़ाना = संतुष्ट होना।
३ "कुमति ज्ञान धरि कूटा"[५]	कूटना = पराजित करना।
४ "कर्म भर्म जब जैहहिं भाग"[६]	भागना = समाप्त होना।
५. "चैन हिरानो ज्ञान हिरावा"[७]	हिराना = खो जाना।
६. "बिरह बेलि चढ़ि लागि अकासा"[८]	बेल का आकाश लगना=असीम विस्तार होना।

१. हंस जवाहिर, पृ० ८१
२. जग० बा०, भा० २, पृ० १६
३. जग० बा०, भा० २, पृ० ९
४. जग० बा०, भा० २, पृ० १०
५. जग० बा०, भा० २, पृ० १६
६. जग० बा०, भा० २, पृ० २८
७. हं० ज०, पृ० ७१
८. हं० ज०, पृ० ७२

७ "संग चलौ मारग कटि जाई"[१] — कटना = समाप्त होना।
८. "हिये घाव सो लाग"[२] — घाव = तीव्र पीड़ा।
९. "दिन दश मंह यह भयो बखाना"[३] — दस दिन = थोड़े समय में।
१०. "है विवाद की खानि"[४] — खानि = भाण्डार, उद्गमस्थल।

इसमें सन्देह नही कि यह लाक्षणिकता भाषा का अमूल्य वैभव है। इसके द्वारा भाषा को जो मार्मिकता प्राप्त होती है वह उसे तुलनात्मक दृष्टि से शीर्ष स्थान तक पहुँचा देती है।

व्यापकता : भाषा को शक्तिमत्ता तथा लोकप्रियता प्रदान करने के लिए हमारे कवियों ने उसे सदैव उदारता की ओर उन्मुख रक्खा है। तत्कालीन प्रचलित विदेशी शब्दावली तथा मुहावरे बडी स्वतंत्रता के साथ अवधी में आत्मसात् कर लिये गये है। इस उदारता के परिणामस्वरूप, जहा भाषा एक ओर लोकग्राह्य बन गई है वही दूसरी ओर उसमें प्रवाह तथा सगठन बढ़ गया है। नीतिकार, संत तथा प्रेमाख्यानक कवियों ने जो कुछ लिखा, जनता के लिए लिखा; हमारे कवियों में गिरिधर, जगजीवन तथा कासिमशाह ऐसे ही कवि हैं। जनता के कवि होने के कारण ही इन्होने अवधी को अपनाया और लोक प्रचलित शब्दों और मुहावरो का व्यवहार किया। कासिमशाह मुसलमान थे अतः उनकी अवधी मे इस प्रकार के सम्मिश्रण स्वतः हो गए। तुलसी की भाषा यदि सुसस्कृत साहित्यिक अवधी है तो हमारे प्रस्तुत कवियों की अवधी अपना लोकप्रिय, स्वाभाविक रूप लेकर उपस्थित हुई है। अपने को वातावरण के अनुकूल सुसंगठित कर लेने की शक्ति, इस अवधी की सप्राणता की पूर्ण परिचायिका है। यहा पर इस प्रकार के कुछ शब्द तथा मुहावरे प्रस्तुत किये जाते हैं जिनको हमारे कवियों ने पूर्णतः अपना लिया है।

१. "पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई ?"[५]
२. "लेही घर अरु द्वार करो मैं फजिहति तेरी।"[६]

---

१. हु० जवा०, पृ० २१
२. वही, पृ० ६७
३. वही, पृ० २६
४. जग० बा०, भा० २, पृ० १८
५. गिरिधर कुं०, पृ० ६
६. वही, पृ० ७

३. "इन तेरह सों तरह दिये वनि आवै साईं।"[१]
४. "वरु फाका करि मरै जगत में शोभा पावै।"[२]
५. "करहु माफ गुनाह"[३]
६. "साईं कुदरति अजव तुम्हारी"[४]
७. "पनाह है तुम्हारी"[५]
८. "नूर मीर अन्हाय"[६]
९. "तमा तुजुक तै मार"[७]
१०. "तिहू बीच विधि कीन कमोना"[८]
११. "कह वह गई हुसेन स्वरूपा"[९]

इसके अतिरिक्त और भी वहुत से विदेशी शब्द इन कवियों की कृतियों मे बिखरे पड़े है। हैवान, गारत, कौल, अजब, तमाशा, नुकसान, खाक, वलाय, खाका, हाजिर, आला, तसवी, फरमाना, कबूलना, गाफिल, ख्याल, गैब, जिकर, यार, पीर, मुरशिद, खास आदि कितने ही शब्द प्रयोग किये गए हैं। इनमें से कुछ शब्द तो कवियो की साम्प्रदायिकता के कारण आ गए हैं। तसवी, गैब, जिकर, यार, पीर, मुरशिद आदि शब्द, सन्त कवियो की निर्गुण-भावना की अभिव्यक्ति करने मे पर्याप्त सहायता करते है, अतः इनका प्रयोग उन लोगों के लिए अनिवार्य हो उठता है। कुछ शब्द नित्य-व्यवहार के कारण इतने आत्मसात् कर लिये गये है कि उनके उपयोग के लिए न तो कवि को प्रयत्न करना पड़ता है और न उससे सरल दूसरा शब्द उसे उपलब्ध हो पाता है, अत. स्वाभाविक प्रवाह मे पड़कर वह स्वतः प्रयुक्त हो जाता है। इस प्रकार भाषा को अपने सरल रूप मे विकसित होने तथा अधिक से अधिक जनता का प्रतिनिधित्व करने का अवसर प्राप्त होता है। यह भी देखा जा सकता है कि किसी

१. गिरिधर, कुड०, पृ० ११
२. वही, पृ० १७
३. जग० बा०, भाग १, पृ० २
४. वही, पृ० ५
५. वही, पृ० १८
६. वही, पृ० ४७
७. वही, पृ० ६०
८. हं० ज०, कासिम पृ० ७
९. वही, पृ० ३०

शब्द को लेकर उसके आधार पर कवियों ने अपना शब्द गढ़ लेने का प्रयत्न किया है।

१. "पैदा करत निपैद करत हौ"[१] निपैद=मुक्त,
२. "काम करत बिनकार"[२] बिनकार=व्यर्थ
३. "दाता जिन्हें अदत्त कहै"[३] अदत्त=न देनेवाले, सूम
४. "घरै आवै अनगैरी"[४] अनगैरी=अपरिचित

स्पष्ट है कि नि, बिन, अ, उपसर्ग लगाकर उक्त शब्दों को निषेध-सूचक बना लिया गया है, यद्यपि उनसे साधारणतया बहुत कुछ अर्थ-विभ्रम भी हो सकता है। इन उपसर्गों का प्रयोग भी लोक-व्यवहार के ही आधार पर किया गया है, अत: उनकी व्याकरण-सम्मतता पर दृष्टिपात करना व्यर्थ है।

शिष्ट-समुदाय की वार्तालाप-शैली जनसाधारण से सदैव कुछ भिन्न रहती आई है। साधारण जनता से नागरिक व्यक्तियों का अन्तर दिखलाने के लिए कवियों ने कुछ खड़ी बोली रूपों का मिश्रण, भाषा में कर दिया है, इसके द्वारा उनके गुरुत्व का आभास देने का प्रयत्न किया गया है। स्वाभाविकतया ऐसे स्थल, कथानकों अथवा वार्तालापों के बीच ही आ सकते हैं अत: कासिम के हंस-जवाहर मे इस प्रकार के स्थल दृष्टिगत होने का पर्याप्त अवसर है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे।

१. "कहा कि मै रहने नहिं आया।"[५]
२. "कहूं बात तो निलज कहाऊं।"[६]
३. "रहता नाहिं नेक महि ठाऊं।"[७]
४. "तू ने क्रोध भरा हिय माँहों।"[८]

उक्त उद्धारणो मे क्रियाओं तथा सर्वनाम के साधारण खड़ीबोली रूप देखे जा सकते है। ये रूप अवधी के रूपों के निकट अवश्य है, तथापि उनका प्रयोग

१. जग० बा०, भाग १, पृ० ३५
२. जग० बा०, भाग १, पृ० २०
३. जग० बा०, भाग २, पृ० १११
४. गिरिधर कु०, पृ० ११
५. कासिम, हं० ज०, पृ० २१
६. वही, पृ० १०३
७. वही, पृ० १०४
८. वही, पृ० „

जानबूझकर किया गया है, इसमे सन्देह नही। यदि उक्त वाक्यों में प्रयुक्त शब्दो के स्थान पर अवधी शब्द रख दिये जाय तो निश्चय ही वाक्य-विन्यास शिथिल हो जायगा, अतः इनका प्रयोग अभीप्सित रूप से हुआ है, ऐसा स्पष्ट है। "रहता नाहिं" के स्थान पर "नाईं रहत" अथवा "तूने" के स्थान "तुइ" "तैं" रूप होने चाहिए, जिनके रख देने से छन्द भग हो जायगा, अतः इन स्थलो पर खड़ीबोली का प्रयोग जानबूझकर किया गया है। अवधी की उदार-वृत्ति तथा उसकी व्यापकता उपर्युक्त उदाहरणो से बहुत कुछ सिद्ध हो जाती है।

लोकभाषा तद्भवशब्द-बहुला ही हुआ करती है। यद्यपि सरल तत्सम शब्द भी अपने यथावत् रूप में ग्रहण किये जाते हैं तथापि उनकी संख्या तद्भव शब्दो से कही कम होती है। साधारणतः आधे से अधिक तद्भव शब्द भी जन-प्रयुक्त भाषा मे उपलब्ध होते है। जैसे-जैसे भाषा साहित्यिक तथा सुसंस्कृत होती जाती है, वैसे ही वैसे जनसाधारण से उसका सम्पर्क घटता जाता है। जायसी और तुलसी की भाषाएं इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं। जायसी की भाषा, प्रांत की बोलचाल की भाषा है और इसलिए जनता के द्वारा सरलतापूर्वक समझी जाती है, तुलसी की भाषा संस्कृत-बहुला, तत्सम शब्दों से युक्त है अतः वह सुशिक्षित जनता के द्वारा ही समझी जा सकती है। आधुनिकतम अवधी-काव्य "कृष्णायन" की भाषा के विषय मे देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद ने यही आशंका प्रकट की है कि यद्यपि इस ग्रंथ की 'भाषा अवधी है और इसलिए "मानस" की भांति मीठी। (तथापि) संस्कृत का प्रयोग "मानस" से अधिक मात्रा में है और यदि प्रचार मे कमी होगी तो इसी कारण से।'[1]

हमारे प्रस्तुत अवधी के कवियों की भाषा अपने सरल स्वाभाविक रूप मे ही हमारे सम्मुख आती है। इसके लेखक न तो संस्कृतज्ञ थे और न जनसाधारण से दूर रहने वाले व्यक्ति। उनकी भाषा अपने स्वाभाविक रूप मे विकसित हुई थी, जिसमे तत्सम, तद्भव, देशज तथा विदेशी, सभी प्रकार के शब्द, यथावसर प्राप्त होते है। परन्तु इसमें सन्देह नही कि तद्भव शब्दो की संख्या अधिकतम है और भाषा का सारा माधुर्य इन्ही शब्दों के ऊपर आश्रित है, यद्यपि विदेशी शब्दों का प्रयोग भी बहुत ही व्यंजनात्मक तथा मार्मिक हुआ है। भाषा की सरलता तथा मधुरता का परिचय प्राप्त करने के लिए सबसे पहले हमको इन्ही शब्दों पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। तत्सम शब्दो के मनोहर सरल रूप, अवधी को माधुर्य प्रदान करने मे निरन्तर सहायता करते है। ये शब्द जनता के इतने

---

१. कृष्णायन, प्राक्कथन, पृ० ३

आत्मीय हो गये है कि उसे इनका प्रयोग करने में किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। न तो इन शब्दों में उसे किसी प्रकार की पृथकता का ही अनुभव होता है न क्लिष्टता का। अत: कवियों की वाणी में इनका घुल-मिल जाना स्वाभाविक ही है। निम्नलिखित शब्दों पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जायगी :

१. 'प्रीति अन्तर आहि'[1]
२. 'नारि रस नहिं होय'[2]
३. 'पतित अनंत गनें को कहं लो'[3]
४. 'व्याकुल होहुं बिहाल'[4]
५. 'रह्यो देखि मैं बर्शन ओरा'[5]
६. 'पार्वं निर्मल पंथ भिखारी।'[6]
७. 'टेका तबहीं चरन पुनि और दण्डवत कीन्ह।'[7]
८. शब्द से प्रेम हिये भरिदेई।'[8]

उक्त शब्द अपने तत्सम रूप में होने के साथ-साथ श्रुति-मधुर भी है, इस प्रकार की प्रचुर शब्दावली अवधी के कवियों द्वारा प्रयुक्त हुई है, परन्तु संस्कृत शब्दों से विकसित तद्भव रूपों का माधुर्य इन मूल-रूपों से भी अधिक है क्योंकि उनमें मूल रूपों की रही-सही द्वित्व-सम्बन्धी परुषता अथवा णकार की कर्णकटुता भी समाप्त हो जाती है। वास्तव में ये तद्भव शब्द ही अवधी की सजीवता और मधुरता के द्योतक हैं। यहां पर हम कुछ ऐसे शब्द उपस्थित करेंगे :

१. 'नाहिं लाहत नाम रस बहु'[9]	लाभ=लाहु
२. 'दीजै हमहिं न खोरि'[10]	खोट=खोरि
३. 'सतसंगति गहि पोढ़ि'[11]	प्रौढ़=पोढ़
४. 'जब चितयो एक कोरा'[12]	कोण=कोर
५. 'साईं मैं तो बड़ा अनारो'[13]	अनार्य=अनारी
६. 'मारि कै जमदूत खूंदा'[14]	खुण्डन=खूदना

---

१. जग० बानी, भाग १, पृ० १११
२. वही, पृ० १०५
३ वही, पृ० ३४
४. वही, पृ० २१
५. हंस जवा०, पृ० १८३
६. हंस जवा०, पृ० १४९
७. हंस ज०, पृ० १४८
८. हं ज०, पृ० २०९
९. जग० बा०, भाग १, पृ० ९
१०. वही, पृ० १२
११. वही, पृ० १४
१२. वही, पृ० १६
१३. वही, पृ० ३८
१४. वही, पृ० ४३

७. 'झूठे हैं सब नाम विहूना'[१]	विहीन=विहून
८. 'जाति लागि लय नात नाह ते'[२]	ज्ञाति = नात; नाथ=नाह
९. 'चारि दिना का अहै पेखना'[३]	प्रेक्षण=पेखना
१०. 'मिलि होय नाहिं निनार'[४]	नि:+निकट=निनार
११. 'रवि ससि नेग रूप मनियारो'[५]	अनेक=नेग
१२. 'यह मन गगन मंदिल राखु'[६]	मंदिर = मंदिल
१३. 'आजा बाप के नाम पुकारहिं'[७]	आर्य = आजा
१४. 'बजुर काल यम का तेहि घेरी'[८]	वज्र = बजुर
१५. 'चलो शाह के बार'[९]	द्वार = बार
१६. 'दूध नीर जो करो नियारा'[१०]	नि:+निकट = नियार
१७. 'खेह जान सर खेह चढ़ाई'[११]	क्षार = खेह
१८. 'आहै अलख लख्यो तब आयो'[१२]	अलक्ष्य = अलख
१९. 'अरे मन मुगुध समुझि'[१३]	मुग्ध = मुगुध
२०. 'खांड जैसे मिलाई तक्कर'[१४]	तक्र = तक्कर
२१. 'कंजबास बिगसित'[१५]	विकसित = बिगसित
२२. 'तिरपति प्यास न जाई'[१६]	तृप्ति = तिरपति
२३. 'सुखी कौन बिलम नहिं लायो'[१७]	विलम्ब = बिलम
२४. 'घिरत लेहु बहिराई'[१८]	घृत = घिरत

उक्त शब्दों में कुछ अपने तत्सम रूपों के अत्यन्त निकट है। मंदिल, बज्जर मुगुध, तक्कर, बिगसित, तिरपति, बिलम, घिरत, ऐसे शब्द है जिनमे बहुत थोड़ा परिवर्तन करके कवियों ने उन्हे अपने प्रयोग के अनुकूल बना लिया है। उक्त परिवर्तन के द्वारा जहां एक ओर शब्दों की उच्चारण-क्लिष्टता दूर हो गई है,

---

१. जग० बा०, भाग १, पृ० ४६
२. वही, पृ० ५२
३. वही, पृ० ५६
४. वही, पृ० ८८
५. वही, भाग २, पृ० ५६
६. वही, भाग २, पृ० ७८
७. वही भाग २, पृ० ९०
८. कासिम, हं० ज०, पृ० ११५
९. वही, पृ० १०७
१०. वही, पृ० ११०
११. वही, पृ० ११२
१२. जग० बा०, भा० २, पृ० १२४
१३. वही, पृ० ७६
१४. वही, पृ० ३४
१५. वही, पृ० ८७
१६. वही, पृ० ९४
१७. वही, पृ० ९७
१८. वही, पृ० ११५

वहां दूसरी ओर द्वित्व वर्णों के अलग हो जाने के कारण मृदुता भी आ गई है। बिलम में अंतिम व्यंजन 'ब' का लोप हुआ है, 'नेग' में आरम्भ के स्वर 'अ' का लोप स्पष्ट है, 'विगसित' में 'ग' 'क' का स्थानापन्न हो गया है, जो विशेष श्रुति-सुखद है। 'कोण' का 'ण' 'र' में परिवर्तित होकर 'कोर' हो गया है। इस प्रकार भाषा अधिकाधिक श्रुतिमधुरता ग्रहण करती गई है। प्रयोग-बाहुल्य के कारण यह विकास, पूर्णतया स्वाभाविक रूप में हुआ है। हेरान, लोई, छाहीं, नात, गोत, अनुहारि, रात, राइ, माति, घिसिआना, बरजना, ठाऊँ, परपंच, भर्म, छिया,आदि अनेक तद्भव शब्द अवधी में प्रयुक्त होते रहे हैं और आज भी होते हैं, जिनके कारण भाषा मधुर भी है और बलवती भी।

देशज शब्द की उत्पत्ति प्रायः रूप अथवा क्रिया साम्य के अनुकरण पर हो जाया करती है। ऐसे भी शब्द प्रयुक्त होने लगते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं लगता, अतः वे देशज शब्दों की श्रेणी में परिगणित कर लिये जाते हैं। इन शब्दों की अपनी निज की विशेषता होती है और ये भाषा की अपनी निज की सम्पत्ति होते हैं। इन शब्दों की विशेषता भाव-व्यंजना की दृष्टि से ही देखी जा सकती है, क्योंकि किसी भाव विशेष को व्यक्त करने के लिए ही इनका निर्माण हो जाता है। यहां पर कुछ ऐसे शब्द हम देखेंगे :

१. किसी वस्तु के सूख जाने पर उसके हिलने-डुलने से झुर-झुर का शब्द उत्पन्न होता है। अरहर के पौदे का झांखर, पत्तियों के सहित सूखी हुई पेड़ की डाल आदि के उदाहरण इस कथन की पुष्टि में दिये जा सकते हैं। इसी ध्वनि-साम्य से सूखी हुई वस्तु के लिए 'झुराना' शब्द निर्मित हो गया है। किसी वस्तु के सूखकर सम्पूर्णतः नीरस हो जाने का भाव इस शब्द के द्वारा बड़ी सफलता से व्यक्त होता है :

"दिन-दिन धन तन लाग झुराई"[१]

अथवा "भोलाशाह सुठाढ झुराना"[२]

उक्त उद्धरणों में एक ओर नायिका का शरीर वियोगाग्नि की ज्वाला से नीरस हो रहा है, दूसरी ओर भोलाशाह नैराश्य तथा चिन्ता के झोंकों में सूख रहा है।

२. मनुष्य प्रायः सीधा मार्ग ग्रहण करके ही चलता है। इसी सीधे मार्ग को ग्रहण करने की क्रिया "सिधाना" प्रतीत होती है। सीधा मार्ग ग्रहण करके चल देना ही सिधाना है :

---

१. कासिम, हं० ज०, पृ० १२३
२. वही, पृ० ११४

"लगू पथ उठि भोर सिधाऊं"[१]

सीधे चले जाने का भाव इस "सिधाने" से व्यंजित होता है।

३. किसी की धरोहर "थाती" कहलाने लगी है। सम्भवतः स्थायित्व से इसका सम्बध जोड़ा जा सके। जब कोई व्यक्ति अपनी वस्तु का स्थायित्व चाहता होगा तभी वह उसे अपने किसी मित्र के पास रख देता होगा और वह वस्तु "थाती" कही जाने लगी। बहुत सहेज कर रक्खी हुई वस्तु के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है।

"लीन्हे रहु बिस्वास गहि थाती"[२]

४. भाराक्रान्त हो जाने के अर्थ में "भरुहाना" शब्द प्रयुक्त होता है। शब्द का पूर्वार्ध तो "भार" से उत्पन्न जान पड़ता है किन्तु उत्तरार्द्ध "हाना" प्रत्यय देशज ही प्रतीत होता है।

"भै भरुहाइ अस्तुति जेइ कीन्हा"[३]

५. ढालुवा भूमि पर किसी वस्तु के ढुलकने को ढुरना, ढरकना कहते हैं। लुढकने के क्रिया-साम्य को लेकर इस शब्द की उत्पत्ति हुई जान पड़ती है। आंसू नेत्र से ढरक कर नीचे गिरते हैं :

"एक ढुरै दूजे भर आवै"[४]

"ढरकै आंस बात जो बोलै"[५]

६. "घर उजार पिउ अन्त भुलाना"[६] में उजार शब्द निर्जनता तथा शून्यता का बहुत ही प्रभावशाली आभास देता है। प्रिय की अनुपस्थिति में घर के ऊजड़ लगने का वास्तविक दृश्य उपस्थित हो जाता है।

जनसाधारण द्वारा व्यवहृत इन शब्दों की मार्मिकता तथा मधुरता इसी बात से स्पष्ट होती है कि कवियों ने स्पष्ट भावव्यंजना के लिए इनको अपनाया है। साधारण वार्तालाप में अवध का ग्रामवासी अब भी प्रचुर शब्दों का प्रयोग करता है और अपनी सम्पन्न शब्दावली का आभास प्रदान करता है।

विदेशी शब्दो को ग्रहण करने में हमारे कवियों ने बड़ी उदारता का परिचय दिया है यह हमने पहले भी कहा है। बहुत से शब्द अपने मूल रूपो में भी

---

१. हं० ज०, कासिम, पृ० १९१
२. जग० बानी, भा० १, पृ० १०७
३. जग० बानी, भा० १, पृ० १०७
४. कासिम, हं० ज०, पृ० १२३
५-६. " " " १३०

व्यवहृत होते हैं किन्तु उनमें सुविधानुसार परिवर्तन करके अथवा उनका संस्कार करके जनसाधारण के अन्तर्वासी इन कवियों ने उन्हें पर्याप्त रूप से श्रुतिसुखद बना दिया है। वास्तव में यह संस्कारिणी-शक्ति अवधी की सजीवता की परिचायिका है। बोलचाल की अवधी में आज भी, जरूर, लेकिन, सजा, रहम, खाना, औजार, जमीन, पोशाक, किताब, कलम आदि बहुत से विदेशी शब्द, स्वतंत्रता पूर्वक व्यवहृत किये जा रहे हैं। परन्तु काव्यभाषा में इस साधारण शब्द-चयन से कुछ अधिक सुरुचि अपेक्षित है। शब्द-चयन भी हो और काव्योपयोगिता भी, तभी कवि का भाषा-विषयक लक्ष्य सिद्ध हो सकता है। हमारे कवियों ने भी इस दृष्टि से विशेष सहृदयता दिखलाई है, इसका प्रमाण निम्नलिखित कुछ शब्द हैं :

१. बिरान, (बेगाना, फा०) "बहुतक फिरहिं गरब की माती खोजत पुरुष बिरान"[१]
२. अरदास (अर्जदाश्त, फा०) "अब अरदास सुनहु एह मोरी"[२]
३. निवाजा (निवाज, फा०) "बहुत निवाजा कहं लग गाजौं" [३]
४. गफिलाई (गफलत, अ०) "साधो .सतनाम है सांचा, मन भजु तजि गफिलाई" [४]
५. कुरबान (कुरबान, अ०) "सीस करु कुरबान"[५]
६. बंदगी (बन्दगी, फा०) "किया चहहु करि लेहु बंदगी"[६]

उक्त शब्दों में "अर्जदाश्त" के सारे कोने घिसकर उसे सम्पूर्णतः श्रुतिसुखद बना लिया गया है। सारा शब्द केवल कोमल अक्षरों का सचय रह गया है और काव्योपयुक्त हो उठा है। गफलत की परुषता को गफिलाई की सुकुमारता में परिवर्तित करके कवि ने मन के प्रति मधुर उद्बोधन देने योग्य भाषा प्रस्तुत कर ली है। अन्य शब्द भी मधुरता की दृष्टि से काव्य के लिए उपयोगी है। इस प्रकार का शब्द-चयन तथा संस्कार हमारे कवियों की प्रतिभा का सूचक है। अवधी भाषा की व्यापकता भी इससे पूर्णतः सिद्ध हो जाती है।

---

१. जग० बानी, भा० १, पृ० ८३
२. वही, पृ० ९२
३. वही, पृ० ९७
४. वही, पृ० १००
५. वही, पृ० ९४
६. वही, पृ० १११

माधुर्य तथा संगीत : उक्त उद्धरणों से यह बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है कि अवधी में काव्यभाषा के उपयुक्त पर्याप्त माधुर्य विद्यमान है। उसके अपने शब्दों की मधुरता के अतिरिक्त उसमें शब्दों को आत्मसात् करके उन्हें मधुर रूप प्रदान करने की शक्ति भी है, यह भी अनेक उदाहरणों से स्पष्ट होता है। इसके अतिरिक्त कुछ प्रत्ययों के व्यवहार द्वारा शब्दों को काव्योपयुक्त मधुरता अथवा संगीतात्मकता प्रदान करने की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। जिस प्रकार छोटे आकार की वस्तु प्रियदर्शन होती है उसी प्रकार लघुता-सूचक-शब्द भी विशेष आकर्षक तथा कोमल लगता है। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य भाषाओं में भी मिलती है। अंग्रेजी में Lock से Locket अथवा Book से Booklet बनाने में et प्रत्यय का प्रयोग करके शब्दों को लघुता-सूचक रूप दिया जाता है। अवधी में इया, इयां, इउं, वा, वां, आं, रा, अना, सि इत्यादि बहुत से ऐसे प्रत्यय है जिनके प्रयोग से शब्दों में सरसता तथा प्रियता उत्पन्न होती हैं। संगीतात्मकता में तो सहायता मिलती ही हैं। पदों में इन प्रत्ययों का प्रयोग विशेष बाहुल्य के साथ हुआ हैं। कुछ उदाहरणों से उक्त कथन को पुष्ट किया जा सकता है :

'इया' : "यहि बन गगन बजाव बंसुरिया"[१]

"नगरिया मोरी चित सों उतरि न जाय"[२]

"सूती सत्त सेजरिया री"[३]

"आवत जात रहट की घरिया"[४]

बिटिया, खटिया, लोटिया, मचिया आदि न जाने कितने शब्द इस प्रत्यय द्वारा निर्मित और प्रयुक्त होते हुए, अवधी क्षेत्र में उपलब्ध होते हैं।

'इया' : "निसि दिन लागि चरन की छहियां"[५]

"बिनु दीपक उजियरियां री"[६]

"ऐसे साईं की मैं बलिहरियां री"[७]

---

१. जग० बा०, भाग २, पृ० ३३
२. जग० बा०, भाग २, पृ० ४७
३. ,, ,, ,, २
४. ,, ,, ,, ३३
५. जग० बा०, भा० २, पृ० २
६. ,, ,, ,, १०६
७. ,, ,, ,, १०६

वास्तव में 'इयां' प्रत्यय 'इया' का ही थोड़ा सा परिवर्तित रूप है। उजियरिया, बलिहरियां, के अनुस्वार-रहित रूप भी बराबर प्रयुक्त होते हैं।

'इउं' : एउं और इउं क्रमशः एकवचन, उत्तम पुरुष, पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग के द्योतक हैं, तथापि इनके द्वारा निर्मित शब्द श्रुति-मधुर हो जाते है। साधारणतया उ० पु०, एकवचन, पुल्लिग तथा स्त्रीलिंग के लिये बहुवचन रूप 'हम' का ही प्रयोग होता है। 'हम गएन' 'हम गइन', साधारणतया प्रचलित रूप है, अतः उक्त, प्रायः अप्रचलित, प्रत्ययों से युक्त एकवचन शब्द विशेषतः मधुर लगते है :

"मैं निगुनी बन भूलि परिउ"[१]

"भइउं मस्तानी रे"[२]

'वा' 'वां' 'औं' : "जैहो ससुरवा परिहै जानि"[३]

"नइहरवां आइ सुधि बिसरी"[४]

"मनुआँ फागु खेल पहिचानी"[५]

उक्त तीनों प्रत्यय प्रायः एक ही है। केवल थोड़े से उच्चारण भेद से रूप में अन्तर हो जाता है।

'रा' : "सूतहि हियरा जुड़ाइ"[६]

"तासों जियरा डेराय"[७]

"सत्त नाम जप जीयरा"[८]

इस 'रा' का प्रयोग शब्दों को विशेष संगीतात्मक बना देता है।

'अना' : "माया रच्यो हिंडोलना"[९]

खटोलना आदि और भी शब्द इसी प्रत्यय से युक्त मिलते है। हिंडोला, खटोला, आदि शब्दों से ये शब्द विशेष श्रुति-मधुर हैं, यह कहना अनावश्यक है।

'सि' : "बाहर जब तें भयसि"[१०]

अहसि, आयसि, गयसि, देखेसि, सुनेसि, आदि शब्द अवधी में प्रचलित हैं; इनके साधारण रूप अहै, आवा, गा, देखे, देखेउ, सुने, सुनेउ आदि प्रायः प्रयुक्त होते हैं। इस प्रत्यय का एक रूप 'सु' भी व्यवहृत होता है। 'आएसु', 'गएसु' का प्रयोग आया, गया के अर्थ मे होता है।

---

१. जग० बा०, भाग २, पृ० ३
२. वही, पृ० ३
३. वही, पृ० ९
४. वही, पृ० ९
५. वही, पृ० ७६
६. जग० बा०, भा० २, पृ० १२
७. वही, पृ० ४७
८. वही, पृ० १२७
९. वही, पृ० ६४
१०. वही, पृ० ७२

इस प्रकार उक्त प्रत्यय-संयुक्त शब्द, भाषा को मधुरता तथा संगीतात्मकता प्रदान करते हैं। संगीतात्मकता के कुछ साधन और भी हैं। सबसे प्रमुख तथा बहुत प्रचलित साधन तो अन्त्यानुप्रास ही है। सम्पूर्ण छन्दोबद्ध-काव्य में इसका आधिपत्य है। इस दृष्टि से हमारे कवियों के ऊपर संस्कृत अन्त्यानुप्रास-हीन छंद-रचना का प्रभाव नही पड़ा था। सारा अवधी काव्य, तथा व्रजभाषा काव्य भी, इस तुकान्त छन्द-रचना से युक्त है और यह इतनी साधारण प्रवृत्ति है कि इसके विशेष उदाहरण अनावश्यक होंगे।

दीर्घान्तता दूसरा साधन है जिससे संगीतात्मकता उत्पन्न होती है। मुख-सुख अथवा उच्चारण की सुविधा इस दीर्घान्तता से विशेषतः प्राप्त होती है। चौपाई जैसे छन्द में तो अन्त की मात्रा का दीर्घ होना अनिवार्य ही है, अतः उसके विषय मे कुछ कहने की आवश्यकता नही। केवल दो एक उदाहरणो से यह स्पष्ट किया जा सकता है कि ह्रस्वान्त ध्वनियां भी इसी नियम का पालन करने के लिए, चौपाई में दीर्घान्त कर दी जाती हैं, और इसी कारण स्वर-प्रधान हो जाने पर वे विशेष संगीतात्मक हो जाती है।

"चातक भई रटै पिउ पीऊ, कोक रैनि लिये हर जीऊ।"[१]

"कै वैरी अस कीन्ह बिछोहा, जिन जिउ लीन्ह दाग तन कोहा।"[२]

उक्त उद्धरणों में अर्द्धालियों का प्रत्येक चरण दीर्घान्त कर दिया गया है जो छन्द का पूर्ण करने के साथ-साथ प्रवाह तथा संगीतात्मकता उत्पन्न करता है। पदो में, जहां पर इस प्रकार की दीर्घान्तता सम्भव नही हुई है, वहां पर चरण के अन्त में रे, री, हो आदि सम्बोधन-सूचक दीर्घान्त ध्वनियां जोड़कर उसे संगीतमयता प्रदान की गई है। उदाहरणार्थ :

"कर न सुमिरिनी लेहु, अंतर धुनि लावहु रे।"[३]

इस पंक्ति मे यदि अन्तिम 'रे' को निकाल दिया जाय तो या तो उसके पूर्व की ध्वनि 'हु' को दीर्घ 'हू' करके गाना पड़ेगा अन्यथा प्रवाह में बाधा पड़ेगी।

"चरन सरन अब आयों मैं नहिं जानी रे।"[४]

इस पंक्ति में 'रे' के पूर्व की ध्वनि 'नी' यद्यपि दीर्घ है तथापि 'रे' को निकाल

---

१. हं० ज०, पृ० १३९
२. वही, पृ० १३९
३. जग० बा०, भा० १, पृ० १०२
४. ज० बा०, भा० १, पृ० २३

दिया जाय तो गाते समय उसके पूर्व की दो ध्वनियों को दीर्घतर करना अनिवार्य हो जायगा, जाऽऽ नीऽऽ; तभी पद की गेयता सिद्ध हो सकेगी।

"सुनु सुनु सखि री, चरन कमल तें लागि रहु री।"[१]

"आय कै झगरा लायो रे।"[२]

"कहां गयो मुरली को बजैया, कहां गयो रे।"[३]

"रंगि रंगि चंदन चढ़ावहु, साईं के लिलार रे।"[४]

यह स्पष्ट विदित होता है कि उक्त उद्धरणों मे 'रे' का कोई अर्थ नहीं है, यह केवल निरर्थक प्रयोग है, इसकी सारी उपयोगिता केवल पद को संगीतमय तथा उच्चारण-सुकर बनाने के लिए ही है। जहां कही दीर्घान्त चरण स्वतः संगीतात्मक है वहा चरण के मध्य में भी सुविधानुसार इस प्रकार की ध्वनि का उपयोग कर लिया गया है।

"पैंया परि मैं हारिउ हो, तुम दरद न आनी।"[५]

"ज्ञान गुन कौन कहै रे भाई।"[६]

इस प्रकार सरल तथा स्वाभाविक साधनों की सहायता से हमारे लोक-कवियों ने अपने काव्य मे सगीतात्मकता उत्पन्न की है। इनमें संगीतशास्त्र के नियमों का पालन भले ही न हो किन्तु निर्झर की स्वरलहरी अथवा खगकुल-काकली का संगीत अवश्य विद्यमान है, और वही वास्तव मे सगीत का मौलिक रूप है।

संक्षेपतः काव्य-भाषा का यह सरल, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण, उदार तथा संगीतमय रूप हमारे कवियों की स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक है। अवधी का सम्बन्ध जनता से ही विशेष होने के कारण तत्कालीन अवधी भाषा-भाषी जनता की मनोवृत्ति इन कवियों के काव्य में प्रतिफलित होती लक्षित होती है। स्पष्ट है कि अवधी-क्षेत्र की जनता में जिस भाषा का विकास हो रहा था, वह पूर्णतः सजीव तथा गतिशील थी। उसमें सूक्ष्मतम भावों को व्यक्त करने की सामर्थ्य थी, अन्य भाषाओं के शब्दों को आत्मसात् करने की उदारता थी, अवधी से इतर क्षेत्रों को भी प्रभावित कर लेने की व्यापकता थी तथा पर्याप्त मधुरिमा तथा संगीतात्मकता थी। भले ही वह शास्त्रीयता तथा पंडित-मंडली के प्रभाव में अधिक न आई हो, परन्तु उसका मुक्त वातावरण मे विकसित रूप अपने निजी गुरुत्व से वेष्ठित था।

---

१. जग० बा०, भा० १, पृ० ८८
२. वही, भा० २, पृ० ८५
३. वही, पृ० ८५
४. जग० बा०, भा० २, पृ० २
५. वही, पृ० ३९
६. वही, पृ० २०

तत्कालीन काव्यभाषा, ब्रजभाषा के विषय में स्थान-स्थान पर अनेक बार कथन हो चुके हैं। उसकी प्रौढ़ता, प्रवाह, संगठन आदि के विषय में बहुत कुछ कहना विशेष आवश्यक नहीं प्रतीत होता। अवध प्रान्त के प्रमुख शृंगारी कवियों की भाषा तो एक मात्र ब्रजभाषा रही ही है और उन्होंने उसका जितना अधिक सस्कार कर लिया था उससे अधिक की सम्भावना भी प्रतीत नही होती। उनकी भाषा में कथित-विषय को तत्काल हृदयंगम करा देने की शक्ति थी। भाषाधिकार का यह सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। दोहा छन्द में इस गुण का उपयोग, कवि की भाषा सम्बन्धी चातुरी को और भी अधिक व्यक्त करता है। संक्षिप्त-गुण के लिये भाषाधिकार सर्वश्रेष्ठ साधन है। छन्द-रचना में उपयुक्त शब्द-सकलन के आधार पर सत्कवियों ने पर्याप्त गति-माधुर्य उत्पन्न किया है। सरल स्वाभाविक तथा मृदु-मंद गति से चलता हुआ छद-प्रवाह, शीतल, मंद, सुगन्ध समीर का आभास देता है। उसमें झंझावात के समान उद्वेग नही होता, सवैया छन्द में उक्त गति-सौन्दर्य विशेष दर्शनीय होता है।

शब्द-संगठन हमारे कवियों का विशेष गुण है। वातावरण के अनुकूल शब्द-चयन करने की प्रवृत्ति इनमे सदैव विद्यमान रही है। हमारा अभिप्राय अनुप्रासाक्रान्त शब्दावली से नही है जो भाषा की गति में पद-पद पर बाधक होती है, परन्तु रसानुकूल स्वाभाविक शब्द-संगठन, स्वतः-अलंकृत भाषा सदैव ही काव्य-सौष्ठव की सहायक होती है और इस प्रकार की भाषा का हमारे कवियो में प्राचुर्य है। कही पर कवि, शब्दों को वांछित ध्वनि के अनुकूल प्रयोग करता है, कही पर चमत्कार-वृत्ति से प्रेरित किन्तु मानव-स्वभाव के अनुकूल, एक ही शब्द की पुनरुक्ति करके भाव-व्यंजना तथा आकर्षण उत्पन्न करता है और कहीं पर अनेक मुहाविरों, बोलचाल के प्रयोगों का व्यवहार करके भाषा को सुसंगठित बना देता है। उक्त गुणो के फलस्वरूप, भाषा में जो प्रवाह उत्पन्न होता है वह शब्द-साधना का सफल परिणाम कहा जा सकता है। हमारे कवियों मे द्विजदेव, वेनी प्रवीन, दास, वेनी भट्ट और रसलीन का भाषा के ऊपर असाधारण अधिकार दृष्टिगत होता है। द्विजदेव की भाषा तो सर्वगुण-सम्पन्न है ही। वेनी प्रवीन तथा बेनी भट्ट में सफाई, लोच तथा प्रवाह का प्राधान्य है और दास जी शब्द-संगठन के अधिकारी है। भूपति जी मे संक्षिप्त-गुण पर्याप्त परिलक्षित होता है। भाषा इन कवियों के लिए भाव-प्रदर्शन का वह साधन थी जो पूर्णतः उनके वश में रही। यहां पर हम उक्त गुणों से युक्त भाषा के दो एक उदाहरण प्रस्तुत कर देना ही पर्याप्त समझते हैं।

बेनी प्रवीन का निम्नलिखित सवैया देखिए :

"भृकुटी धनु बेसरि मोर मनो, मनि मानिक इंदु बधू जितु है।
दुति दामिनि कोर हरी बन बेलि, घटाघन घूघुटु सो हितु है।
उमगी रस बेनी प्रवीन रसाल, भयो अब चातक सों चितु है।
हित रावरे नौल किसोर लला, अबला भई पावस की रितु है।"[1]

उक्त छन्द का सम्पूर्ण शब्द-संगठन मधुर तथा श्रुति-सुखद है। द्वित्व-वर्णों का प्रयोग नगण्य है। 'भृ' तथा 'प्र' केवल दो संयुक्ताक्षर प्रयुक्त हुए हैं जो रकार से युक्त होने के कारण मधुरता में व्याघात नहीं उत्पन्न करते। शेष अक्षर तवर्ग तथा पवर्ग से विशेषतया संकलित होने के कारण मधुरता-प्रधान हैं। सारा छन्द कर्ण-प्रिय शब्दावली से युक्त है। अनुप्रास का सरल तथा स्वाभाविक प्रयोग, भाषा में प्रवाह तथा गति उत्पन्न करता है और जिह्वा का संचालन, अबाध रूप से होता है। एक शब्द से दूसरे शब्द के उच्चारण पर जाने में न तो बाधा उत्पन्न होती है और न प्रयास करना पड़ता है। छन्द-पाठ में गति, मृदु तथा मंथर रूप से चलती है। सवैये में दो लघु और एक गुरु के क्रम से ८ सगण हैं। स्वराघात में तोड़-मरोड़ नहीं है। दो एक स्थलों को छोड़कर कहीं भी दीर्घ का ह्रस्व अथवा ह्रस्व का दीर्घ नहीं बनाना पड़ता। कवि के नाम में अवश्य 'बेनी' का 'नी' ह्रस्व करके पढ़ना पड़ता है और अन्तिम चरण में 'भई' का 'ई' भी ह्रस्व करना पड़ता है, किन्तु इससे प्रवाह में बाधा नहीं आती और छन्द की लोच अक्षुण्ण बनी रहती है। उक्त सम्पूर्ण गुणों के कारण भाषा सरल, सुन्दर, संगठित तथा प्रवाह युक्त है। अनुप्रास, उपमा तथा रूपक की सहायता से कवि ने वर्ण्य-विषय को शीघ्रतम ग्रहणीय बना दिया है। इस सफाई के कारण कवि का भाषाधिकार स्पष्ट है। सुसंगठित तथा सबल भाषा का यह छन्द सुन्दर उदाहरण है।

द्विजदेव जी का एक छन्द देखिए :

"गुंजरन लागीं भौंर भीरैं केलि कुंजन में,
क्वैलिआ के मुख तें कुहूकनि कढ़ै लगी।
द्विजदेव तैसे कछु गहब गुलाबन तें,
चहकि चहूंधा चटकाहटि बढ़ै लगी।
लागो सरसावन मनोज निज ओज रति,
बिरह सतावन की बतिआं गढ़ै लगी।

---

१. न० त०, छं० १४६

होन लागी प्रीति रीति बहुरि नई सी,
नवनेह उनई सी मति मोह सों मढ़ै लगी।"[१]

उक्त छन्द में वसन्तागम-जन्य परिवर्तन का चित्रण है। वातावरण की सृष्टि करना ही इस छन्द की भाषा का प्रमुख उद्देश्य है। उक्त वातावरण में व्याप्त अनेक प्रकार की ध्वनियों का अनुकरणवाची कथन, वांछनीय प्रभाव उत्पन्न करने मे सफल होता है। अनुप्रास भी इस प्रयास में बहुत कुछ सहायक होता है। प्रस्तुत छन्द में गुंजारना, कुहुकना, चटकाहट अनुकरणवाची शब्द हैं। वसन्त के प्रमुख उद्दीपन भ्रमर, कोकिल तथा गुलाब इन ध्वनि-शब्दों के द्वारा वातावरण मे सजीवता उत्पन्न कर देते है। इन शब्दों के साथ संयुक्त, अनुप्रास वातावरण को और भी तन्मयतापूर्ण बना रहे हैं। "गुंजरन लागी भौंर भीरें केलि कुंजन मे" चरणार्द्ध अनुस्वार-युक्त-ध्वनि-सम्पन्न होने के कारण भ्रमरावली के शब्द का मधुर-मादक प्रभाव उत्पन्न करता है। "कुहुकनि कढ़ै लगी" में भी कोकिल के स्वर का कर्ण-प्रिय प्रभाव है। "गहवे गुलाब" पूर्ण उत्फुल्लता व्यक्त करता है तथा "चहकि चहूंधा चटकाहटि बढ़ै लगी" में कवि-प्रौढ़ोक्ति-प्रतिपादित पाटल पुष्प का प्रात.कालीन स्वस्थ विकास सूचित होता है। "नवनेह उनई सी मति मोह सो मढ़ै लगी" कथन से स्नेहातिरेक-जन्य मोह द्वारा अभिभूत मनोवृत्ति की श्लथता का मद-विह्वल प्रभाव अनुभूत होता है। सारे छन्द में यद्यपि अनुप्रास का प्राधान्य है तथापि भाषा भाराक्रान्त नही है और उसमे स्वाभाविक गति है। भाषा-विषयक प्रौढ़ता तथा कलात्मकता के ऐसे अनेक उदाहरण हमारे कवियो मे उपलब्ध हो सकते हैं, यह कथन अनावश्यक है। यहा पर हम कुछ फुटकर पंक्तियां प्रस्तुत करके इस विषय को समाप्त करेंगे :

१. "हरे हरे पातन पवन हरे हरे करै,
गरे गहवरे नैन भरे धरे शीश पानि।"[२]

"हरे" का चार बार प्रयोग दो अर्थों में हुआ है। प्रथम "हरे हरे" का अर्थ ताजे, फलतः शीतल के लिए हुआ है, दूसरे "हरे हरे" का अर्थ मंद गति के लिए हुआ है। विरह-उत्ताप की अधिकता तथा नायिका की सुकुमारता का आभास उक्त शब्दावली द्वारा बहुत स्पष्ट रूप में मिलता है।

२. मुहाविरों का प्रयोग भाषा-संगठन का एक प्रमुख साधन है। भाव-व्यंजना के लिए मुहाविरों का प्रयोग एक प्रकार से अनिवार्य कहा जा सकता है। वक्रता

---

१. ऋ० ल०, छं० २
२. वेनी, र० वि०, छं० ५०

तथा रोचकता उत्पन्न करने में भी मुहाविरे बहुत कुछ सहायक होते हैं। हमारे कवियों में इनका प्रचुर प्रयोग मिलता है :

गंगा : "धराधर ते धरा को धाई सुधा सी बरसि कै।"[१]

बेद-पुराण का कथन है : "पाप के पहार छार होत हैं भरसि कै।"[२]

गंगा-विनय : चाहे अनचाहे हू निबाहे मोहि बनैगो।"[३]

राम से विमुख व्यक्ति : "सांड़ सम बागे त्यों विवेक ह्वै बिदागे।"[४]

कृष्ण के प्रति नायिका: "चाकर चेरे परे चरवाहे हैं ऐसे हमारे बबा के घनेरे।"[५]

सुरति-गुप्ता की उक्ति : "तोरि तनी तन छोरि अभूषन,
भूलि गई गल देन को फांसो।"[६]

राम के प्रति : "एती अनाकनी कीबो कहा रघु के कुल में को कहाइ कै नायक॥"[७]

कृष्ण "कारे अरारे निहारे इन्हें सखि रोम उठें अखियां भरि आवें।"[८]

मानिनी : "सीखत न सीख नखसिख ते अनख भरी
कठिन महा है माई मूरिख रिझाइबो॥"[९]

दूती-उक्ति : "आली मानु कहा मानु है जो पाके रस पाइबो।"[१०]

सुकुमारता : भूख न प्यास कछू अति ही कुम्हिलानियें जाति मुठी कैसो फूलु है"[११]

दूती : हांसी की बात कछूक उनारि, सुलारि संदेसो प्रियाहि सुनायो।"[१२]

भाषा-प्रौढ़ता का उक्त विकास अभी तक (ब्रज को छोड़कर) हिन्दी की अन्य उप-भाषाओं को प्राप्त नही हो सका है इसके प्रमाण मे हम आधुनिक भाषाधिकारी कवि निराला की सम्मति उद्धृत कर देना यहा पर अनुचित नहीं समझते :

"ब्रजभाषा, साहित्य के विचार से मधुर भाषा है। उसके शब्द टूटते हुए इतने मुलायम हो गए हैं, जिससे अधिक कोमलता आ नही सकती। ब्रजभाषा का प्रभाव तमाम आर्यावर्त तथा दाक्षिणात्य तक रहा है। सभी प्रदेशों के लोग उसकी मधुरता के कायल थे। बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओ मे

१. बेनी भट्ट, स्फुट १५
२. वही
३. बेनी भट्ट, स्फुट १९
४. वही ८
५. बेनी, न० त०, छं० ४३६
६. बेनी, न० त०, छं० ७१
७. का० नि०, दास, छं० १८
८. वही, छं० ११
९. फा० अ० प्र०, सुखदेव, पृ० १११ छं० ९६
१०. वही, पृ० १११, छं० ९६
११. रसार्णव, सुखदेव, ७४
१२. वही, २३४

उसकी छाप मिलती है। ब्रजभाषा साहित्य के अंग के अपर प्रान्त वाले भी अपनी भाषा को ब्रजभाषा की तरह, उसी तूलिका से, मधुसिक्त कर देते हैं। यही साधना खड़ी बोली के लिए जरूरी है।"[1]

काव्य-शैली

मुक्तक : शैली में कवि का व्यक्तित्व निहित रहता है, इसमे सन्देह नहीं। इस आधार पर यदि यह कहा जाय कि वह अपनी रुचि के अनुकूल भाव-व्यंजना के साधन ग्रहण करता है, तो अनुचित न होगा। परन्तु कवि द्वारा किसी विशेष शैली का ग्रहण, केवल मात्र व्यक्तिगत रुचि पर ही निर्भर नही करता। काव्यगत रसात्मकता तथा परंपरा भी बहुत कुछ अपना प्रभाव डालती हैं और इनके कारण, अनेक स्थलों पर कवि को अपनी व्यक्तिगत रुचि का शमन करके परिस्थितियों के अनुकूल शैली-विशेष का उपयोग करना पड़ता है। इसमें सन्देह नही कि हमारे आलोच्य कवियों पर अधिकांशतः परम्परा का प्रभाव था, रसात्मकता का नम्बर दूसरा था तथा व्यक्तिगत-रुचि का प्रश्न उनके सम्मुख प्रायः नही उठा। अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुगमन करने में ही उन्होंने मर्यादा की रक्षा समझी अतः परम्परा से चली आती हुई भाव-प्रदर्शन शैली को अपनाकर उन्होंने अपने को एक क्षेत्र-विशेष ही तक सीमित रक्खा।

रसात्मकता की दृष्टि से उनका सारा शैली-चयन अपने क्षेत्र मे ही हुआ है, उससे बाहर जाने की आवश्यकता उन्होने नही समझी। इसे संकीर्णता कहा जा सकता है, किन्तु इस संकीर्णता का उज्वल-पक्ष भी है। जहा एक ओर हमारे कवि कुछ थोड़े से गिने-चुने छन्दों को लेकर ही भावव्यंजना करते रहे, वहा दूसरी ओर उन्होंने उक्त छन्दो पर जैसा अधिकार प्राप्त किया, जितनी कलात्मकता से उन्हे सुसज्जित किया, वह अन्यत्र दुर्लभ है। समस्या-पूर्ति जैसी कला-कुशलता हमारे कवियों को इसी कारण प्राप्त हो सकी, क्योंकि कुछ विशेष छन्दो पर उनका पूर्ण अधिकार था। एक चरण अथवा चरणार्ध को आदर्श-रूप सम्मुख रखकर, समान-सौन्दर्य-पूर्ण शेष चरणों की रचना कर देना उनके असाधारण अभ्यास तथा भाषाधिकार का द्योतक है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। आज भी उर्दू के शायर अपनी रूढ़िगत शेर(ग़ज़ल) शैली को अपनाए हुए हैं और उस पर उन्हे जो महारत (अभ्यास) हासिल है वह मुशायरा-प्रेमियों से छिपी नही है। अस्तु।

---

१. 'साहित्य और भाषा' नामक निबंध; प्रबंध-पद्म पृ० १४-१५ (निराला कृत)

हमारे आलोच्य कवियों का काव्ययुग मुक्तक-शैली का युग था। परम्परा द्वारा तो उन्हें मुक्तक का उपहार अपने पूर्ववर्ती कवियों से प्राप्त हुआ ही था, परिस्थितियां भी उन्हें मुक्तक-प्रयोग की ओर ही प्रेरित करती रही। दरबारों का वातावरण, जनसाधारण को तत्काल प्रभावित कर देने की आवश्यकता, थोड़े में बहुत कुछ कह डालने की कला, चमत्कार, चमत्करण आदि ने उन्हे मुक्तक-शैली को अनिवार्यतः ग्रहण करने के लिए बाध्य किया। रजवाड़ों में आश्रित कवियों को अपने आश्रयदाता के सम्मुख कोई ऐसी बात कहनी आवश्यक थी जो सारे दरबार के मुंह से "वाह वाह" की ध्वनि निकलवा ले, उनका पर्याप्त मनोरंजन कर सके। कविवर कुछ ऐसी अनूठी उक्ति प्रस्तुत करें जो श्रोताओं के हृदय में पैठ जाय और उनके प्रतिभा-चमत्कार का सिक्का जमा दे। दूसरी ओर, सन्त महात्माओं की वाणी के लिए यह आवश्यक था कि वह जनता को सूत्र-रूप में, सूक्तियों द्वारा कुछ उपदेश दे सकें, कोई ऐसी अद्‌भुत उक्ति प्रस्तुत करें कि श्रद्धालु-समाज आश्चर्य-सागर में डूबकर उनके गूढ़ कथन के रहस्य को सुलझाने में लग जाय अथवा अपनी तन्मयता में वे कुछ ऐसा राग गाएं जो श्रोता के हृदयों को अभिभूत कर ले। और इन सब कथनों के लिए छोटे-छोटे छन्दों की आवश्यकता थी। दोहा, छप्पय, पद, कवित्त-सवैया जैसे छन्द इन छन्दों में प्रधान हैं। इन्ही का प्रयोग हमारे कविवर्ग ने अधिकांशतः किया है। उक्त छन्दों के द्वारा "एक मर्मस्पर्शी खण्ड दृश्य"[१] प्रस्तुत करते हुए हमारे कवियों ने कहीं तो अभिनवगुप्ताचार्य के कथनानुसार "पूर्वा पर निरपेक्षापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्" के सिद्धान्त को चरितार्थ किया है और कहीं-कहीं पर बिना रस-निष्पत्ति के केवल वाग्वैदग्ध्य का ही प्रदर्शन किया गया है।

मुक्तक छन्दों में दोहा बहुप्रचलित तथा व्यापक छन्द रहा है। प्रबंध काव्यों में भी इसका उपयोग, बहुलता के साथ हुआ है, यद्यपि कथा-प्रबंध के बीच मे भी उसे "पूर्वापर निरपेक्ष" रूप में देखा जा सकता है। कथा के विशेष स्थलों के आधार पर, एक दोहे के द्वारा सिद्धान्त-कथन की शैली इन काव्यों में विशेष रूप से अपनाई गई है। ये सिद्धान्त, नीति, उपदेश, सूक्ति, दर्शन-सम्बन्धी हो सकते हैं। ऐसे दोहों की भाषा साधारणतया सरल, स्पष्ट तथा व्यंजक होती है। "हंस-जवाहिर" मे मीर बहादुर और दौला मीर के युद्ध में, मीर बहादुर की सांग द्वारा दौला मीर को वीर-गति प्राप्त होती है। कवि उसके यशस्वी जीवन का स्मरण करते हुए नीति-कथन करता है :

---

१. सतसई-सप्तक- श्या० सु० दास (भूमिका)

"कासिम जो जस कै मुये, मुये पुरुष सो नाहिं।
तन अलोप भा जगत ते, यश जीवै जग माहिं॥"[1]

उक्त दोहा कथा-प्रबंध से बिलकुल स्वतंत्र रूप में भी देखा जा सकता है। उसे मुक्तक श्रेणी में रखा जा सकता है। इसी प्रकार हंस की मृत्यु और उसके साथ रानियो के सती हो जाने पर कवि दार्शनिक सिद्धान्त-निरूपण करता है :

'छारहि ते साजा सबै, छारहि जो सब मांज।
छारहि मांझ स्वरूप है, देखि सो दरपन मांज॥''[2]

इस दोहे को भी पूर्णत: स्वतंत्र दृष्टि से देखा जा सकता है। कथा-प्रवन्ध से इसका सीधा सम्बन्ध नहीं है।

भक्ति-प्रधान कथा प्रवन्धों में भी दोहे का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि ये प्रबंध, कथात्मक से प्रतीत होते हैं तथापि इनमे सिद्धांत-निरूपण ही प्रधान होता है। इस सिद्धान्त-निरूपण की रूक्षता को दूर करने के लिए सम्पूर्ण कथन, संवाद-शैली मे रख दिये जाते है। गुरु-शिष्य पार्वती-शंकर, नारद-ब्रह्मा अथवा इसी प्रकार के ऋषिवर्य के बीच वार्तालाप दिखलाकर कवि प्रश्नोत्तर द्वारा अपने विषय को सर्वग्राह्य बनाने का प्रयत्न करता है। प्राय: इन सवादों मे दोहा-चौपाई अथवा दोहा-कवित्त-सवैया-शैली ग्रहण की गई है। सुखदेव मिश्र का 'अध्यात्म प्रकाश' जगजीवन दास के 'प्रथम ग्रंथ' तथा 'मनपूरना' तथा दास जी का 'विष्णुपुराण भाषा', इसी शैली में लिखे हुए ग्रथ हैं। यहां पर दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे :

(१) शिष्योवाच : "मूल अविद्या तुम कही, सब उपाधि को देव।
देह लिंग अरु स्थूल को आनो चाहत भेव॥"

गुरु उवाच : 'नासिका नयन त्वचा रसना मिलि कान ए इन्द्रिय ज्ञान बखानो।
वाक नियानि निपाऊ उपास्य पदो मिलि पांच ह्वै कर्म विधानो।
प्राण अपान समान और व्यान उदानहि और मनोबुद्धि मानो।
भूतमन पाचहु तत्वनि ते ए हम यह तत्व को सूक्षम जानो॥''[3]

(२) शिष्य : "पूछौं मैं कर जोरि कै, कहो सो गुरु समुझाइ।
कौनो युक्ति सृष्टि में, कहो सो मोहिं चेताइ॥"

... ...

---

१. हं० ज०, पृ० २५५
२. हं० ज०, पृ० २७१
३. अध्यात्म-प्रकाश, सुखदेव मिश्र (निजी-संग्रह से)

नायिकाओं में से कुछ का विस्तृत वर्णन है और कुछ की उपेक्षा है, ऋतु-वर्णन विस्तृत है। हास्यरस केवल एक दोहे में कहा गया है। शान्तरस बाईस दोहों में कहा गया है। सपत्नी, बावली, गंवारी, अन्योक्ति जैसे कवि-परम्परा से इतर विषय भी ग्रहण किए गए हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भूपति कवि ने अपनी रुचि के अनुकूल ही रचनाएं की हैं, किसी परम्परा का पालन करने मात्र के लिए नहीं। शान्तरस में कुछ दार्शनिकता भी दृष्टिगत होती है अन्यथा विषय साहित्यिक है। शेष सभी कवियों ने रीतिबद्ध रचना की है और लक्षण-उदाहरण के क्रम में दोहे का प्रयोग किया है।

सोरठे का इतिहास भी दोहे जैसा ही प्राचीन है; अपभ्रंश काव्य में उसका पर्याप्त प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ :

"वाढी तो वढवाण वीसरता न वीसरइ।
सोना समा पराण भोगावह पइं भोगवीइ।"[1]

तथापि सोरठा इतना लोकप्रिय तथा व्यवहृत नहीं हुआ जितना दोहा।

दार्शनिक तथा साहित्यिक, दोनों ही क्षेत्रों में दोहे का उपयोग हुआ है, यद्यपि युग की परिस्थितियों के अनुसार साहित्यिकता की ओर रुचि विशेष दिखलाई पड़ती है। सन्त कवि जगजीवन ने दोहे का प्रयोग दार्शनिक क्षेत्र में किया है। परम्परा के अनुसार यह दार्शनिकता, भारतीय वेदान्तवाद तथा इसलामी एकेश्वरवाद का मिश्रण है। इसमें ईश्वर की एकता, उसकी निराकारता तथा सर्वव्यापकता की ओर निर्देश है। व्यावहारिकता के लिए उसमें 'नाम' द्वारा भगवत्-स्मरण किया जाता है। जीव उसे प्राप्त करने के लिए अहंकार-त्याग, दया, क्षमा, सहिष्णुता आदि सद्गुणों को स्वीकार करे, तभी उसका निस्तार हो सकता है। साधना की दृष्टि से गुरू की शरण तथा सुरति-सलग्नता ही जीव को परमात्मा तक पहुचा सकती है। कबीर के ये मिश्रित सिद्धान्त बहु-विश्रुत है और उनके परवर्ती सम्प्रदायो ने भी घुमा फिरा कर प्रायः इन्ही सिद्धान्तो को स्वीकार किया है। जगजीवन ने भी पद तथा दोहा शैली मे इसी दार्शनिकता का प्रतिपादन किया है। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

"इहां तो कोऊ रहि नहीं, जो जो धरिहैं देहं।
अंतकाल दुख पाइहो, नाम तें करहु सनेह ॥४॥"[2]

---

१. पुरानी हिन्दी, पृष्ठ ५३
२. जग० शब्दा०, भा० २, पृ० १२७

"जगजीवन गुरु सरन ही, अंतर धरि रहु ध्यान।
अजपा जपु परतीत करि, करिहैं सब औसान ॥७॥"[१]

"गुप्त प्रकट समुझा चहै, भजै नाम करि हेत।
काया आसन दिढ़ करै, सुमिरत रहै सचेत॥"[२]

"जिन केहु सुरति संभारिया, अजपा जपि भै संत।
न्यारे भवजल सबहि तें, सत्त सुकृति तें तत ॥१५॥"[३]

दार्शनिकता का भारतीय स्वरूप, प्रधानतया अवतारवाद तथा पौराणिकता में लक्षित होता है और शृंगारात्मकता अथवा शुद्ध भक्ति के द्वारा यह व्यक्त होता है। भूपति जी ने अपनी सतसई में दोहा-शैली का आंशिक उपयोग उक्त दार्शनिकता को व्यक्त करने के लिए किया है। रीति-बद्ध रचना करने वाले कवियों में सुखदेव, दास, रसलीन, बेनी भट्ट तथा बेनी प्रवीन ने राधाकृष्ण अथवा रामभक्ति के आश्रय से अपने दार्शनिक विचार व्यक्त किए हैं। अनन्यता ही इस दार्शनिकता का तत्व है। शान्तरस के उदाहरण प्रस्तुत करके भी कवि ने दार्शनिकता को प्रश्रय दिया है। ब्रह्म-रूप में ईश्वर की सर्वोपरिता, राम और कृष्ण मे उस श्रेष्ठता का आरोप, रागात्मक वृत्तियो के एक मात्र आलम्बन राम-कृष्ण, संसार और जीवन की अनित्यता, भगवद्-भजन में जीवन की सफलता आदि विचारो को व्यक्त करके कवियो ने ईश्वर और जीव सम्बन्धी काव्य की रचना की है। रामकृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओं के प्रति भी कवि का भक्ति-भाव, गौण रूप से व्यक्त हुआ है। अवतारवाद से सम्बद्ध यह शैली, निर्गुणवाद सम्बन्धी पूर्वोक्त शैली से अधिक साहित्यिक है क्योंकि इसमें सौन्दर्य की ओर ध्यान विशेष है। निम्नलिखित उदाहरणों से इस रचना-शैली का परिचय मिल जायगा।

"गेह नेह बिन काम को जो बसि तीरथराज।
कितक राज धन राज कित जी मन श्री बृजराज॥"[४]

---

१. जग० शब्दा०, भा० २, पृ० १२७

२. परम ग्रंथ, जग०

३. जग० शब्दा०, भा० २, पृ० १२७, २८

४. भू० स०, दो० ६८८

"ऐसी कछु उपजै हियैं, छोड़ि जगत की आस।
स्यामा स्यामैं ध्याइये, करि वृन्दावन वास॥"[१]

"भक्ति तिहारी यों बसैं, मो मन में श्रीराम।
बसे कमिजन हियनि ज्यों, परम सुन्दरी बाम॥"[२]

"अवधि कियो तुम वास, यह बनहू है औधिबन।
मेरो यहां निवास, किये बनैं प्रतिपाल अब॥"[३]

"रघुकुल सरसीरुह बिपुल सुखद भानुपद चारु।
हृदै आनि हनि काम मद कोह मोह परिवारु॥"[४]

साहित्यिक क्षेत्र में दोहे का शुद्ध भारतीय स्वरूप अनुभूति, कल्पना तथा आलंकारिकता से युक्त दृष्टिगत होता है। इन दोहों की परम्परा तथा वातावरण भारतीय है। विरहानुभूति में भारतीयता के अनुसार नायिका की वेदनाओं का वर्णन ही प्रधान है। कल्पना की उड़ान, जीवन-क्षेत्र से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करती हुई नहीं दृष्टिगत होती है। अतिशयोक्ति का उद्देश्य भी हृदय पर प्रभाव डालना ही होता है, केवल अद्भुत वातावरण की सृष्टि करना नहीं। उपमेय और उपमान भारतीय होते है, परम्परागत चन्द्र, कमल, कोकिल, चातक, लता, पुष्प आदि उपमान ही प्रधानतया व्यवहृत होते हैं। साहित्यिक परम्परा को दृष्टिगत रखते हुए, कवियों ने ग्लानियुक्त वर्णनों को निरंतर बचाने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार भारतीयता के आधार पर रचे हुए ये मुक्तक, विशेष सहृदयतापूर्ण तथा मर्मस्पर्शी हैं। हमारे कवियों में अधिकांश दोहाकार नहीं हैं। केवल काव्यालंकार-लक्षणों का कथन कर देने के लिए भले ही इस छन्द का प्रयोग कर लिया गया हो, किन्तु कलात्मक-काव्य-रचना के लिए इसका उपयोग भूपति, रसलीन तथा बेनी भट्ट ने प्रधानतः किया है। इनके कुछ उदाहरण यहा पर प्रस्तुत किए जाते हैं।

"घटत बढ़त रजनी सहित करत अधिक दुखदंद।
रहत सदा पूरन उयौ सुखद तिया मुख चंद॥५२७॥"[५]

१. न० त०, दो० ५३३
२. का० नि०, पृ० २४३
३. भू० स०, दो० ७००
४. का० नि०, पृ० १७२
५. भूपति सतसई

"मुख छवि निरखि चकोर अरु तन पानिप लखि मीन।
पद पंकज देखत भंवर होत नयन रस-लीन ॥१७५॥"[१]

"फूले कुंजन अलि भ्रमत शीतल चलत समीर।
मान जात काको न मन जात भानुजा तीर ॥६५०॥"[२]

"सहज बात हूं भृकुति है ललित लता सी बाल।
फूल भरी सुकुमार अति क्यों लाऊं नंदलाल ॥३१८॥"[३]

"चंदन वंदन भाल पर अधर सु अंजन रेख।
माली बन माली धरे अद्‌भुत वेनी वेष ॥१६३॥"[४]

उक्त उदाहरणों में संस्कारगत-सौन्दर्य की छाया स्पष्ट है। यमुना-निकुंज, त्रिवेणी-शोभा आदि दृश्यों का सौन्दर्य, साहित्यिक-परम्परा से भी हमें प्राप्त हुआ है, चाहे हमने स्वयं इनके दर्शन न किए हों। पूर्णचन्द्र, चकोर, भ्रमर, लता का सौकुमार्य, भारतीय प्रकृति की विशेषताएँ हैं, जिनकी ओर केवल कवि-वृन्द का ही नहीं वरन् जनसाधारण का आकर्षण भी सर्वस्वीकृत है। भाषा-विषयक कलात्मकता भी शब्दालंकार के रूप में, उक्त उद्धरणों में देखी जा सकती है। अनुप्रास, यमक के आधार पर भाषा को विशेष श्रुति-सुखद तथा प्रवाह-पूर्ण बना दिया गया है, यद्यपि उसे भाराक्रान्त नहीं किया गया है। दोहे का संक्षिप्त गुण, शब्दसंगठन, कलात्मक चित्रण, भाषा-लालित्य तथा प्रवाह आदि विशेषतायें उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाती हैं।

सूक्ति-सम्बन्धी दोहों में वर्णन अथवा भाषा की प्रधानता के मर्मस्पर्शी कथन होते हैं। वचन-वक्रता की यही कला इनकी विशेषता है। मुहाविरों का प्रयोग तथा अर्थ-भंगिमा की सहायता, सूक्ति में विशेष होती है। विरोधाभास, अन्योक्ति, अर्थ-विपर्यय, शब्द-विन्यास के आधार पर कथित ये सूक्तियां, उर्दू कविता का स्मरण दिला देती हैं। फिर भी इनको फारसी काव्य से प्रभावित नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इस प्रकार के कलात्मक कथनों की परम्परा, प्राचीन भारतीय साहित्य, अपभ्रंश तथा संस्कृत काव्य में विद्यमान है। एक उदाहरण :

---

१. अंगदर्पण, रसलीन
२. रसप्रबोध, रसलीन
३. रसविलास, वेनी भट्ट
४. रसविलास, वेनी भट्ट

"सोहग्गीउ सहि कंचुयउ जुत्त उत्ताणु करेइ ।
पुट्ठहि पच्छइ तरुणियणु जसु गुण ग्रहण करेइ ॥"[1]

नर्तकी के कंचुक की डोर पीछे से खींच कर कसी जा रही है, तरुणिजन उसे पीछे से खींचती हैं, इसी पर कवि की उक्ति है कि पीठ पीछे जिनका गुण-ग्रहण हो वही श्रेष्ठ हैं। एक दूसरा उदाहरण देखिए; वृद्धावस्था के कारण झुकी हुई एक स्त्री से प्रश्न है :—

अध. पश्यसि किं बाले, पतितं तव किं भुवि ?

और उसका उत्तर है :

रे रे मूर्ख जानासि गतं तारुण्य मौक्तिकं।[2]

भर्तृहरि-शतक, भोजप्रबन्ध आदि रचनाओं में ये कलात्मक उक्तियाँ बहुलता से देखी जा सकती हैं। यह दूसरी बात है कि बहुप्रचलित विदेशी मुहाविरों का भी कुछ उपयोग इन दोहों में हमारे कवियों द्वारा कर लिया गया हो। कासिम-शाह, भूपति तथा रसलीन ने इस प्रकार के सूक्त्यात्मक दोहों की रचना पर्याप्त परिमाण में की है। दास जी में भी कहीं कहीं पर, अन्योक्ति-रूप में ऐसी सूक्तियाँ मिल जाती हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

"कासिम यौवन हाथ है, चहै सो काज संवार ।
पुनि हस्तीवल जायगो, कौन उठावै भार ॥"[3]

"जाको जासों होइ हित, वहै भलो हित दास ।
सावन जगज्यावन गुनो, का लै करै जवास ॥"[4]

"वेद विहित यह बचन है, यामें आन न आन ।
मुद्रा मुद्रित करतु है, हरि हरिविधि सों आन ॥"[5]

"लालन के मन दृगन को रहे चोप यह आन ।
पहुंची बन पहुंची कहूं प्यारी के पहुंचान ॥"[6]

---

१. पुरानी हिन्दी, पृ० ५५
२. सा० समालोचक, स०, २, भा० ४ से उद्धृत
३. हं० ज०, कासिम, पृ० २७१
४. का० नि०, दास, पृ० ७३।६५
५. भू० स०, भूपति, पृ० ५४।६७
६. अ० द०, रसलीन, पृ० १५।१००

चमत्कारपूर्ण शब्दों में नीति का कथन भी सूक्ति के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है। उपर्युक्त दोहों में रसलीन के उदाहरण के अतिरिक्त, शेष सब नीति-सम्बन्धी सूक्तियां हैं। वास्तव में सूक्ति के आधार पर कथित नीति, विशेष प्रभावशालिनी होती है। अपने चमत्कार के कारण वह पाठक अथवा श्रोता को तुरन्त मुग्ध कर लेती है। तुलसी जैसे भक्त तथा महाकवि को भी इसी कारण सूक्त्यात्मक नीति-कथन का आश्रय ग्रहण करना पड़ा, जैसा कि उनके "भांग ते तुलसी" होने की उक्ति से पता चलता है। स्पष्ट है उक्त कथन में शब्द-चमत्कार द्वारा रामनाम का प्रभाव अंकित करना ही अभीष्ट है जिसने भांग जैसे मदपूर्ण त्याज्य पौदे को "तुलसी" में परिवर्तित कर दिया। अस्तु।

शब्द-चमत्कार के अतिरिक्त नीति का कथन, सरल तथा सीधी शैली में भी किया गया है किन्तु हमारे युग के कवि, भाषा की ओर विशेष उन्मुख होने के कारण चमत्कार-शैली को प्रायः छोड़ नहीं सके हैं, अतः उनका नीति-कथन प्रधानतया सूक्ति की श्रेणी में ही रक्खा जा सकता है। जगजीवन जैसे कुछ सन्त कवियों ने अवश्य ही निराभरण भाषा में नीति-उपदेश दिये हैं किंतु वे धर्म-सम्बन्धी विशेष है; लोक-व्यवहार सम्बन्धी कम। यहा पर दो एक उदाहरण पर्याप्त होगे।

> "भूलु फूलु सुख पर नहीं, अब हू होहु सचेत।
> साईं पठवा तोहिको, लावो लेहितें हेत ॥३॥"[1]

> "अबहू समुझि के देखु तैं, तजु हंकार गुमान।
> यहि परिहरि सब जाइ हैं, होइ अंत नुकसान ॥"[2]

उक्त उदाहरण संसार के मिथ्या सुख, अहंकार, गुमान आदि के त्याग का उपदेश देते हैं, इस दृष्टि से इन्हें लोक-व्यवहार-सम्बन्धी कहा जा सकता है किन्तु अन्ततः इनका उद्देश्य वैराग्य की प्रेरणा देना ही है। भाषा की दृष्टि से उक्त दोहों मे कलात्मकता को प्रधानता देने का प्रयत्न नहीं है और न अलंकरण ही की प्रवृत्ति दर्शित होती है।

हमारे आलोच्य कवियों का युग, भारतवर्ष में विदेशी भाषा तथा साहित्य के उत्कर्ष का युग था। राज-भाषा, मुसलमान शासनकाल में, फारसी रही और जनसाधारण को विचारों के आदान-प्रदान के लिए उर्दू-मिश्रित देश-भाषाओं

---

१. साखी, जग०, भा० २
२. साखी, जग०, भा० २

का सहारा लेना पड़ा। साहित्य-क्षेत्र में भी धीरे-धीरे भाषा और भावों का मिश्रण १८वीं शताब्दी विक्रमीय में पर्याप्त हो गया था। उर्दू कविता भारतीय प्रभावों से प्रभावित है और फारसी काव्य-परम्परा का थोड़ा बहुत प्रभाव हमारे शृंगारकालीन काव्यों में परिलक्षित होता है, परन्तु अन्ततोगत्वा हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि हमारे कवियों पर विदेशी प्रभाव इतना अधिक कभी नहीं पड़ा कि हमारी काव्य-परम्परा का स्वरूप अपना अस्तित्व ही खो बैठता। संस्कृत-शास्त्रगत परम्पराओं का पालन करना भारतीय काव्य-रचना में अनिवार्य समझा जाता था, अतः नायिका-भेद के आधार पर नायिका की विभिन्न दशाओं का वर्णन भी हमारे कवियों का उद्देश्य रहा। एक कारण यह भी है कि कवियों ने नायक की दशाओं की ओर व्यापक दृष्टिपात नहीं किया जैसा कि विदेशी साहित्य में हुआ। दूसरे, शासकों की भाषा और कविता होते हुए भी, उर्दू, फारसी, हिन्दुओं और हिन्दी कवियों के लिए विधर्मी होने के कारण अस्पृश्य बनी रही। उन्होंने उसका अध्ययन तो किया, उसमें काव्य-रचना भी की तथापि अपने साहित्य से उसे यथासाध्य अलग ही रक्खा। जिस प्रकार उन्होंने मुस्लिम-संस्कृति को यथासाध्य नहीं अपनाया, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र को भी अछूता रखने का प्रयत्न किया। फिर भी राजनियमों के अनुसार वेश-भूषा, आचार-व्यवहार, बोली-बानी में उन्हें बहुत सी बातें अनिवार्य रूप से अपनानी पड़ीं और इन्हीं के साथ साहित्य में भी अनेक साधारण प्रभाव अनिवार्यतः आगए।

नख-शिख का वर्णन तो हमारे कवियों को परम्परा से उपलब्ध था, देवताओं के सम्पूर्ण अंगों का वर्णन नखशिख के रूप में संस्कृत-साहित्य में मिलता है तथापि हमारे कवियों ने नायिकाओं के रूप-वर्णन में अनेक ऐसे विदेशी उपमान ग्रहण कर लिए जो भारतीय परम्परा से विरुद्ध पड़ते हैं। रसलीनजी के ये उदाहरण देखिए :

"रक्त बूंद काजर भरे यों रोवति दुरि बाल।
मनो निशानी वा दृगन दई गुंज की माल ॥४०१॥"[१]

अश्रु-बिन्दुओं की समता रक्त की बूंदों से करना भारतीय-परम्परा नहीं है। भारतीय-परम्परा तो रक्त-मांस का उद्वेगजनक वर्णन बीभत्स के अन्तर्गत स्वीकार करेगी, शृंगार में नहीं। इसी प्रकार उनका मांग वर्णन देखिए।

"लाल मांग पटिया नहीं, मदन जगत को मार।
असित फरी पै लै धरी, रक्त भरी तरवार ॥ १२ ॥"[२]

---

१. रस-प्रबोध, रसलीन
२. अंग-दर्पण, रसलीन

जायसी के "खांड़ें धार रुहिर जनुभरा" की पुनरावृत्ति मात्र रसलीन जी ने कर दी है। पहले दोहे का भाव भी जायसी के "रक्त आंस घुंघुची वन बोई" के अनुरूप ही है। मुस्लिम कवियों के काव्य में इस प्रकार के उपमानों का ग्रहण किया जाना कुछ स्वाभाविक भी है।

विदेशी काव्य की, विरह में जलने और माशूक द्वारा कत्ल होने की कल्पना के कारण भी हमारे कवियों का काव्य ऊहात्मक चित्रणों की ओर विशेष उन्मुख हो गया। जलने पर धुआं उठने और कत्ल होने पर रक्तपात की कल्पना, विदेशी काव्य की विशेषता है। कविवर मुबारक बिलग्रामी (काव्य-काल सं० १६६१ वि०) की निम्नलिखित कल्पना देखिए :

सीक लै काजर देरी गंवारिन, आगुरी तेरी कटैगी कटाछनि।[१]

आचार्य शुक्ल की उक्त पंक्ति पर टिप्पणी है कि "यदि कटाक्ष से उगली कटने का डर है तब तो तरकारी चीरने या फल काटने के लिए छुरी, हंसिया आदि की कोई जरूरत न होनी चाहिए। कटाक्ष मन में चुभते है, न कि शरीर पर प्रत्यक्ष घाव करते हैं।"[२]

वास्तव मे भारतीय दृष्टिकोण, जो कि अनुभूति पर आश्रित है, शारीरिक पीड़ा को प्रधानता देकर उसे उपहासास्पद नही बनाता। रसलीन जी कहते हैं :

"तिरछी चितवन ते चलन चितवन कीनो दोय।
लागत तिरछी तेग जब कटत बेग नहिं होय ॥४९॥"[३]

मुबारक की तरह रसलीन भी तिरछी चितवन से तेग का काम ले रहे हैं।

भूपति जी को नायिका की लंक के अस्तित्व मे सन्देह है। उनकी दूती, कृष्ण के सम्मुख केवल अग्नि-धूम न्याय द्वारा ही यह प्रमाणित कर पाती है कि यदि लक का अस्तित्व है नही तो नायिका चलती कैसे है :

"लंक जानि नहिं परति अँग सुनिये वृज के प्रान।
धूम आग लौं कीजियतु चलित देखि अनुमान ॥११३॥"[४]

परन्तु यदि जनाब "जुरअत" के निम्नलिखित शेर से उक्त दोहे की तुलना करें :

---

१. मि० ब० वि०, भा० १, पृ० ३६४
२. जायसी-ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ ४२
३. अंग-दर्पण
४. भू० स०

"सनम सुनते हैं, तेरे भी कमर है।
कहाँ है किस तरह की है किधर है॥"[1]

तो यह स्पष्ट हो जायगा कि भूपति जी के दोहे में फिर भी विशेष सहृदयता है। "जानि नहिं परति है" कहकर कवि ने लंक की सूक्ष्मता-मात्र प्रमाणित की है, उसके अस्तित्व को ही नहीं लुप्त कर दिया है।

विरह-ज्वाल में प्रज्वलित होती हुई नायिका, अग्नि के वर्ण साम्य से पीली पड़ गई है, फिर भी इस पीलेपन को लेकर हमारा ध्यान नायिका की कृशता और दुर्बलता की ओर ही जाता है उसके जलभुन कर भस्म हो जाने की ओर नहीं।

"विरह ज्वाल प्रजर्‌यो करै, निसि दिन आठो जाम।
भई बाल अब हाल यह, बसन रंग तुव स्याम॥१४८॥"[2]

संक्षेपत:, भारतीय दोहा-परम्परा, समयानुकूल विदेशी भावनाओं से प्रभावित अवश्य हुई, परन्तु उसने अपना अस्तित्व और अपनी सहृदयता की भावना को सदैव अक्षुण्ण रक्खा। हमारे कवियों में यह प्रभाव काव्य-चमत्कार के विकास में सहायक हुआ और दोहे को अपने क्षेत्र मे विशेष व्यापकता भी मिली। इस प्रकार दोहा छन्द का बहुमुखी प्रयोग, शैली के अन्तर्गत देखा जा सकता है।

कबीर से पूर्व, सिद्ध तथा नाथ सम्प्रदाय के कवियों ने अपनी कविता में पदशैली का पर्याप्त प्रयोग किया था। लोक-भाषा में काव्य-रचना करने वाले ये कवि अपनी ज्ञानगाथा का प्रचार इन पदों द्वारा करते थे। गेय होने के कारण इन्हे अपनी उद्देश्य-पूर्ति में सरलता होती थी। ६ठी से १२वीं शताब्दी ईस्वी का समय सिद्ध कवियो का युग है अत. इस युग में पद-शैली का उपयोग साहित्य-रचना के लिए प्रचलित हो गया था। सिद्धों का गीतकाव्य विभिन्न रागों में बद्ध मिलता है। राग देशाख, राग भैरवी, राग पटमंजरी, राग कामोद, राग मल्लारी, राग बराड़ी, धनसी राग आदि[3] कितने ही शास्त्रीय रागों के आधार पर इस काव्य की रचना हुई है। ८४ सिद्धों में ६ठे, सरहपा द्वारा रचित एक गीति, उदाहरण स्वरूप उपस्थित की जाती है :

राग देशाख

"नाद न बिन्दु न रविशशि मण्डल, चीआ राअ सहावे मूकल।
उजु रे उजु छड़ि मालेहु बंक, निअड़ि बोहि मा जाहुरे लंक।

---

१. क० कौ०, भा० ४, पृ० ६२ २. भू० स०
३. गंगा, पुरातत्वांक, पृ० २५०।५२

हाथेर कंकण मा लेहु दप्पण, अपणे आपा बूझतु निअ-मण।
पार उआरें सोई भजिई, दुज्जण संगे अवसरि जाई।
वाम दहिण जो खाल विखाला, सरह भणइ बप, उजु वट भइला ॥३२॥"[1]

उक्त पद में सहज-मार्ग की व्याख्या है। इसी प्रकार इन सिद्धों के पदों में जीव-ब्रह्म की व्याख्या, शून्य और आकाश तत्व, अलख और निरंजन तत्व, रहस्य-वाद, गुरुदर्शन, गुरु-महिमा आदि का पर्याप्त वर्णन मिलता है।[2] अनेक लोकोक्तियों और मुहाविरों द्वारा कवियों ने अपने कथनों को पुष्टता प्रदान की है। 'हाथेर कंकण मालेहु दप्पण' इत्यादि। साथ ही आलंकारिकता का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। शबर पा के निम्नलिखित पद में रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति का स्पष्ट प्रयोग देखा जा सकता है।

"ऊंचा ऊंचा पावत तहिं बसइ सबरी बाली।
मोरंग पिच्छ परिहिण शबरी गायत गुंजरि माली॥"[3]

• • •

"चिअ तांबोला महासुहे कापुर खाई।
सुन नैरामणि कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाई॥
गुरु-वाक पुंजिआ धनु णिअ मण वाणे।
एकेशर सन्धाने बिन्धहु बिन्धहु परम णिवाणे॥"[4]

उक्त उदाहरण देने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन सिद्ध कवियों की परम्परा, प्राय: अपने यथातथ्य रूप में, हिन्दी के प्रमुख सन्त कवि कबीर में आ उतरी थी। उन्होंने भी उसी प्रकार से शृंगारिक रूपक ग्रहण किए और उनके द्वारा साधना की व्यंजना की, उनमें भी लोक-जीवन के साथ आध्यात्मिक जीवन का पर्याप्त संतुलन दृष्टिगत होता है। दोहा और पद दोनों शैलियों का उपयोग उन्होंने अपनी आवश्यकतानुसार कर लिया है और पदों में नाम देने की प्रवृत्ति तक की उपेक्षा उन्होंने नहीं की है। "सरह भणइ" "पइसन्ते सवरो लोड़िब कइसे" "भुसुक भणइ" इत्यादि की परम्परा 'कहु कबीर' में यथा-रूप सुरक्षित है। आगे के कवि तो कबीर की परम्परा को ग्रहण करके चल ही रहे थे।

---

१. हि० का० धा०, पृ० १८
२. हि० का० धा०, पृ० १५९,
३. हि० का० धा०, पृ० ३५१-५२
४. हि० का० धा०, पृ० २०

इन्ही पूर्ववर्ती काव्यों ने हमारे कवि जगजीवन तथा उनके सम्प्रदाय के कवियों के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत की।

सन्त कवियों की बानी के अन्तर्गत साखी और शब्द, दो प्रकार की कविता उपलब्ध होती है। 'शब्द' ईश्वर का वचन है और 'साखी' उसका प्रमाण। डा० बड़थ्वाल के अनुसार इनके विषय में भी अन्तर है; शब्द में आत्मानुभूति की व्यंजना है और साखी में, लोकजीवन में उस आत्मानुभूति को उतार कर उसके द्वारा आनन्द प्राप्ति का प्रयत्न।[1] स्वभावत: 'शब्द' में काव्यगुण अधिक होना चाहिए क्योंकि यह कवि की अन्यतम अनुभूति की व्यंजना है। जगजीवन के पदों में हमें शब्दावली विशेष आत्मानुभूति-युक्त तो अवश्य मिलती है फिर भी ऐसा नही कहा जा सकता इस शब्द-संग्रह के अन्तर्गत उनके जीवनोपयोगी पथ-प्रदर्शक पदों का सकलन नही है। विनती, प्रार्थना, चेतावनी, गुरु-महिमा, कर्म-धर्म निषेध आदि पद जीवनोपयोगी पद हैं। इनके द्वारा कवि ने जन-साधारण को उपदेश देने का प्रयत्न किया है। कुछ पद तो (विनती, प्रार्थना आदि के) आत्मनिवेदन के रूप में उपलब्ध होते है। इन्हें किसी सीमा तक आत्मानुभूति का व्यक्तीकरण कहा जा सकता है, उदाहरणार्थ :

"साईं यह विनती सुनु मोरी।
जन्म पाइ कछु जान्यों नाही, कछु बसि नाही मोरी।
• • •
जगजीवन का आपन जानहु, प्रीति न कबहूं तोरी ॥३॥"[2]

(२) "प्रभु जी चहौ सो तुम करहु।
• • •
चहहु पाल जिआइ करिकै, चहहु छिन मंह मरहु ॥ ४ ॥"[3]

परन्तु अधिकतर पद "साधो" "मन" अथवा "बौरे" को सम्बोधित करके उद्‌बोधन शैली में लिखे मिलते हैं, यथा :

(१) "साधो भजहु नाम मन लाइ।
बहुरि नहीं अस औसर पाइ ॥"[4]

(२) "अरे मन रहहु रटना लाइ।

---

१. निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोइट्री, पृ० २२३-२४
२. बानी, भाग १
३. बानी, भाग १
४. बानी १, पृ० ७६

● ● ●

कै सचेत अचेत हो नहि लेहु आपु बचाइ।"[१]

(३) "बौरे नाम रटु मन लाय।

● ● ●

कुसंग संगत कुटिल बौरे संग बैठु न धाय ॥"[२]

शब्दावली में बिरह और प्रेम का अंग, मगल, सावन व हिंडोला, वसन्त और होली में आत्मानुभूति-शैली को विशेष प्रश्रय मिला है। उक्त शीर्षकों में सौन्दर्य, अलंकरण, माधुर्य तथा तन्मयता के गुण विशेष दृष्टिगत होते हैं, गेयत्व का गुण तो है ही। दाम्पत्य-जीवन के नाना चित्रों के आधार पर कवि ने पदों द्वारा एक अनुपम रसमयता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि अन्य सन्त कवियों की भाँति जगजीवन की भाषा भी सुसंस्कृत नही है तथापि प्रेमप्रधान विषय ग्रहण कर लेने के कारण, शैली का माधुर्य, ग्राम्य-शब्दों के द्वारा ही प्रस्फुटित हो उठा है। भाषा के ऊपर हम पहले विचार कर चुके हैं। यहा पर दो एक उदाहरणों के द्वारा गीतात्मकता तथा गीत-शैली के अन्य गुणों को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

सावन व हिंडोला शीर्षक के अन्तर्गत एक पद देखिए :

"जब ते लगन लगीरी, तब तें कानि काहू की सखी री ॥१॥
मैं प्यासी अपने पिय केरी, बिन पिय प्यास मिटै न सखी री ॥२॥
कामिनि दुइ कर धर चरन पर, सीस नवाइ मनाइ मनावै सखीरी ॥३॥
पिय हौ गरू गम्भीर कहावहिं, जिय मे दरद न आनै सखीरी ॥४॥
मान गुमान तज्यो है सखीरी, पिय के निकट बसी री सखीरी ॥५॥
पिय का बदन निहारत सुख भा, अनत न चित धरयौ है सखी री ॥६॥
मधुकर पुहुप बास कहुं भेंटै, चाखत सुधि बिसरी री सखी री ॥७॥
जगजीवन साईं की छबि ही, देखि कै मस्त भई री सखी री ॥८॥"[३]

बिरहिणी की अन्तर्वेदना का सहानुभूतिपूर्ण चित्र होने के अतिरिक्त काव्य के अनेक गुणों से उक्त पद पूर्ण है। भाषा स्वाभाविक अनुप्रास से अलंकृत तथा प्रवाहपूर्ण है। मान-गुमान का त्याग तथा निरन्तर प्रिय के निकट निवास की भावना, कवि की आत्मार्पण-बुद्धि तथा तन्मयता को व्यक्त करती है। इस तन्मयता की पराकाष्ठा वहां पर दृष्टिगत होती है जहा पर प्रेमिका "लगन"

---

१. बानी १, पृ० ९३
२. बानी १, पृ० ९६
३. वही, २

इन्हीं पूर्ववर्त्ती काव्यों ने हमारे कवि जगजीवन तथा उनके सम्प्रदाय के कवियों के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत की ।

सन्त कवियों की बानी के अन्तर्गत साखी और शब्द, दो प्रकार की कविता उपलब्ध होती है । 'शब्द' ईश्वर का वचन है और 'साखी' उसका प्रमाण । डा० बड़थ्वाल के अनुसार इनके विषय में भी अन्तर है; शब्द में आत्मानुभूति की व्यंजना है और साखी में, लोकजीवन में उस आत्मानुभूति को उतार कर उसके द्वारा आनन्द प्राप्ति का प्रयत्न ।[1] स्वभावतः 'शब्द' में काव्यगुण अधिक होना चाहिए क्योंकि वह कवि की अन्यतम अनुभूति की व्यंजना है । जगजीवन के पदों में हमें शब्दावली विशेष आत्मानुभूति-युक्त तो अवश्य मिलती है फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता इस शब्द-संग्रह के अन्तर्गत उनके जीवनोपयोगी पथ-प्रदर्शक पदों का सकलन नहीं है । विनती, प्रार्थना, चेतावनी, गुरु-महिमा, कर्म-भर्म निषेध आदि पद जीवनोपयोगी पद हैं । इनके द्वारा कवि ने जन-साधारण को उपदेश देने का प्रयत्न किया है । कुछ पद तो (विनती, प्रार्थना आदि के) आत्मनिवेदन के रूप में उपलब्ध होते हैं । इन्हें किसी सीमा तक आत्मानुभूति का व्यक्तीकरण कहा जा सकता है, उदाहरणार्थ :

"साईं यह विनती सुनु मोरी ।
जन्म पाइ कछु जान्यों नाहीं, कछु बसि नाहीं मोरी ।
• • •
जगजीवन का आपन जानहु, प्रीति न कबहूं तोरी ॥३॥"[2]

(२) "प्रभु जी चहौ सो तुम करहु ।
• • •
चहहु पाल जियाइ करिकै, चहहु छिन मंह मरहु ॥ ४ ॥"[3]

परन्तु अधिकतर पद "साधो" "मन" अथवा "बौरे" को सम्बोधित करके उद्बोधन शैली में लिखे मिलते हैं, यथा :

(१) "साधो भजहु नाम मन लाइ ।
बहुरि नहीं अस औसर पाइ ॥"[4]

(२) "अरे मन रहहु रटना लाइ ।

---

१. निर्गुन स्कूल आफ हिंदी पोइट्री, पृ० २२३-२४
२. बानी, भाग १
३. बानी, भाग १
४. बानी १, पृ० ७१

● ● ●

कै सचेत अचेत हो नहि लेहु आपु बचाइ।"[१]

(२) "बौरे नाम रटु मन लाय।

● ● ●

कुसंग संगत कुटिल बौरे संग बैठु न धाय॥"[२]

शब्दावली में बिरह और प्रेम का अंग, मंगल, सावन व हिंडोला, बसन्त और होली में आत्मानुभूति-शैली को विशेष प्रश्रय मिला है। उक्त शीर्षको मे सौन्दर्य, अलंकरण, माधुर्य तथा तन्मयता के गुण विशेष दृष्टिगत होते है, गेयत्व का गुण तो है ही। दाम्पत्य-जीवन के नाना चित्रों के आधार पर कवि ने पदों द्वारा एक अनुपम रसमयता उत्पन्न कर दी है। यद्यपि अन्य सन्त कवियों की भाँति जगजीवन की भाषा भी सुसंस्कृत नहीं है तथापि प्रेमप्रधान विषय ग्रहण कर लेने के कारण, शैली का माधुर्य, ग्राम्य-शब्दों के द्वारा ही प्रस्फुटित हो उठा है। भाषा के ऊपर हम पहले विचार कर चुके है। यहा पर दो एक उदाहरणों के द्वारा गीतात्मकता तथा गीत-शैली के अन्य गुणों को स्पष्ट कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

सावन व हिंडोला शीर्षक के अन्तर्गत एक पद देखिए :

"जब तें लगन लगीरी, तब तें कानि काहु की सखी री॥१॥
मैं प्यासी अपने पिय केरी, बिन पिय प्यास मिटै न सखी री॥२॥
कामिनि दुइ कर धर चरन पर, सीस नवाइ मनाइ मनावै सखीरी॥३॥
पिय तो गरू गम्भीर कहावहिं, जिय मे दरद न आनैं सखीरी॥४॥
मान गुमान तज्यो है सखीरी, पिय के निकट बसी री सखीरी॥५॥
पिय का बदन निहारत सुख भा, अनत न चित धरयो है सखी री॥६॥
मधुकर पुहुप बास कहं भेंटे, चाखत सुधि बिसरी री सखी री॥७॥
जगजीवन साईं की छबि ही, देखि कै मस्त भई री सखी री॥८॥"[३]

विरहिणी की अन्तर्वेदना का सहानुभूतिपूर्ण चित्र होने के अतिरिक्त काव्य के अनेक गुणों से उक्त पद पूर्ण है। भाषा स्वाभाविक अनुप्रास से अलंकृत तथा प्रवाहपूर्ण है। मान-गुमान का त्याग तथा निरन्तर प्रिय के निकट निवास की भावना, कवि की आत्मार्पण-बुद्धि तथा तन्मयता को व्यक्त करती है। इस तन्मयता की पराकाष्ठा वहां पर दृष्टिगत होती है जहां पर प्रेमिका "लगन"

१. बानी १, पृ० ६३
२. बानी १, पृ० ९६
३. वही, २

के लिये सम्पूर्ण "कानि" को उत्सर्ग कर देती है। सखी से प्रिय-मिलन की प्रार्थना बड़े ही अभिनयात्मक ढंग से व्यक्त की गई है। सन्देश में आकुल पिपासा तथा उपालम्भ का भाव बड़ी सुन्दरता से मिश्रित है। सखी के चरण, दोनों हाथों से पकड़ कर विनत-वदना प्रेमिका केवल अपनी अतृप्त पिपासा की ही बात नही कहती वरन् प्रिय की निर्मम उपेक्षा पर उपालम्भ भी देती है। हिंडोला झूलते समय अवध की स्त्रियां जिन रागों में झूले के गीत और होली आदि गाती हैं उन्ही रागों का उपयोग करके कवि ने अपने काव्य के द्वारा लोकरुचि को व्यक्त किया है। वास्तव में ऐसे पद, गीतशैली के स्वाभाविक तथा मनोरम उदाहरण है। होली का एक उदाहरण संगीतात्मकता को व्यक्त करने के लिये पर्याप्त होगा :

"अरी ए नैहर डर लागै, सखीरी कैसे खेलौं मैं होरी।
औगुन बहुत नाहिं गुन एको, कैसे गहौं दृढ़ डोरी॥
केहि का दोस मैं देउं सखी री, सबै आपनी खोरी।
मैं तो सुमारग चला चहत हौं, मैं तैं विष मा घोरी॥

● ● ●

समत होहि तब चढ़ौ गगन गढ़, पिय से मिलौं कर जोरी।
भीजौं नैनन चाखि दरस रस, प्रीति गांठि नहिं छोरी॥"[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त पद बहु-प्रचलित होली के स्वरों मे बद्ध है जिसकी अपनी संगीतात्मकता, होली के वातावरण में अद्भुत तन्मयता उत्पन्न करने मे समर्थ है, यद्यपि होली के प्रचलित स्वरों से इन स्वरों में कुछ भिन्नता अवश्य है। वास्तव में द्वितीय चरण के बाद एक चरणार्ध और आवश्यक होता है, जिसके बाद प्रथम चरण की पुनरावृत्ति होती है, उदाहरणार्थ :

"..... .... कैसे गहौं दृढ़ डोरी।
सखी री मोरी बांह गहोरी। कैसे मैं खेलौं होरी॥"

उक्त चरणार्ध जोड़ देने के बाद स्वर सम्पूर्ण होते है तथा उनके अवरोह की संगीतात्मकता में वृद्धि होती है। जगजीवन जी ने राग का मूल रूप ग्रहण करके अपने उपयोग के लिए उसे पर्याप्त समझा है और स्वरों की अनावश्यक उलझन में नही पड़े हैं, फिर भी होली के स्वाभाविक संगीत में इससे विशेष बाधा नही आती। आत्मानुभूति तथा संगीतात्मकता का सुन्दर समन्वय इन ग्राम-वातावरण में रचित पदों की सरलता में हुआ है जिसके फलस्वरूप ये

---

१. बानी २, पृ० ८१

निश्चय ही श्रोता के हृदय को स्पर्श करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। सोहर, पुरबी, लावनी आदि अन्य बहु-प्रचलित छन्दों का प्रयोग भी इस शैली में प्रचुरता के साथ हुआ।

पद-शैली का उपर्युक्त स्वरूप, प्रधानतया निर्गुणवाद, अतः आध्यात्मिक प्रवृत्तियों से विशेष सम्बद्ध है। गीत गोविन्दकार जयदेव (१३ वीं शताब्दि विक्रमीय) तथा मैथिल कोकिल विद्यापति (१५ वीं श० वि०) द्वारा प्रयुक्त कृष्ण-लीला-समन्वित पदावली की परम्परा इसी युग में अन्य कवियों द्वारा अपनाई गई। वास्तव में इस परम्परा के सर्व-प्रमुख कवि सूर तथा उनके समकालीन कवि हुए, जिन्होंने कृष्ण-लीला के मनोरम चित्रों का प्रदर्शन करके जनता को मुग्ध कर लिया। कबीर तथा उनके पंथ के अनुयायी रैदास के प्रभाव से प्रभावित मीरा की पदावली, निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है। तुलसी की गीत-मालिका, भगवान् राम तथा कृष्ण दोनों ही की पूजा में समर्पित हुई है। सगुण, अतएव कलात्मक सौन्दर्य-संयुक्त, पदावली की यह परम्परा भी शृंगार-युगीन अवध के कवियों के सम्मुख विद्यमान थी, जिसका ग्रहण करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। परन्तु अवध रामभक्ति का केन्द्र था और साहित्य-क्षेत्र में कृष्ण का नायक-रूप स्थापित हो चुका था, फलतः इस प्रदेश में भक्ति तथा रस-काव्य के लिए क्रमशः पद तथा कवित्त, सवैया, दोहा आदि का अलग अलग उपयोग हुआ। अयोध्या का भक्तमण्डल ही विशेषतया इस अलंकृत पद-शैली का उपयोग करता हुआ पाया जाता है। यह दूसरी बात है कि यह पद-शैली किसी हद तक निर्गुणवादी शैली से भी प्रभावित है तथा भक्ति की भावुकता इसका प्रमुख तत्व होते हुए भी इसमें आलंकारिक प्रवृत्ति तथा कृष्ण-भक्ति-परम्परा के लक्षण विशेष स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर तो इस भक्त-मण्डली ने कृष्ण लीलाओं के अनुकरण पर राम के भी लीला-विलास का विस्तृत वर्णन पदशैली में आरम्भ कर दिया और दूसरी ओर साहित्य क्षेत्र में कृष्ण-लीला-वर्णन के लिए प्रधानतया प्रचलित कवित्त, सवैया तथा दोहा छन्दों को भी अपनी सुविधा के अनुसार गेय बना लिया। इस प्रकार उनकी गीत-शैली का क्षेत्र बहुत व्यापक तथा व्यावहारिक हो गया। आगे हम अपने उक्त कथनों की पुष्टि में कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

पहले निर्गुण संत-परम्परा के प्रभाव को ही लें। रामभक्ति सम्बन्धी गेय पदों की रचना करनेवाले भक्त कवियों ने नाम-महिमा, सुरति, करनी, कथनी, सतगुरु, मगन, शब्द, इत्यादि शब्दावली का प्रयोग किया है, यद्यपि अपने पदों में स्पष्टतः उन्होंने दशरथ-सुत राम का ही गुणगान किया है :

"पर प्रभु मिलत नामहिं जगे।

× × ×

गगन शब्द अनूप मधि मन मगन छन प्रति छगे ॥ ३७ ॥"

"नाम बिन कौन कथनी गड़ो।

पाय सतगुरु गैन सन्मुख हेतु आगे बढ़ो ॥१०९॥"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों को देखकर ऐसा ज्ञात होता है कि लेखक किसी सन्त-सम्प्रदाय का अनुगामी है किन्तु वस्तुतः बात केवल इतनी है कि वह रामभक्त होते हुए भी अपने समकालीन निर्गुणिए संतों की वाणी से प्रभावित मात्र है।

श्री वल्लभाचार्य की गोपीभाव-उपासना-पद्धति के समकक्ष स्वामी हरिदास की सखी-भावना-पद्धति भी प्रचलित हुई। "स्वामी हरिदास जी ने राधाकृष्ण की युगल उपासना का केवल सखी भाव से प्रचार किया।" "सखी की तरह सेवा करते हुए श्याम और श्यामा को तुष्ट किया करते थे।"[2] इस पद्धति में भक्त ने सेविका की भावना को ग्रहण किया और अपने हार्दिक उद्गारों को प्रिया-प्रियतम राधाकृष्ण के लिए बड़े ही उल्लासमय तथा प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त किया है। यह प्रेमानुभूति केवल हृदय तक ही सीमित न रहकर आगे बाह्य-रूप में भी व्यक्त हुई और भक्तों ने अपने उपनाम ही सखियों जैसे रख लिए। प्रेमसखी, रसिक अलि इत्यादि। वेश-भूषा भी समय-समय पर स्त्रियों जैसी ग्रहण की जाने लगी। इस प्रकार अपनी भक्ति-भावना व्यक्त करने का एक श्रेष्ठ साधन समझकर, अन्य भक्तों ने भी इसे अपनाना आरम्भ किया। अयोध्या के भक्त-वर्ग में भी कान्ता और सखी भाव का पर्याप्त प्रचार हुआ और भक्तों ने इस 'मधुरभाव' पद्धति के अनुसार भगवान् राम के प्रति अपने वासनात्मक प्रेम को व्यक्त करके उनके आदर्श को किसी सीमा तक अमर्यादित भी कर डाला। इसमें सन्देह नहीं कि कृष्णभक्त कवियों की प्रेमपद्धति ने रामभक्त कवियों को बहुत प्रभावित किया और अपनी पद-रचना में उन्होंने उसका प्रचुर उपयोग किया। प्रेमिका के आत्मार्पण का आदर्श निम्नलिखित पद में देखिए :

१. "लगन निवाहे ही बनि आवै।

भाव कुभाव बचाव जान दे नेही तबैं कहावै।

---

१. श्री सीताराम-नाम-परत्व पदावली, जुगलानन्यशरण कृत

२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० गुप्त, भाग १, पृ० ६८

दृग अटके मन सौंपि दियो तब प्रीतम हाथ बिकावै ।
मन अपनो न रह्यौ भयो परवस कैसे न्याय चुकावै ।"[१]

उपर्युक्त 'लगन' का वर्णन, कवि कृपानिवास ने प्रियतम राम के लिए ही किया है । अगले पद से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है ।

२. "अंसिया लखि उरझानी छैल छबीले लाल सों मेरो उरझु बताय ।
बहुत समझाइ मानत नहिं अमानी ।
इनको लगनि नग्यो मन मोहै रघुवर हाथ बिकानी ।
कृपानिवास सुधारस पीवत फिर पियैं क्यों पानी ।।२९।।"[२]

३. "राजकुअर मेरो संग लग्यो री ।
जहं जहं जाउ वहां ही सराऊ,
प्रेम विवस रस रहत पग्यो री ।
सोइ रही सपने चमकावै जागी उठौ तब मृदु मुसकावै ।
हंसि हेरी तब फूल मगन मन, तन रोस करो तब हा हा खावै ।
मेप दुराइ दुरों सखियन मे, दृष्टि चोराय बदन पट खोले ।
पद परसत अपराध छमावत, मनहरनी मधु बानी बोले ।
भवन छियों खिरकी खरकावै, पाय अकेलो अक भरे री ।
सरजू जाउ न्हान सिया पीछे, आय सु नाना कौतुक करै री ।
हारि बसों गृह आगे मेरे, गुन गावैं हसि बीन बजावै ।
कृपानिवास रास रसिकवर, रसिकन हित नित रस बरसावै ।।६२।।"[३]

उक्त पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि यदि 'रघुवर' अथवा 'सरजू' का नाम इन पदों में प्रयुक्त न हुआ होता तो सामान्यतः इन्हें कृष्ण लीला का द्योतक स्वीकार कर लेने में किसी प्रकार की कठिनाई न होती, बीन बजाने का उल्लेख तो सामान्यतः राम के लिए कहीं मिलता भी नहीं है । जिस प्रकार तत्कालीन कवियों ने कृष्ण को सामान्य नायक का स्वरूप प्रदान कर दिया था, वहुत कुछ उसी मार्ग का अनुसरण करते हुए ये कवि भी देखे जा सकते हैं । दक्षिण नायक के रूप में चित्रित, राम का यह रूप उनके अनुकूल मर्यादित नहीं है, इसमें सन्देह नहीं । स्पष्टतः मर्यादा की यह शिथिलता कृष्ण-

१. कृपानिवास कृत, मि० व० वि०, पृ० ७९८
२. रस-पद्धति, कृपानिवास
३. समय-प्रधान, कृपानिवास

काव्य के अनिवार्य प्रभाव के कारण ही उत्पन्न हुई। पदशैली का यह स्वरूप अपेक्षाकृत अधिक आलंकारिकतापूर्ण कहा जा सकता है, जिसका कारण यही बतलाया जा सकता है कि एक तो इस पदावली का सम्बन्ध सगुण भक्ति-भावना से विशेष है जिसमें भगवान् राम के सौन्दर्यशाली स्वरूप का चित्रण किया गया है, अतः कोमलकान्त तथा मधुर-मनोरम पदावली का उपयोग अनिवार्य हो गया है। दूसरे, आलंकारिक शैली की एक परम्परा भी तत्कालीन युग तक बहु-प्रचलित हो चुकी थी, अतः काव्य-मात्र पर उसका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता था। पदावली उसका अपवाद नहीं थी।

"कबहुं दिशि मेरिहू हेरिये लाल।
मैं प्यासी प्रीतम पुनीत रस कीजिये जलद निहाल।
निठुराई फाबित न होत पिय सरस सुभाव रसाल।
उर आकुल अति रहत मिले बिन कठिन करेजे साल।
केवल आस रावरोई नित रसिक रीति प्रतिपाल।
युगल अनन्य शरन अपनाइये सब विधि सियवर हाल॥१३२॥"[1]

उक्त पद में मधुर शब्दावली की स्थापना करने का प्रयत्न अनुप्रास द्वारा प्रमुख रूप से किया गया है। 'प्यासी, प्रीतम, पुनि', 'सरस, सुभाव, रसाल' में प और स की आवृत्ति अत्यन्त रमणीय है। सखीभाव की अनुभूतिपूर्ण तीव्रता में पर्याप्त प्रभावशालिता है। शब्द-माधुर्य तथा भाव-माधुर्य, दोनों का सुन्दर समन्वय है। इस प्रकार की पदावली की प्रचुर रचना अवधवासी शृंगारयुगीन कवियों ने की थी।

संगीतात्मकता की दृष्टि से इन कवियों के पदों में दो एक बातें विशेष रूप से दृष्टव्य हैं। हमने इनकी काव्य-रचना की व्यावहारिकता की ओर निर्देश किया था। यह व्यावहारिकता दो रूपों में विशेषतया दृष्टिगत होती है। एक तो लोक-प्रचलित गीतशैली के द्वारा भाव-प्रदर्शन तथा दूसरे, ऐसे छन्दों का उपयोग जो गीतशैली के अतिरिक्त पाठ्यशैली में ही प्रधानतया प्रयुक्त होते हैं, किन्तु उनका उपयोग गेय-काव्य के क्षेत्र में भी किया जा सकता है। ऐसे छन्दों में कवित्त, सवैया तथा दोहा-चौपाई प्रधान हैं।

लोक प्रचलित छन्दों में लावनी का एक उदाहरण निम्नलिखित है :

"भजिये जिय जीवन जानि जानकी जानी।

● ● ●

---

१. श्री रामनाम परत्व पदावली, जु० शरण

सियराम नाम अभिराम कामतरु तेरे।
तउ तीन ताप दुख दाह दरिद नित नेरे।
बिन रमन रटन विस्वास आस नहिं पूजे।
ताही हित मनसिज मोह महानल भूजे।
आनन्द सिंधु मधि मगन होय पल प्रानी। भजिये० ॥९२॥"[1]

लावनी अथवा ख्याल अपने प्रवाह तथा तन्मयता के लिए प्रसिद्ध है। इसका प्रयोग आशु-कविता के लिए भी जन-साधारण में होता है। अपनी रुचि का विषय लेकर आशुकवि ढफ बजाकर कथा को पद्यबद्ध करते हुए, गाते चले जाते हैं। इस ख्यालबाजी की प्रतियोगिताएं भी होती हैं और जनता इनमें विशेष रुचि रखती है। ऐसे छन्द का उपयोग निस्सन्देह जनता की भावनाओं तथा उसके आकर्षण का द्योतक है।

कवित्त, सवैया अथवा दोहा के विषय में भी यह बात हमारे शृंगार-युग के लिए कही जा सकती है। तत्कालीन लोकप्रिय शैली में उक्त छन्दों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण था। आज भी ग्रामीण-जन, कवित्त और सवैया छन्दों का कण्ठस्थ होना काव्य-रसिकता का प्रमुख प्रमाण मानते हैं। सवैया तो विशेष रूप से गेय है और मधुर भावों की अभिव्यंजना उसकी प्रवाहमयी शैली द्वारा बड़ी सफलता-पूर्वक की जा सकती है। हमारे कवियों में भी उसका प्रयोग गेय-रूप में प्रचुरता से मिलता है; ऐसा स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जनसाधारण में उसे संगीतात्मक शैली में पढ़ने का पर्याप्त प्रचार था, इसी कारण से अवध के शृंगारकालीन भक्त कवियों ने, जहाँ एक ओर रामगुणगान के लिए पद-शैली का प्रयोग किया, वहाँ उसी के समकक्ष सवैया तथा कवित्त शैली का भी उपयोग किया।

राम द्वारा होलिकोत्सव मनाने का वर्णन भक्त कवि श्री जनकराज किशोरी शरण ने निम्नलिखित सवैये में इस प्रकार किया है :

"घात बतात गहे श्रपजात पिया कर कज मयंक कला है।
छीन लई पिचका करते मुख अंचल ढापति चंद कला है।
फौज भगी सबरी पिय की चहुं ओरन घेरि लई अबला है।
बाजत चंग विजय सियकी कर फंद परे रघुवंस लला है॥"[2]

सवैया छन्द की स्वाभाविक गति, प्रवाह तथा संगीतात्मक का स्वरूप, उक्त छन्द में स्पष्ट है।

---

१. श्री रामनाम परत्व पदावली, जु० शरण
२. होलिका-विनोद-दीपिका

उन्हीं कविवर द्वारा एक घनाक्षरी का भी संगीतात्मक प्रयोग देखिए :

"छलि कै छबीली नव नायिका को दूतिका लै ,
अटा पै चढ़ाय छटा चन्द्रिका सी लसी है।
उतरि कै झपाक दिए जीना के किवार त्यों ,
दूती करताल दै के मोद मन हंसी है।
तैसेइ भीतर के किवारा खोलि राघव जू ,
देखि कै नवोढ़ा बाल जकी चकी ससी है।
लीनी भरि अंक पिया लाज साज दबी तिया ,
फबी धुनी रसना की मानो देत दसी है॥"[1]

यदि प्रवाह की दृष्टि से उक्त छन्द की परीक्षा करें तो सम्भवतः गति में कुछ बाध्यता जान पड़ेगी, किन्तु भजनानन्दी भक्तगण अपने संगीत-समारोह में साधारण छन्दोभंग आदि की ओर ध्यान नहीं देते। उनके गायन में उक्त प्रवाह-बाधा दब जाती है और संगीत के स्वर प्रधान हो उठते हैं।

यही प्रवृत्ति हमने दोहे के विषय में भी देखी है। निर्गुणवादी संतों ने दोहे को विशेष रूप से प्रचलित बना दिया था। छन्द आदि के बन्धनों पर उन्होंने कभी विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं समझी, अतः उसका प्रयोग जन-साधारण में बहु-प्रचलित हो गया। हमारे शृंगारयुगीन कवियों ने भी दोहे का संगीतात्मक प्रयोग किया। रामायणी भक्तों ने ही उसे संगीतात्मक बनाने में विशेष सहायता दी थी। तुलसीकृत रामायण के दोहों का चौपाइयों के साथ गान अनिवार्य हो उठा था और उस महाग्रंथ ने दोहे को एक मनोरम संगीतात्मक शैली प्रदान कर दी। इसके पूर्व, दोहा छन्द लोकप्रिय अवश्य हुआ था परन्तु सधुक्कड़ी ढंग पर केवल "पुकार लगाने" अथवा नीति-उपदेश-कथन के लिए ही उसका उपयोग विशेष हुआ करता था। निर्गुण भक्तों ने उसे डफली बजाकर गाया भी किन्तु संगीत की सुसंस्कृत शैली उसे मानस-गान से ही मिली। इसी शैली का अनुकरण करनेवाला कविवर्ग अवध का शृंगारयुगीन भक्तमण्डल था।

छप्पय छन्द का उपयोग भी अवध के शृंगारयुगीन कवियों द्वारा पर्याप्त परिमाण में किया गया है। १३ वीं शताब्दी विक्रमीय में जैन पण्डित सोमप्रभ सूरि द्वारा विरचित कुमारपाल-प्रतिबोध ग्रंथ में छप्पय के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इनकी "कविता डिंगल के ढंग की है और पृथ्वीराज रायसे के कल्पित समय

---

१. रस-दीपिका

से कुछ वर्ष पहले की है।"[१] तत्कालीन छन्द के स्वरूप में आज के प्रचलित छप्पय-स्वरूप से कोई अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण निम्नलिखित है:

"गयण मग्ग संलग्न, लोल कल्लोल परंपर।
निक्करु णुक्कडनक्क चक्क चंकमण दुहंकरु।
उच्छलंत गुरु पुच्छ मच्छ रिंछोलि निरंतरु।
विलसमाण जालाज डाल वडवानल दुत्तर।
आवत्त सयायलु जलहि लहु गोपउ जिम्व ते निरयरहि।
नीसेस वसन गणनिट्ठवणु पासनाहु जे संभरहि॥"[२]

रोला के प्रत्येक चरण में २४ तथा उल्लाला के प्रत्येक चरण में २८ मात्रायें विद्यमान हैं। रोला में ११,१३ पर यति है तथा उल्लाला में १५,१३ पर। इस छन्द का व्यवहार रासोकार चन्दबरदाई ने अपने पृथ्वीराज रासो में भी स्थल स्थल पर किया है। उक्त ग्रन्थ में इस छन्द को "कवित्त" कहा गया है, परन्तु इसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया है। उदाहरण निम्नलिखित है:

कवित्त: "अति ढंक्यो न उघार सलित जिमि जानि सिवालह।
बरन बरन सुब्बृत हार चतुरंग विसालह।
विमल अमल बानी विलास वयन वर ब्रन्नन।
बवितणि बानि विनोद मोद श्रोतनि मन हुन्नन।
जुत अजुत अग्गि विचार बहु वयन छन्द छुट्यो न कहि।
घटि वढ़ि कोई मत्तह पढ़ें चन्द दोस दिज्जो न यहि॥२९॥"[३]

ओज-गुण-प्रधान उक्तियों के लिये उक्त ग्रन्थों में इसका प्रयोग प्रधानतः देख पड़ता है। केवल वीर-रस ही के लिये इसका प्रयोग किया गया हो, ऐसा निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता; भक्ति-विषयक उद्‌गार व्यक्त करने के लिये भी इसका व्यवहार स्वतन्त्रता के साथ किया गया है। रासो में तो छप्पय का प्रयोग वर्णनात्मक कथा-प्रसंग के लिये भी किया गया है। भक्ति-काल में तुलसी ने इस छन्द का सफल प्रयोग किया। तदुपरान्त शृंगार-युगीन कवियों ने भी इसे अपनाया। उक्त युग के अवध-प्रदेशीय कवियों के काव्य में इस छन्द का उपयोग प्रधानतया ओजपूर्ण वर्णनों में ही देखा जा सकता है। ये ओजपूर्ण वर्णन वीर, भक्ति अथवा नीति-सम्बन्धी विषयों से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

---

१. पुरानी हिन्दी, गुलेरी जी, पृ० १०४
२. कुमारपाल-प्रतिबोध, पृ० ४७१-७२ (पुरानी हिन्दी से, पृ० १०३)
३. पृथ्वीराज रासो, पृ० १७, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित संपादित

वीर-भाव सम्बन्धी वर्णनों मे देवता अथवा आश्रयदाता के शौर्य की प्रशस्ति मिलती है। भक्ति-भाव-पूर्ण वर्णनों में या तो इष्टदेव का शौर्य अथवा उनकी महिमा, सुन्दरता, शोभा आदि का उदात्त चित्रण मिलता है। गुरु-वन्दना भी इसी छन्द मे की गई है। नीति अथवा सिद्धांत सम्बन्धी कथनों के लिये इस छन्द का प्रयोग सम्भवतः नीति-उक्तियों को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिये ही हुआ है, क्योंकि स्वतः छप्पय छन्द की पाठशैली ही ओजपूर्ण है, यह तथ्य सर्व-स्वीकृत है। सिद्धांत-कथन के लिये छप्पय छन्द के उपयोग का एक कारण यह भी हो सकता है कि इसमें कथन-विस्तार के लिये पर्याप्त अवसर रहता है। छै चरणों में कथन को संक्षिप्त नही करना पड़ता।

अवध के कवियो में सुखदेव, दास तथा द्विजदेव के काव्य में इस छन्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। यहां पर विभिन्न विषयक छप्पयों के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है :

देव-विषयक वर्णन प्रधानतः ग्रंथों के मंगलाचरण रूप में मिलते हैं, काव्यांगो के उदाहरण देने के लिए भी इनका प्रयोग छप्पय छंद में किया गया है। अपने काव्य-निर्णय के आरम्भ मे दास जी ने 'रत्नावली' अलंकार के द्वारा इस प्रकार गणेश-वन्दना की है :

"एक रदन द्वै मातु त्रिचख चौबाहु पंचकर।
षट् आनन बर बंधु सेव्य सप्तार्चि भालधर।
अष्ट सिद्धि नवनिद्धि दानि दश दिशि जस विस्तर।
रुद्र इग्यारह सुपद् (सुखद ?) द्वादशादित्य ओजवर।
जो त्रिदश वृन्द वंदित चरन चौदह विद्यनि आदि गुर।
तिहि दास पंचदश हू तिथिन धरिय षोड़शो ध्यान उर॥"[1]

द्विजदेव कृत शृंगार-बत्तीसी के आरम्भ में राधाकृष्ण-वन्दना छप्पय छन्द में इस प्रकार मिलती है :

"एकै है बिब रूप राधिका श्याम कहावैं।
द्वै बश ब्रज-युवतीन चतुर धातुर मनभावैं।
पंचबाण रति कोटि अंग अंगनि पर वारैं।
छलबल करि ब्रज सुयश परम पावन बिस्तारैं।
द्विजदेव सातहूं भुवन में अष्ट सिद्धि दाता बिदित।
मन सेवहु नव भक्ति युत नवरस मय ब्रजराज नित॥१॥"[2]

---

१. का० नि०, भा० जी० प्रेस, पृ० १ २. शृं० ब०, न० कि० प्रेस, लखनऊ

आचार्य दास जी ने छत्रबंध चक्र प्रस्तुत करने के लिए चित्र-काव्य के अन्तर्गत छप्पय छन्द ग्रहण किया है। यद्यपि इस अवसर पर कवि किसी भी विषय का वर्णन कर सकता था, किन्तु उसने देव-वन्दना-सम्बन्धी छन्द की ही रचना की है। भगवान् शंकर के प्रति उसने इस प्रकार भक्ति-भाव की अभिव्यंजना की है :

"दनुज निकर दल दरनि दानि देवतानि अभैवर।
सरद सरवरी नाथ वदन सत मदन गरब हर।
तरुन कमल दल नयन ललित सिर पायँ सोभित।
लहि भोरी भो वीर सु सम दुति तन मन लोभित।
तन सरस नीर प्रद नवह ते मरकत छवि हर कांतिवर।
ते दास परम सुप सदन जे भगन रहत यहि रूप पर ॥३८॥"[१]

इस प्रकार छप्पय का प्रयोग प्रधानतया देव-वन्दना के लिए ही हुआ है। उपर्युक्त उदाहरणों से व्यक्त है कि गणेश, कृष्ण, शिव, राम आदि सभी देवताओं के प्रति कवियों ने अपनी भक्ति-भावना व्यक्त की है। छन्द के स्वयं-सिद्ध गुण के कारण तथा उसी के अनुकूल भाव-संग्रह करने के प्रयत्न में, ओज गुण की प्रधानता सामान्य रूप से देखी जा सकती है।

छप्पय-प्रयोग का दूसरा क्षेत्र आश्रयदाताओं की यशः प्रशस्ति है। देवताओं अथवा बहु-विश्रुत वीरों से उनकी समता स्थापित करके उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने के लिए, आश्रित कवियों ने इस छन्द का प्रचुर प्रयोग किया है। स्वाभाविक ओजव्यंजक ध्वनि कवियों की इष्ट-सिद्धि में पर्याप्त सहायता प्रदान करती है। प्राकृताभास हिन्दी के अनुरूप शब्दावली का निर्माण करके भी वर्णन में पर्याप्त ओज उत्पन्न किया जाता दिखलाई पड़ता है। सुखदेव जी नवाब फाजिल अली के विषय में ऐसी ही उक्ति करते हैं :

"अति उदण्ड भुजदण्ड दण्ड दण्डिय अदण्ड नर।
युद्ध क्रुद्ध अनिरुद्ध उद्ध परचक्र प्रलय कर॥
सत्त सत्य हरिचन्द चन्द भुजदण्ड दीन हर।
पथ्य हथ्य सम तथ्य महा समरथ्य रथ्य वर॥
कबिराज राज पूरण पुहुमि तेग त्रास सब दिन जगत।
नव्वाब इनायति खां सुवन फाजिल अली जय जय जगत ॥४७॥"[२]

---

१. का० नि०, ह० लि०, व्रजराज पु०, पृ० ९२
२. फा० अ० प्रकाश, पृ० १५, सुखदेव मिश्र

अमेठी-नरेश हिम्मतसिंह की प्रशंसा में भी सुखदेव जी की यह उक्ति छप्पय छन्द मे प्रस्तुत की गई है :

"करत गोत उद्दोत निपट निज बलहि बढ़ावत।
कोटि सुधरमहि साजि सदहि शतकोटि लुटावत।
पालत पुरहि अनेक बलहि क्षपदन डरपावत।
जित्त जित्त रन कित्ति विमल कुलि जग यश गावत।
पुनि देत भूमि देवन प्रगट धरमवंत उरधरनि ध्रुव।
नृप हिम्मतसिंह नरिन्द्र मनि इन्द्र न सरि करि सकल तुव ॥८४॥"[1]

आश्रयदाताओं का वर्णन करने में कवियों ने कुछ चारण-शैली का सा अनुगमन किया है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तव में उपर्युक्त दो क्षेत्रों में ही छप्पय का प्रयोग हमारे अवधवासी कवियों ने विशेष रूप से किया है। इनके अतिरिक्त नीति-सिद्धान्त कथन के उदाहरण भी यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं तथा वर्णनात्मक शैली में भी इसका प्रयोग किया गया है। सुखदेव जी ने अपने वृत्त-विचार पिंगल ग्रंथ में कम्पिला नगरी का बड़ा सुन्दर वर्णन इस छन्द के माध्यम से किया है। दो एक छन्द दर्शनीय है :

"कहूं तमोलिनि पान पानि धरि बांधत बीरा।
सनमुष छके छयल्ल हाथ लीन्हे वै हीरा।
मालिनि महा सरूप फूल बेचति है बैठी।
कुजहेरिनि कमनीय कहत कछु जाइ जु अैंठी॥
हलवाइनि हाटक वरन हाट हाट सब है सरस।
कविराज राज है कंपिला छहु रितु छहु दरसन दरस ॥१३॥"
....
"उन्नत धर धौरहर धवल कैसाल (कैलास) सुमोहन।
लसत कलस तपनीय परम कमनीय सु सोहन।
"चित्रक चारु सुभग्रभ चित्र कविराज विराजैं।
यत्र नीर उछरहि कांति चहवच्चनि छाजैं।
संपति समाज सागर सरिस सबै राग डारे डगर।
वासित सुवास आगर अगर वगर वगर कंपिल नगर ॥१५॥"[2]

उपर्युक्त वर्णन-शैली का सम्बन्ध, रासो मे प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक शैली के साथ

---

१. छन्द विचार, ह० लि०, ब्र० पु०, पृ० १०
२. पिंगल, ह० लि०, सुखदेव, पृ० ११

सरलता से जोड़ा जा सकता है। यद्यपि इस छन्द का प्रयोग विशेष बाहुल्य के साथ नहीं हुआ तथापि कुशल-करों के द्वारा इसका सफल उपयोग अवश्य किया गया है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपर्युक्त छप्पयों द्वारा मिल जाता है।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि छप्पय का व्यवहार शृंगारयुगीन अवधवासी कवियों में बहुत नहीं था, केवल परम्परा-प्राप्त शैली के नाते उसका उपयोग कवियों ने किया था, तथापि यथावसर उक्त छन्द का व्यवहार सफलता के साथ किया गया, इसमें सन्देह नहीं।

सवैया तथा कवित्त (घनाक्षरी) छन्दों का प्रयोग हमारे आलोच्य कवियों ने सबसे अधिक किया है। कोमल और परुष भावों के प्रतीक, ये दोनों छन्द अपने पूर्ण विकास पर इसी शृंगार युग में पहुचे। उक्त दोनों छन्दों का वर्तमान स्वरूप अपने सुनिश्चित लक्षणों को, ब्रजभाषा के रूप-स्थैर्य के साथ ही साथ प्राप्त कर सका था। सूर के समय से उक्त दोनों छन्दो का प्रयोग आरम्भ हो गया था। अतः यदि यह कहा जाय कि ब्रजभाषा के उद्भव के साथ ही साथ सवैया और कवित्त का भी उद्भव हुआ तो सम्भवतः अनुचित न होगा। शृंगार युग में ब्रजभाषा के चरम विकास के साथ-साथ उक्त छन्दों को भी चरम विकास उपलब्ध हुआ।

सवैया का मूल-रूप चन्द कृत पृथ्वीराज रासो के छन्दों में उपलब्ध होता है। रासो में इनके नाम भिन्न हैं किन्तु लक्षण सवैया के हैं :

(१) मुरिल्ल छन्द, ८ भगण = किरीट सवैया
"संभरि सोर नरिंदह संभरि पंथ प्रजा प्रसरैं रन जंर्सरि।"[1]
S।। S।। S।। S।। S। ।S ।।S।। S।।
"भा वसुधा तल पाप महा हरि जू प्रगटे तव धारि किरीटहि"[2]

(२) त्रोटक छन्द, ८ सगण = दुर्मिल सवैया :
"तहं सिंघ न पंपि न अग्ग वनं, दिसि सून भई डरि जीव विनं।"[3]
।। S। ।S। ।S। ।S ।। S। ।S।। S। ।S
"सब सों करि नेह भजौ रघुनन्दन दुर्मिल भक्ति सदा लहिये"[4]

१. महाकवि चन्दवरदायी कृत असली पृथ्वीराज रासो, प्रथम समय, पं० मथुरा प्रसाद दीक्षित, सोलन, सम्पादित, पृ० ७३
२. छन्द-प्रभाकर (भानु) पृ० २०४
३. रासो-उपर्युक्त, पृ० ८३
४. छन्द-प्रभाकर (भानु) पृ० २०२

(३) दुप्पया छन्द, ८ सगण = दुर्मिल सवैया :
"सुप्रसन्न भयौ दिय दैत मन, नर रूप धरण्ण कियौ सुतनं ।"[१]
। । S । । S । । S । । S । । S । । S । । S । । S

उपर्युक्त मुरिल्ल, त्रोटक तथा दुप्पया छन्द हिन्दी के सवैया छन्द के दुर्मिल तथा किरीट भेदों के अनुरूप है। अवश्य ही थोड़ा सा अन्तर दृष्टिगत होता है, रासो के छन्दो मे प्रत्येक चरणार्ध अनुप्रासान्त है। सवैया के प्रत्येक चरण के मध्य मे इस प्रकार की अन्त्यानुप्रास की प्रवृत्ति नही पाई जाती। दुप्पया छन्द में सवैया के समान चार चरण न होकर केवल दो ही चरण हैं, सम्भवत: इसका कारण यही है कि इस छन्द में एक चरणार्ध ही पूरा चरण समझा जा सकता है (अन्त्यानुप्रास के कारण) और इस प्रकार छन्द में चारों चरण प्रस्तुत हो जाते है। इस प्रकार लगभग १२०० वि० के आसपास सवैया का स्वरूप, अस्तित्व ग्रहण कर चुका था, ऐसा कहा जा सकता है। रासो के रचना काल के विषय मे मतभेद हो सकता है, किन्तु इसे भी विद्वन्-मंडली ने स्वीकार कर लिया है कि इसके मूल रूपों की रचना १२०० वि० के आसपास अवश्य हुई होगी। भाषा की दृष्टि से उपर्युक्त छन्दों में तत्कालीन भाषा के वास्तविक स्वरूप के दर्शन होते हैं।[२]

सवैया का एक थोड़ा सा अव्यवस्थित रूप, कबीर के छन्दों में भी उपलब्ध होता है।

"भेख जो देख के कोई भू लो मती भेख पहि रे कोई सिद्ध ना हीं।"[३]
S । S S । S S । S S । S S । । । S । S S । S S

उपर्युक्त छन्द में रगण तथा एक गुरु का स्वरूप दिखलाई पड़ता है। पांचवें गण में एक गुरु के स्थान पर दो लघु मात्राएं आ पड़ी हैं, यदि उन्हे एकत्र कर दिया जाय तो छन्द का स्वरूप व्यवस्थित हो जायगा। वास्तव में सवैया की मात्राओं का लघु-गुरु, पठनशैली पर अधिक निर्भर करता है। अत: उसमें व्यवस्था उत्पन्न कर लेना कठिन नही है। १५ वी शताब्दि विक्रमीय में कबीर और तत्पश्वात् उनके पुत्र कमाल द्वारा भी सवैये के ऐसे अव्यवस्थित रूपों का उपयोग प्राप्त होता है।

---

१. रासो उपर्युक्त, पृ० ९०

२. चन्दवरदायी और उनका काव्य, डा० वि० वि० त्रिवेदी

३. कबीर-वचनावली, हरिऔध, पृ० २४४, छं० १९

"कहत कमाल कब्बीर को बालका, निरखि नरसिंह पहलाद गायो।"[1]

इत्यादि

१७ वीं श० वि० के आरम्भ से सवैया छन्द का प्रौढ़ तथा प्रचुर प्रयोग हिन्दी काव्य में दृष्टिगत होता है। अवध के एक अत्यन्त प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय कवि को इस छन्द का सर्वप्रथम सफल प्रयोग करने का श्रेय प्राप्त है और वे थे सुदामा-चरित्र के रचयिता नरोत्तम दास। इस ग्रंथ की रचना १५८२ वि० में हुई।[2] इसके उपरान्त सवैया का माधुर्य इतना स्वीकृत हुआ कि तुलसी से लेकर आज तक इसकी धारा, अवध प्रदेश में अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित हो रही है। संगीतात्मकता इस छन्द की विशेषता है। प्रसिद्ध पाश्चात्य भाषा-विज्ञान-वेत्ता रेवेरेण्ड एस्० एच्० केलाग ने छन्द-शास्त्र के अन्तर्गत (गीतों) भजनों में प्रयुक्त छन्दों में तोटक सवैया का उदाहरण दिया है।[3]

अष्टछाप के पद-रचयिता कवियों ने भी इस छन्द की संगीतात्मकता को पहचाना था और पदों के साथ-साथ इसे भी गेयात्मक रूप में स्वीकार किया था। छीत-स्वामी (सं० १६२०) का एक पद (सवैया मूलक) देखिये :

"भोर भये नव कुंज सदन तें आवत लाल गोवर्धन धारी।
लटपट पाग मरगजी माला सिथिल अंग डगमग गति न्यारी।
बिनु गुन माल बिराजत उर पर नख छत द्वैज चंद अनुहारी।
छीत स्वामि जब चितए मोतन तब हौं निरखि गई बलिहारी॥"

उक्त पद का प्रथम चरण ७ भगण और २ गुरु के मात्राक्रम से निर्मित है। यह मत्तगयंद सवैया छन्द है। अगले चरण यद्यपि पूर्णतया उक्त मात्रा-क्रम को लेकर

---

१. मिश्रबंधु-विनोद, भाग १, पृ० १८९

२. वही, भाग १, पृ० २६५

3. § 1011 "Many of the metres enumerated above.........are used in the composition of verse designed to be sung. The only special point to be noted is the custom of continuing the same rhyme throughout all the lines of the bhajan. A whole or half – stanza is often repeated as a refrain. The follwing are examples added of common meters.

§ 1012 तोटक सवैया Scheme ८ स + ग Pause at 4th foot

जप जोग करे तन साधि भरे नर कोटि उपाय रचे मन भाए।

A Grammer of Hindi Language

By the Rev. S. H. Kellog D.D., LL.D.(Chapter on Prosody)

है और यही वर्णक्रम घनाक्षरी का भी है। उपर्युक्त पद "राग सोरठ" के अन्तर्गत रक्खा गया है, उसकी गेयता प्रत्यक्ष ही है। श्री नगेन्द्र नाथ वसु ने अपने विश्वकोष में घनाक्षरी की परिभाषा देते हुए कहा है: "घनाक्षरी (सं० पु०) दण्डक वा मनहर छन्द। इसे साधारण लोग कवित्त कहते हैं। ध्रुपद राग में भी यह छन्द गाया जा सकता है।"[1] कविवर निराला ने इस छन्द को हिन्दी का 'जातीय छन्द' कहा है[2] क्योंकि यह जनता का "कण्ठहार" रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-प्रदेश और मुख्यतया अवध की जनता ने, जितना अधिक कवित्त (घनाक्षरी) तथा सवैया छन्दों को कठाग्र किया, उतना किसी दूसरे छन्दों को नहीं। अतः गेयता के साथ-साथ लोकप्रियता भी इस छन्द की विशेषता है।

रस की दृष्टि से इस छन्द का प्रयोग अधिकांशतः परुष रसों को अभिव्यक्त करने के लिए होता रहा है, परन्तु विशेषता यह है कि अपने गेयत्व-गुण के कारण घनाक्षरी के क्षेत्र को सीमित नहीं किया जा सकता। परुष तथा कोमल दोनों प्रकार के रसों पर घनाक्षरी का समान अधिकार है। शृंगार, भक्ति, करुण, हास्य आदि से लेकर वीर, भयानक, रौद्र आदि तक प्रत्येक रस की अभिव्यंजना इस छन्द में सफलतापूर्वक हुई है। दो एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

रौद्ररस का उदाहरण:

"देखत मदन्ध दसकन्ध अन्धधुन्ध दल,
बन्धु सों बलकि बोल्यो राजाराम बरिबंड।
लच्छन विचच्छन संभारे रहो निज पक्ष,
देखिहौं अकेले ही ही अरि अनी परचंड।
आजु अचवाऊं इन शत्रुन के श्रोणितनि,
दास भनि बाढ़ी मेरे बाननि तृषा अखंड।
जानि पन सक्कस तरक्कि उठ्यो सक्कस,
करक्कि उठ्यो कोदण्ड फरक्कि उठ्यो भुजदण्ड ॥६५॥"[3]

३२ अक्षर की रूप घनाक्षरी में राम के क्रोध का आतंक-पूर्ण वर्णन किया गया है। ८, ८, ८, ८ पर यति हैं। ओजपूर्ण शब्दावली, भाषा-प्रवाह आदि के आधार पर रस-परिपाक का सफल प्रयत्न हैं।

दूसरा छन्द शान्त तथा शृंगारात्मक भक्ति सम्बन्धी देखिए:

---

१. हिन्दी विश्वकोष, भाग ७
२. भूमिका, परिमल
३. का० नि०, ना० जी० प्रेस, पृष्ठ ३१

सूरदास हित हरि, लोचन आए है भरि,
बलहू कों बल जाकौ, सोई री कन्हैया ॥३७२—९०॥"[1]

८, ८, ८ तथा ६ पर यति के साथ उक्त छन्द मे ३० वर्ण हैं, राग केदारी के अन्तर्गत उसे गेय पदों मे स्थान दिया गया है।

· संक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि घनाक्षरी शृंगारयुगीन, हमारे आलोच्य कवियों का एक विशिष्ट छन्द था। उसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक रहा है। सगीत तथा पाठ्यता (recitation) दोनों ही क्षेत्रों में उसका समान रूप से सफलतापूर्वक उपयोग होता रहा है। सभी रसो के लिए भी उसका सफलतापूर्वक व्यवहार किया गया। आवश्यकता से अधिक पिंगल-नियमों के नियंत्रण से मुक्त होने के कारण भी इसका प्रचुर प्रयोग हुआ। वास्तव में घनाक्षरी एक आदर्श छन्द कहा जा सकता है। इन छन्दो के अतिरिक्त हमारे आलोच्य कवियों ने अनेक अन्य छन्दो का भी उपयोग किया है, किन्तु मुक्तक की दृष्टि से जितनी सफलता तथा बहुलता उक्त छन्दो की रही उतनी अन्य छन्दो की नही। रोला, बरवै, त्रिभंगी, गीतिका, हरिगीतिका, कुडलिया आदि अनेक छन्द प्रयुक्त तो अवश्य हुए, किन्तु उन्हे प्रधानता न मिल सकी। प्राधान्य की दृष्टि से उपर्युक्त छन्द ही प्रमुख रहे।

प्रबंध-शैली

प्रबध-काव्य के शृगार-युग की विशेष प्रवृत्ति, प्रबध-रचना नही रही है। मुक्तक का ही सर्वतोमुखी प्रयोग कवियों ने किया है। किन्तु जहां एक ओर दरबारी-प्रवृत्ति के कारण मुक्तक को अत्यधिक प्रश्रय मिल रहा था, वहां दूसरी ओर दरबारी-क्षेत्र से बाहर ऐसी अनेक प्रवृत्तियां, जनता के बीच, परिपोषित हो रही थी, जिनका सम्बन्ध बहुत कुछ लोक-जीवन तथा लोक-भावनाओं के साथ था। इन प्रवृत्तियों मे भक्ति-भावना का महत्व सर्वोपरि दृष्टिगोचर होता है, यद्यपि काव्यक्षेत्र मे बहु-प्रचलित शृंगारवृत्ति तथा साहित्यिक-शास्त्रीयता का मिश्रण भी इस भक्ति-भावना के बीच देखा जा सकता है। भक्ति-सवधी, राम, कृष्ण तथा पुराणों की विविध कथाओं के माध्यम से तथा पूजापाठ के बहुविध कर्मकाण्ड का वर्णन करके जनता ने, तथा जनता के कवियो ने अपनी सामूहिक-भावनाओ का परिचय दिया है। इस दृष्टि से प्रबंध-काव्यों का इस युग में अपना एक महत्व है, भले ही उनकी संख्या, मुक्तक रचनाओं की तुलना में नगण्य हो।

---

१. ना० प्र० सभा, सूरसागर, पृष्ठ ३८४

गोपाल कवि कृत 'भगवंतराय की विरुदावली' में भगवंतराय और सआदत खाँ के युद्ध का वर्णन है। सदानंद कृत 'भगवंत-रायसा' का विषय भी यही है।

नीति-काव्य-युक्त एक श्रेष्ठ प्रबंध-रचना शंभुनाथ त्रिपाठी कृत बैताल-पचीसी है। इसका निर्माण सं० १८०९ में हुआ। यह एक मनोहर काव्य तथा श्रेष्ठ प्रबंध है।

फुटकर विषयों पर प्रबंधात्मक शास्त्रीय पुस्तिकाएं अनेक कवियों ने प्रस्तुत की हैं। इच्छाराम कृत शालिहोत्र (१८४८ वि०) में घोड़ों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। जगन्नाथ कृत जुद्धोत्सव (१८८७) में युद्ध-रीति का निदर्शन हुआ है। दास कृत शतरंज-शतिका में शतरंज-सम्बन्धी नक्शे तथा नियम दिए गए हैं। इसी प्रकार अन्य कलाओं तथा शास्त्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गई हैं, जैसे वैद्यक, धनुर्विद्या, कोकशास्त्र, तन्त्र-मन्त्र, योगसाधना इत्यादि।

सूफी-परम्परा में लिखा हुआ एक बड़ा प्रबंध काव्य हंस-जवाहिर है। इसके रचयिता कासिमशाह हैं। इसकी रचना १७८८ वि० में हुई। विदेशी प्रभाव से प्रेरित रचना हरप्रसाद भट्ट की "दहे-मजलिस" (१९ श० वि० मध्य) है जिसमें इमाम हुसैन तथा यजीद के युद्ध का वर्णन किया गया है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है अवध के शृंगारयुगीन कवियों ने प्रबंध-रचना को यद्यपि मुक्तक के समान महत्व नहीं दिया तथापि उसका स्वतंत्र-क्षेत्र ग्रहण करके उसे विशेषता प्रदान कर दी। भक्ति उसका प्रधान विषय रहा। शृंगार तथा वीर-रस उसके गौण रस रहे और लोकजीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही विषय लेकर कवियों ने उन्हें प्रबन्ध रूप में आबद्ध किया। अतः आलोच्य युग की लोक-जीवन सम्बन्धी भावनाओं तथा जीवन के उस पक्ष की अभिव्यंजना, बहुत कुछ इस प्रबंध-शैली के माध्यम से हुई और क्रमशः भक्ति, नीति, शृंगार तथा अन्य रस, जिनमें वीर उल्लेखनीय है, इस काव्य के विषय रहे। प्रबंध-रचना, मुक्तक काव्य की पूरक कही जा सकती है।

प्रबंध-शैली में रचित काव्य, दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। प्रथम अनुवादित और द्वितीय मौलिक। अनुवादित रचनाएँ अधिकांशतः संस्कृत के ही रूपान्तर हैं। विष्णुपुराण भाषा (भिखारीदास), बैताल-पच्चीसी [illegible] त्रिपाठी), काव्य-कलानिधि (नैषध काव्य) गुमान मिश्र रचित, इस [illegible] हैं। मौलिक काव्य के अन्तर्गत कुछ प्रबंध [illegible] कहा जा सकता है। सहजराम का 'रघुवंश [illegible] पर लिखा हुआ एक बृहत् ग्रंथ है। कवि

रामचरित्र, कृष्णचरित्र, महाभारत तथा भागवत की विविध कथाएं, गीता आदि से विषय चयन कर हमारे आलोच्य युग के कवियों ने अनेक श्रेष्ठ रचनाएं प्रस्तुत की हैं। लालदास का अवध-विलास (१७०० वि०), भूपति का भागवत दशम स्कन्ध (१७४४ वि०), सहजराम वैश्य का रघुवंश-दीपक (१७८९ वि०), रासन ब्राह्मण कृत सुदामाचरित्र, रामचरन रचित ऊषा-अनिरुद्ध-विवाह (१८०२ ई०), नेवलदास रचित सुखसागर (१८१७ वि०), गुमान मिश्र विरचित काव्य-कलानिधि (नैषधकाव्य) (१८२५ वि०), नवलसिंह प्रधान कृत अद्भुत-रामायण (१८९१ वि०), दास रचित विष्णु-पुराण-भाषा (१९वीं श० वि०), गिरधारी का श्रीकृष्ण-चरित्र (१९वी श०वि०), इस प्रकार की रचनाओं के उदाहरण हैं।

शृंगारवृत्ति तथा दैनिक जीवन के संयोग से भक्ति-भावना-समन्वित काव्य में अष्टयाम-चर्चा, कुछ विशेष लौकिक बनकर आ उपस्थित हुई। तत्कालीन विलास-मय जीवन की छाया ने हमारे उपास्यदेवों की प्रकाशमान् आभा को कुछ मन्दता प्रदान कर दी, इसमें कोई सन्देह नहीं। अयोध्या के सखी-सम्प्रदाय के भक्तों ने राम और कृष्ण की विहार-लीलाओं के वर्णन द्वारा अपने प्रभुओं को कुछ निम्नस्तर पर उतार लिया। जनकराज किशोरीशरण-रचित अष्टयाम, कृपानिवास-रचित अष्टकाल-समय-जान-विधि, भावना-पचीसी तथा समय-प्रबंध में राधाकृष्ण-शृंगार तथा सीताराम की आठ पहर की लीलाएं वर्णित है। रामचरणदास ने अमृत-खड मे भगवान् राम का जीवन-चरित पिगल-शास्त्र के साथ संयुक्त कर दिया है। अष्टयाम-सम्बन्धी ये कृतियां एक ही चरितनायक की विविध लीलाओं का चित्रण करती है, अतः वर्णन की एकसूत्रता के आधार पर इन्हे प्रबंधशैली के अन्तर्गत परिगणित किया जा सकता है। इसी प्रकार की आध्यात्मिक-ज्ञान सम्बन्धी एक धारा, प्रबधात्मक काव्य के अन्तर्गत, संवादशैली में प्रस्तुत की गई है। सुखदेव मिश्र रचित अध्यात्म प्रकाश (१८वी श० वि०) तथा जगजीवन दास रचित, मन-पूरना (१८वी श० वि०) इस प्रकार की रचनाओं के उदाहरण हैं। ये प्रबंध, मुख्यतः सवादशैली मे लिखे गए है। गुरु-शिष्य, शकर-पार्वती संवादों के माध्यम से इनकी कथा मे एक सूत्रता उत्पन्न की गई है। भक्तों की जीवनी से सम्बद्ध प्रबध भी रचे गए है। बोधेदास-कृत भक्त-विनोद (१८४८ वि०) मे महन्त जगजीवन दास की जीवनी प्रस्तुत की गई है।

वीर-काव्य सम्बन्धी ऐतिहासिक रचनाओ के दर्शन भी होते है, यद्यपि इनकी संख्या अधिक नही है। शिवनाथ कृत 'रासा भैया बहादुर सिंह का' (१८५४ वि० के लगभग) मे गोंडा के बहादुर सिंह के युद्ध का वर्णन है।

गोपाल कवि कृत 'भगवंतराय की विरुदावली' में भगवंतराय और सआदत खाँ के युद्ध का वर्णन है। सदानंद कृत 'भगवंत-रायसा' का विषय भी यही है।

नीति-काव्य-युक्त एक श्रेष्ठ प्रबंध-रचना शंभुनाथ त्रिपाठी कृत बैताल-पचीसी है। इसका निर्माण सं० १८०९ में हुआ। यह एक मनोहर काव्य तथा श्रेष्ठ प्रबंध है।

फुटकर विषयों पर प्रबंधात्मक शास्त्रीय पुस्तिकाएं अनेक कवियों ने प्रस्तुत की हैं। इच्छाराम कृत शालिहोत्र (१८४८ वि०) मे घोड़ों की चिकित्सा का वर्णन किया गया है। जगन्नाथ कृत जुद्धोत्सव (१८८७) में युद्ध-रीति का निदर्शन हुआ है। दास कृत शतरंज-शतिका में शतरंज-सम्बन्धी नक्शे तथा नियम दिए गए है। इसी प्रकार अन्य कलाओं तथा शास्त्रों को लेकर रचनाएं प्रस्तुत की गई हैं, जैसे वैद्यक, धनुर्विद्या, कोकशास्त्र, तंत्र-मंत्र, योगसाधना इत्यादि।

सूफी-परम्परा में लिखा हुआ एक बड़ा प्रबंध काव्य हंस-जवाहिर है। इसके रचयिता कासिमशाह हैं। इसकी रचना १७८८ वि० में हुई। विदेशी प्रभाव से प्रेरित रचना हरप्रसाद भट्ट की "दहे-मजलिस" (१९ श० वि० मध्य) है जिसमें इमाम हुसैन तथा यजीद के युद्ध का वर्णन किया गया है।

संक्षेप मे यह कहा जा सकता है अवध के शृंगारयुगीन कवियों ने प्रबंध-रचना को यद्यपि मुक्तक के समान महत्व नही दिया तथापि उसका स्वतंत्र-क्षेत्र ग्रहण करके उसे विशेषता प्रदान कर दी। भक्ति उसका प्रधान विषय रहा। शृंगार तथा वीर-रस उसके गौण रस रहे और लोकजीवन से सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही विषय लेकर कवियों ने उन्हें प्रबन्ध रूप में आबद्ध किया। अतः आलोच्य युग की लोक-जीवन सम्बन्धी भावनाओं तथा जीवन के उस पक्ष की अभिव्यंजना, बहुत कुछ इस प्रबंध-शैली के माध्यम से हुई और क्रमशः भक्ति, नीति, शृंगार तथा अन्य रस, जिनमे वीर उल्लेखनीय है, इस काव्य के विषय रहे। प्रबंध-रचना, मुक्तक काव्य की पूरक कही जा सकती है।

प्रबंध-शैली में रचित काव्य, दो वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं। प्रथम अनुवादित और द्वितीय मौलिक। अनुवादित रचनाएँ अधिकांशतः संस्कृत ग्रंथों के ही रूपान्तर हैं। विष्णुपुराण भाषा (भिखारीदास), बैताल-पच्चीसी (शंभुनाथ त्रिपाठी), काव्य-कलानिधि (नैषध काव्य) गुमान मिश्र रचित, इस प्रकार के काव्यों के प्रमुख उदाहरण हैं। मौलिक काव्य के अन्तर्गत कुछ प्रबंध ऐसे मिलते हैं, जिन्हें छायानुवाद कहा जा सकता है। सहजराम का 'रघुवंश दीपक', मानस की कथा के आधार पर लिखा हुआ एक बृहद् ग्रंथ है। कवि

ने भरत की ग्लानि को व्यक्त करते हुए उनकी शपथों की एक लम्बी सूची प्रस्तुत कर दी है। एक अंश देखिए :

"जे अबला बालक बध करहीं। कुल तिय तजि कुलटा मन धरहीं।
जे अघ अव, अवु मह थूके। जे अघ नगर ग्राम पुर फूके।
जे अघ चौथि चन्द्र अवलोके। जे तीरथ बरात व्रत छेंके।
जे अघ मातु पिता अपमाने। जे अघ क्षत्री समर पराने।
जे अघ बाछा गाय बिछोये। जे अघ सांझ प्रात के सोये।
तिनकी गति मोहि दे करतारा। जो जननी मत होय हमारा॥"[1]

उपर्युक्त उद्धरण, कवि के सामान्य-ज्ञान, उसकी नीत्युपदेश की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। कथा में अनावश्यक विस्तार उत्पन्न करनेवाले इस प्रकार के उद्धरण, लोक-प्रवादों का परिचय अवश्य देते हैं किन्तु इन वर्णनों से प्रबंध-सौष्ठव में बाधा तो पड़ती ही है।

साहेब नेवलदास ने सुखसागर की रचना शुकदेव-जन्म के पौराणिक आधार को लेकर की है, किन्तु स्वयं सतनामी, निर्गुण उपासक होने के कारण उन्होंने निजी-भावना के आधार पर उपासना का साधनात्मक स्वरूप वर्णित किया है। शुकदेव की तपस्या इस प्रकार चित्रित की गई है :

"पद्मासन गहि नाम जगावा। अचल प्रतीत प्रेम सुक लावा।
कर तसबी नहिं, कंठ न माला। मनुवा सुमिरत नाम रिसाला।
होइ थिर लीन नाम मन बोलै। जस निर्वान ज्योति नहिं डोलै।
नमदा नाउ बिछउना माने। नाम दुसीस दीन्ह सिरहाने।
नामैं प्रीति बसन करि ओढ़े। मनुवा नाम डोरि गहि पौढ़े।

• • •

नाम डोरि गहि खैंचि दृढ़ाये। तब श्रीराम प्रकट होइ आये।

• • •

ऐसी मधुर सुहावनि मूरति। लागी आंखि गगन जेहि सूरति।
त्रिकुटी खोलि निरखि जौ जाई। सबके नैनन्ह रही समाई।"[2]

स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति-गत विश्वासों पर आधारित कथन, मूलग्रंथ की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। इन्हें तो कवि की मौलिकता ही के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।

---

१. रघुवंश-दीपक, पृष्ठ २९२
२. सुखसागर, पृष्ठ ४०-४१

मौलिक ग्रंथों के अन्तर्गत दूसरी श्रेणी मे इस प्रकार का छायाभास नही है। उसमें या तो सिद्धान्त-निरूपण करनेवाले ग्रंथ हैं, जैसे सुखदेव मिश्र का अध्यात्म-प्रकाश, जगजीवन दास के परम-ग्रंथ, मनपूरना, महाप्रलय, अथवा जीवनी-सम्बन्धी ग्रंथ जैसे बोधेदास कृत भक्त-विनोद (जगजीवन दास का जीवन-चरित्र)। इन्ही मौलिक-ग्रंथों के अन्तर्गत सूफी काव्य हस-जवाहिर (कासिमशाह) को भी लिया जा सकता है। उक्त वर्गीकरण पर दृष्टिपात करके भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि हमारे आलोच्य युग के प्रबंध-काव्य, भक्ति-भावना समन्वित ही विशेष हैं। आगे हम संक्षेप मे इस काव्य-शैली की प्रमुख विशेषताओं पर दृष्टि डालेंगे।

विषय की दृष्टि से हमारे आलोच्य-युग के प्रबंध अधिकाशतः धार्मिक है। रामायण, महाभारत, भागवत, पुराण और कल्पना उनके आधार हैं, यह बात पीछे कही जा चुकी है। फिर भी, युग-प्रवृत्ति कृष्णकाव्य की ओर विशेष थी। इस कारण भागवत, महाभारत अथवा पौराणिक कथाओं की प्रचुरता दृष्टिगत होती है। कृष्ण-काव्य में शृंगारवृत्ति की प्रधानता होने के कारण, तथा साहित्य-क्षेत्र में भी शृंगार-प्रधानता के कारण, अनेक कवियों ने अष्टयाम जैसी रचनाओं के रूप मे कृष्ण के लीला-विलास की कथा कही है। इस दृष्टि से कथाएं मूलतः 'प्रख्यात' कही जा सकती हैं, यद्यपि कवियों ने परिस्थितियों के अनुकूल, कल्पना का पर्याप्त मिश्रण इनमें कर दिया है। कृष्ण की भागवत-सम्बन्धी कथा ही इन रचनाओं का आधार है। युग की विलासमयी, दरबारी प्रवृत्तियां कल्पना का प्रमुख आधार हैं। राम-काव्य के आधार पर रचित ग्रंथों की कथाऐं, या तो रामायण, तुलसीकृत महाकाव्य, से ग्रहण की गई है अथवा संत-काव्य के राम की निर्गुण-सत्ता प्रतिपादित करने के लिए कबीर आदि की शैली का अनुगमन करती हैं। सूफी-काव्यों का विषय पूर्णतया कल्पित ही है, केवल परम्परागत लोक-जीवन ही उसका आधार है। जीवनी-सम्बन्धी काव्य अधिकांशतः तथ्यों पर आधारित है; केवल कवि की भावुकता के कारण उसमें स्थान-स्थान पर कल्पनाशीलता के दर्शन हो जाते हैं। ऐसे काव्य, निबंध-श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। उदाहरण :

"बालक सुन्दर सुभग अमोला। माता गई सोवाइ खटोला।
मातँ जाइ प्रसाद बनावा। तेहि औसर का कौतुक गावा।
तेहि छिन यक अभ्यागत आये। बालक देखि बहुत मन भाये।
तकि तिन दरस बहुत मन माने। छोरा करि लै तुरत पराने।
लैगे आदि शक्ति के पासा। मनिहैं सत्य राम के दासा।

ने भरत की ग्लानि को व्यक्त करते
प्रस्तुत कर दी है। एक अंश देखिए :

"जे अबला बालक वध करहीं।
जे अघ अब, अबु महं थूके।
जे अघ चौथि चन्द्र अवलोके।
जे अघ मातु पिता अपमाने।
जे अघ बाछा गाय बिछोये।
तिनकी गति मोहि दे करतारा।

उपर्युक्त उद्धरण, कवि के सामा...
करता है। कथा में अनावश्यक ...
लोक-प्रवादों का परिचय अवश्य देते
बाधा तो पड़ती ही है।

साहेब नेवलदास ने सुखसागर
आधार को लेकर की है, किन्तु स्वयं
उन्होंने निजी-भावना के आधार पर
किया है। शुकदेव की तपस्या इस ...

"पद्मासन गहि नाम जगावा
कर तसबी नहिं, कंठ न माला
होइ थिर लीन नाम मन बोलैं,
नमदा नाउ बिछउना माने।
नामैं प्रीति बसन करि ओढ़े।

●

नाम डोरि गहि खैंचि दृढ़ाये।

●

ऐसी मधुर सुहावनि मूरति।
त्रिकुटी खोलि निरखि जौ जाई।

स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति-गत ...
की कथा से कोई सम्बन्ध नहीं रखते।
में स्वीकार करना पड़ेगा।

१. रघुवंश-दीपक, पृष्ठ २९२
२. सुखसागर, पृष्ठ ४०-४१

"ईति भीति राखी न नल, जग न लहै कहुँ ऐन।
अति बरखा छोड़ति न छिन, अरि रमनिन के नैन ॥
संगर धरा में जाके रंग सों सुभट निज,
निज चातुरी सो जस पटनि बुनत हैं।
करि कर वाल बेम कोरि कोरि जोरि जोरि,
चंद्र तो विसद जाके गुनन गनत हैं।
अमल अमोल औ सुडौल झल झल होत,
कबहुँ न घटत जन देखत सुनत हैं।
आठो दिसि रानी रजधानी के सिंगारिबे को,
आठो दिगराज आनि चीरन चुनत हैं ॥९॥
जिमि वैरिन छाड़ि विरोध दयो है। तिमि धर्म विरोध नहीं ठनयो है।
जित मित्र-अमित्र प्रतीत प्रहारी। दृग चारि विचार दुगै निरवारी ॥१०॥"[१]

महाराज नल का नायकत्व उपर्युक्त उद्धरण में धीर-ललित, धीरोद्धत तथा धीरोदात्त रूपों में अंकित हुआ है। रानी का शृंगार करनेवाला नल, ललित गुणों से युक्त है। युद्ध में उसका शौर्य तथा अरि-नारियों के प्रति आतंक उसकी उद्धतता व्यक्त करते हैं और नीति-धर्म-रक्षक के रूप मे वह उदात्त भी है। इस प्रकार हमारे प्रबंध-काव्यों मे नायक का चरित्र, पर्याप्त उदार रूप में अंकित हुआ देखा जा सकता है।

आलोच्य-युगीन प्रबंध-काव्यों मे अधिकाशतः ग्रंथ का आरम्भ गणपति-वन्दना से ही हुआ है। यद्यपि अपनी अपनी विचारधारा के अनुसार कवियों ने निर्गुण ब्रह्म, सद्गुरु, भगवान् शंकर, भगवान् विष्णु आदि की वन्दना भी की है, किन्तु अन्य देवताओं को प्राधान्य देकर भी गणपति की उपेक्षा नहीं की गई है। वास्तव में शुभ-कार्य की समाप्ति के लिए विघ्नेश गणपति की परम्परागत वन्दना-शैली का पालन प्रबन्धकारों ने किया है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :

१. "जो इन्द्रिन को ईश विश्व भावन जगदीश्वर।
जो प्रधान बुद्धयादि सकल जग को प्रपचकर।
परम पुरुष पूरबज सृष्टि थिति लय को कारण।
विष्णु पुंडरीकाक्ष मुक्ति पद मुक्ति सुधारण।
जेहि दास ब्रह्मा अक्षर कहिय, जो गुण उदधि तरंगमय।
तेहि सुमिरि सुमिर पायँन परिय, करिय जयति जय जयति जय ॥१॥"[२]

---

१. काव्य-कलानिधि, गुमान, पृ० १५-१६   २. विष्णु-पुराण भाषा, पृ० १

जेहि सुनि मन विस्वास न आइहि । सो नर अंतकाल पछिताइहि ।
शक्ति तकेउ नव बालक नीका । तब करि कनक रंग को टीका ।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण, जगजीवन दास के शैशव मे, उन पर शक्ति की कृपा का भावुकता-पूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है । घटना की असंभावना का निराकरण लेखक ने यह कह कर किया है कि 'मनिहैं सत्य राम के दासा' ।

काव्यों का नामकरण भी प्रधानतया विषय को दृष्टिगत रख कर ही किया गया है । अनुवादित ग्रंथों में से कुछ का तो मूल-नाम ही ग्रहण कर लिया गया है; 'विष्णु-पुराण भाषा' अथवा 'बैताल-पच्चीसी' । केवल 'भाषा' शब्द से कहीं-कहीं उसके रूपान्तर का आभास दे दिया गया है । कुछ अनुवादित ग्रंथों का नामकरण कवि ने अपनी इच्छानुसार कर लिया है । नैषधचरित का नाम कवि गुमान मिश्र ने 'काव्य-कला-निधि' रक्खा है । वास्तव में उक्त संस्कृत-काव्य के आधार पर कवि ने अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन करना चाहा है, जिसके फल-स्वरूप उसने अनुवाद का नाम 'काव्य-कलानिधि' रक्खा है । राम-कथा का वर्णन करनेवाले सहजराम वैश्य ने अपनी रामायण का नाम 'रघुवंश-दीपक' रक्खा है । यह नाम, भगवान् राम का विशेषण है, अतः इसे नायक के नाम पर रक्खा हुआ नाम कहा जा सकता है। 'हुस-जवाहिर' भी नायक-नायिका के सम्मिलित नामों के आधार पर किया हुआ नामकरण है। 'भक्त-विनोद', काव्य के द्वारा उत्पन्न प्रभाव का आधार लेकर रक्खा हुआ नाम है । 'अष्टयाम' वर्ण्यविषय का संकेत करनेवाला नाम है । इस प्रकार आलोच्य-युग के प्रबंधों का नामकरण व्यापक दृष्टि से किया गया है, जिसका आधार, कवि की व्यक्तिगत रुचि ही कही जा सकती है ।

उपर्युक्त काव्यों के नायक कृष्ण, राम अथवा कोई महापुरुष रहे हैं, अतएव उन्हें धीरललित, धीरोदात्त अथवा धीर-प्रशान्त की श्रेणियों में रक्खा जा सकता है । कृष्ण अथवा किसी प्रभुता-सम्पन्न नायक के बहु-विध-विहार में लालित्य है; मर्यादावादी, लोकरक्षक राम, देवता-विशेष अथवा कोई सम्राट् उदात्त नायक हैं और त्यागी, साधक तथा लोकोपकारक महापुरुष प्रशान्त श्रेणी में लिए जा सकते हैं । युद्ध-वीर प्रबंधों में नायक का स्वरूप धीरोद्धत भी मिल जाता है । हमारे आलोच्य-युग में यद्यपि जीवन-चरित तथा युद्धवीरता सम्बन्धी काव्यों की अधिकता नहीं है तथापि साहित्य उनसे शून्य भी नहीं है, अतः शास्त्रीय-दृष्टि से चारों प्रकार के नायकों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं । एक उदाहरण प्रस्तुत है :

---

१. भक्त-विनोद, पृष्ठ २,४

"ईति भीति राखी न नल, जग न लहै कहुँ ऐन।
अति बरखा छोड़ति न छिन, अरि रमनिन के नैन॥
संगर धरा में जाके रंग सों सुभट निज,
निज चातुरी सों जस पटनि बुनत हैं।
करि कर बाल बेम कोरि कोरि जोरि जोरि,
चद्र सो विसद जाके गुनन गनत हैं।
अमल अमोल औ सुडौल झल झल होत,
कबहुँ न घटत जन देखत सुनत हैं।
आठो दिसि रानी रजधानी के सिंगारिबे को,
आठो दिगराज आनि चीरन बुनत हैं॥९॥
जिमि बैरिन छाड़ि बिरोध दयो है। तिमि धर्म विरोध नही उनयो है।
जित मित्र-अमित्र प्रतीत प्रहारी। दृग चारि विचार दुगै निरधारी॥१०॥"[१]

महाराज नल का नायकत्व उपर्युक्त उद्धरण में धीर-ललित, धीरोद्धत तथा धीरोदात्त रूपों मे अंकित हुआ है। रानी का शृंगार करनेवाला नल, ललित गुणों से युक्त है। युद्ध में उसका शौर्य तथा अरि-नारियो के प्रति आतक उसकी उद्धतता व्यक्त करते है और नीति-धर्म-रक्षक के रूप मे वह उदात्त भी है। इस प्रकार हमारे प्रबंध-काव्यों में नायक का चरित्र, पर्याप्त उदार रूप में अंकित हुआ देखा जा सकता है।

आलोच्य-युगीन प्रबंध-काव्यों में अधिकाशतः ग्रथ का आरम्भ गणपति-वन्दना से ही हुआ है। यद्यपि अपनी अपनी विचारधारा के अनुसार कवियों ने निर्गुण ब्रह्म, सद्गुरु, भगवान् शकर, भगवान् विष्णु आदि की वन्दना भी की है, किन्तु अन्य देवताओ को प्राधान्य देकर भी गणपति की उपेक्षा नहीं की गई है। वास्तव में शुभ-कार्य की समाप्ति के लिए विघ्नेश गणपति की परम्परागत वन्दना-शैली का पालन प्रबन्धकारों ने किया है। कुछ उदाहरण पर्याप्त होंगे :

१. "जो इन्द्रिन को ईश विश्व भावन जगदीश्वर।
जो प्रधान बुद्धयादि सकल जग को प्रपचकर।
परम पुरुष पूरबज सृष्टि थिति लय को कारण।
विष्णु पुडरीकाक्ष मुक्ति पद मुक्ति सुधारण।
जेहि दास ब्रह्म अक्षर कहिय, जो गुण उदधि तरगमय।
तेहि सुमिरि सुमिर पायँन परिय, करिय जयति जय जयति जय॥१॥"[२]

---

१. काव्य-कलानिधि, गुमान, पृ० १५-१६   २. विष्णु-पुराण भाषा, पृ० १

कविवर दास ने उपर्युक्त मंगलाचरण में नमस्कार तथा आशीर्वचन, दोनों शैलियों का समन्वय कर दिया है। उन्होंने अपने काव्य का आरम्भ विष्णु-वन्दना से ही किया है, गणपति-वंदना से नहीं। ऐसे उदाहरण अपवाद-स्वरूप ही माने जाने चाहिए।

२. "सुमुखश्चैक दन्तश्चकपिला गज कर्णका।
लम्बोदरश्चविकटो विघ्ननाशो विनायकः॥१॥
गान सरस अलि करत परसि मद मोद रंग रचि।
उघटत ताल रसाल करन चल चाल चोप मचि॥
चिन्तामणिमय जटित हेम-भूषण गण वज्जत।
चलत लोल गति मृदुल अंग नवतंडव सज्जत॥
लखि प्रणति समय मुख तात को बिहँसि मातु लिय लाई उर।
जय जय मतग आनन अमल जय जय जय तिहुं लोक गुर॥२॥"[1]

उपर्युक्त वन्दना भी आशीर्वादात्मक है। वात्सल्य भाव उसकी मौलिकता है।

३. "गुरु गणपति शिव शक्ति सुर, बन्दौं रमा रमेश।
दास नेवल हरिचरित रत, करौं कथा उपदेश॥"[2]

उपर्युक्त मंगलाचरण नमस्कारात्मक है। गणपति से पहले गुरू को प्रणाम किया गया है। अन्य देवताओं का भी समान रूप से स्मरण किया गया है।

४. "सतगुर समरथ साहेब, तुम्हरिन मोंहि अवलंब।
ज्ञान प्रगट कछु होइ मोहि, कथा करो आरम्भ॥२।

• • •

जय सिधिदायक भक्तन्ह नायक, एक दंत बलिहारी।
गिरजा शिवबालक जनप्रतिपालक बिनती सुनहु हमारी॥
मो मन यह भाई कीरति गाई तन धरि भक्तन्ह केरी।
जब होहु सहाई बुधि कछु पाई बार बार कहि टेरी॥"[3]

सतगुरु-वन्दना को प्राथमिकता प्रदान की गई है। आगे गणपति-वन्दना में नमस्कारात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। वस्तु निर्देशात्मक मंगल-वचनोच्चारण भी मिलता है। शरीरधारी भक्तों के कीर्तिगान की ओर संकेत, वस्तु-निर्देश, करता है।

---

१. काव्य-कलानिधि, गुमान मिश्र, पृ० १
२. सुखसागर, नेवलदास, पृ० १
३. भक्त-विनोद, बोधेदास, पृ० १

५. सूफी काव्यों का मंगलाचरण अपनी निज की विशेषता रखता है। ब्रह्म के समान "अलख" की वन्दना इनकी निज की शैली है। ये वन्दना प्राय: बहुत विस्तृत होती है और सम्पूर्ण विश्व की व्यापक विभूतियों का वर्णन करके, उनके कर्ता की सर्वोपरिता का गान करती हैं :

"प्रथमहि अलख नाम चितलाऊं। जेहि चितलाय ज्योति लखपाऊं॥
जो इस रतन रचा उजियारा। तेहि कर प्रीत रचा संसारा।
सिरजै सात स्वर्ग कैलासा। सिरजै ऐसी निर्मल वासा॥
सिरजा गगन पवन जिन, औ विशेष जग टेक।
तीन लोक जिन सिरज्यो, अलख नाम यह एक॥"[१]

इसके उपरान्त अहमद और उनके चार यारों की वन्दना है, जो "दीन के दीपक" हैं। इसके उपरान्त पीर महम्मद तथा पीर अशरफ का स्मरण किया जाता है और तब शाहे-वक्त का गुणगान होता है। इस प्रकार सूफी-काव्य में वन्दना, उसकी भूमिका के रूप में अवतरित होती है। वास्तव में यह विदेशी शैली है और भारतीय मंगलाचरण-शैली से इसका मेल नहीं है।

संक्षेप में आलोच्य-युग के कवियों ने परब्रह्म गुरु तथा गणपति-वंदना से अपने ग्रंथों का आरम्भ किया है। मंगलाचरण के तीन रूप, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक तथा वस्तुनिर्देशात्मक है। ये संक्षिप्त अथवा विस्तृत दोनों ही रूपों में मिलते है। दोहा अथवा छप्पय अथवा कई छन्दों में सामूहिक-वन्दना उपलब्ध होती है। इस पर प्रमुख रूप से पौराणिकता की ही छाप अधिक स्पष्ट दिखलाई देती है।

रस की दृष्टि से हमारे आलोच्य-कवियों ने प्रधानतया भक्ति, शृंगार तथा वीर को अपने प्रबंधकाव्यों में प्रमुखता प्रदान की है। काव्य का प्रमुख उद्देश्य रस की सिद्धि करना ही है, इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कवियों ने इतिहास, पुराण आदि के विख्यात वृत्तों को ग्रहण किया है। "प्रख्यात वृत्त की योजना का कारण यही है कि रस-संचार या साधारणीकरण होने में सहायता प्राप्त हो ·" "कथा रस की अभिव्यक्ति के लिए ही हुआ करती है। कल्पित कथा द्वारा रसोद्रेक उस कोटि का नहीं हो पाता जिस कोटि का प्रख्यात वृत्त द्वारा।"[२] अनुवादित ग्रंथों में तो परम्परागत आदर्शवाद की स्थिति अनिवार्य ही है और हमारे आलोच्य कवियों के काव्य में उसकी प्रधानता पूर्णरूप मे दृष्टिगत होती है। सूफी-प्रबंध प्रधानत: कल्पना के आधार पर

---

१. हंस-जवाहिर, कासिमशाह, पृ० १
२. वाङ्मय-विमर्श, पृ० ३२

रचित हैं, और उनमें भी आदर्शवाद के लिए पूरा स्थान है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनमें बहुत कुछ भारतीय आदर्शवाद की पद्धति को अपना लिया गया है जिसके कारण वे हमारे जीवन तथा सिद्धान्तों को प्रतिफलित करने लगे हैं।

प्रबंध काव्यों में रमणीयता उत्पन्न करके रस की उपलब्धि कराने वाले प्रमुख तत्व दो कहे जा सकते हैं: (१) वस्तु-वर्णन तथा (२) भाव-व्यंजना। वस्तु-वर्णन: घटनाओं का संतुलित संगठन, प्रबंध-रचना का प्रमुख गुण है और इस गुण का पूरा परिचय उन कवियों में मिलता है जो मार्मिक स्थलों को पहचान कर उन्हें विशेष महत्व प्रदान करते हुए, अनावश्यक स्थलों को सूत्र-रूप में कहकर आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार उनकी कृति में रमणीयता सुरक्षित रहती है। यह वर्णन-औचित्य ही वास्तव में प्रबंधकार की कुशलता का द्योतक है।

घटनाओं के बीच में संतुलित वस्तु-वर्णन का एक उदाहरण:

"कुवरहि जब पियास सरसानी। लगे विपिन में हेरन पानी।
लख्यो एक सर सो अति सोहै। भैया मनो मानसर को है। १२०
चहूं ओर सो घाट बंधाये। बने परम सोपान सोहाये।
निरमल नीर लसै दरपन सो। अति पवित्र साधुन मन को सो।१२१
चहूं ओर याके बन राजी। जनु बिरंचि निज हाथन साजी।
लपटी लता तरुन में सो है। जिन्हैं निरखि सुरबधू बिमोहैं। १२२
निन्दा करैं भाग्य अपने की। सुख हमार सम्पति सपने की।
ये सबते जग में बड़ भागी। रहैं दौस निशि पियतन लागी। १ ३

• • •

बैठे निरखि दुवौसर सोभा। बिसर्‌यौ धाम काम मन लोभा।"[१]

पिपासाकुल राजकुमार की विह्वलता वर्णित करने के लिए कवि ने सुखद, शीतल छाया-मण्डित सरोवर के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण करके, फिर से कथा-सूत्र को उठा लिया है। सरोवर के निकटस्थ वृक्षों में लिपटी लताओं को देखकर सुरबधुओं का भी अपने भाग्य की निन्दा करना तत्कालीन शृंगारी वातावरण के अनुकूल भी है अतः यह वर्णन कथा के साथ सम्बद्ध भी है।

वस्तु-वर्णन का एक दूसरा उदाहरण देखिए। अशोक-वाटिका में हनुमान सीता जी से फल खाने की आज्ञा मांगते हैं:

"हरषी निरखि जानुकी रानी। आयसु दीन्ह मुदित मृदु बानी।
भये मुदित सिय आयसु पाई। कीन्ह प्रवेश रुचिर फुलवाई।

---

१. बैताल पच्चीसी, प्र० ना० वि०, पृ० १२-१३

भय मुदित पाइ निदेश। कीन्हेव निकुंज प्रवेश।
देखे विटप बहु रग। कहुं करत नाद विहग।
कहुं नसत बेलि वितान। तहं करत कोकिल गान।
चंपक तिलक पुन्नाग। अलि पिवत पुंज पराग।
कहुं शिशिपा सुरदारु। विलसत चमेली चारु।
कहुं दाडिमन के दाम। फूले फले अभिराम।
एला लवंग सुवास। रहि पूरिपुर चहुं पास।
जंबू रसाल पलक्ष। कहुं चिंचिनी के वृक्ष।
कहुं लसत चन्दन चारु। तह करत काल विहारु।
कहुं रहेउ फूलि गुलाब। जनु मदन की महताब।
कहुं शाल वृक्ष विशाल। कहु तुग ताल तमाल।
कहुं नारिकेल कठोर। कहुं कट सुमन समीर।
कहु इंगुदी अभिराम। कहुं श्री फलन के दाम।
कहुं वापिका बन जात। फूले विलोकि प्रभात।
कहु नारंगी अमरूत। कहुं पनस पावन तूत।
देखे सकल बन माहिं। इक तुलसिका तरु नाहिं।
सारहीन यह वाटिका, नहिं रघुवर को नात।
सहजराम हनुमान कपि लागे करन निपात॥३२॥"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में प्रकृति का चित्रण केवल वृक्ष-सूची गिना कर किया गया है। यद्यपि सम्पूर्ण वृक्षावली के होते हुए भी तुलसिका की अनुपस्थिति में सारा प्राकृतिक-सौन्दर्य निरर्थक प्रमाणित करने की वृत्ति जान पडती है, तथापि चमत्कार-वृत्ति के द्वारा अंकित, वाटिका का सौन्दर्य, पूर्व-उद्धृत उदाहरण के समान न तो रमणीय है और न कथा के बीच उपयुक्त। इस प्रकार के अनावश्यक वर्णन, कथा-संगठन को तो बाधा पहुंचाते ही है, रस-सिद्धि भी नही करते। हमारे आलोच्य-युग के प्रबधकारों मे पाण्डित्य-प्रदर्शन और तदनुकूल छोटे- छोटे विषयों को अनावश्यक विस्तार देने की रुचि विशेष दृष्टिगत होती है। मौलिक प्रबध इस दोष के भाजन विशेष बन गए है। अनुवाद अथवा छायानुवाद इतने असंतुलित नही है, जितने मौलिक ग्रंथ। छोटे कथा-प्रबंधों में यह त्रुटि अपेक्षाकृत कम पाई जाती है।

---

१. रघुवंश दीपक, सहजराम, पृ० ४७१—७२

रचित हैं, और उनमें भी आदर्शवाद के लिए पूरा स्थान है, इसमें कोई सन्देह नहीं। उनमें बहुत कुछ भारतीय आदर्शवाद की पद्धति को अपना लिया गया है जिसके कारण वे हमारे जीवन तथा सिद्धान्तों को प्रतिफलित करने लगे हैं।

प्रबंध काव्यों में रमणीयता उत्पन्न करके रस की उपलब्धि कराने वाले प्रमुख तत्व दो कहे जा सकते हैं : (१) वस्तु-वर्णन तथा (२) भाव-व्यंजना। वस्तु-वर्णनः घटनाओं का सतुलित संगठन, प्रबंध-रचना का प्रमुख गुण है और इस गुण का पूरा परिचय उन कवियों में मिलता है जो मार्मिक स्थलों को पहचान कर उन्हें विशेष महत्व प्रदान करते हुए, अनावश्यक स्थलों को सूत्र-रूप में कहकर आगे बढ़ जाते हैं। इस प्रकार उनकी कृति में रमणीयता सुरक्षित रहती है। यह वर्णन-औचित्य ही वास्तव में प्रबंधकार की कुशलता का द्योतक है।

घटनाओं के बीच में संतुलित वस्तु-वर्णन का एक उदाहरण:

"कुंवरहि जब पियास सरसानी। लगे विपिन मे हेरन पानी।
लख्यो एक सर सो अति सोहै। मैया मनो मानसर को है। १२०
चहू ओर सो घाट बंधाये। बने परम सोपान सोहाये।
निरमल नीर लसै दरपन सो। अति पवित्र साधुन मन को सो।१२१
चहूं ओर याके बन राजी। जनु बिरंचि निज हाथन साजी।
लपटी लता तनुन में सो है। जिन्हैं निरखि सुरबधू विमोहैं। १२२
निन्दा करैं भाग्य अपने की। सुख हमार सम्पति सपने की।
ये सबते जग मे बड़ भागी। रहै द्यौस निशि पियतन लागी। १२३

● ● ●

बैठे निरखि दुवौसर शोभा। बिसर्‌यौ धाम काम मन लोभा।"[१]

पिपासाकुल राजकुमार की विह्वलता वर्णित करने के लिए कवि ने सुखद, शीतल छाया-मण्डित सरोवर के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण करके, फिर से कथा-सूत्र को उठा लिया है। सरोवर के निकटस्थ वृक्षों मे लिपटी लताओं को देखकर सुरबधुओं का भी अपने भाग्य की निन्दा करना तत्कालीन शृंगारी वातावरण के अनुकूल भी है अतः यह वर्णन कथा के साथ सम्बद्ध भी है।

वस्तु-वर्णन का एक दूसरा उदाहरण देखिए। अशोक-वाटिका मे हनुमान् सीता जी से फल खाने की आज्ञा मागते है :

"हरषी निरखि जानुको रानी। आयसु दीन्ह मुदित मृदु बानी।
भयें मुदित सिय आयसु पाई। कीन्ह प्रवेश रुचिर फुलवाई।

---

१. बैताल पच्चीसी, श० ना० त्रि०, पृ० १२-१३

भय मुदित पाइ निदेश। कीन्हेव निकुंज प्रवेश।
देखे विटप बहु रंग। कहुं करत नाद विहंग।
कहुं लसत बेलि वितान। तहं करत कोकिल गान।
चंपक तिलक पुन्नाग। अलि पिवत पुंज पराग।
कहुं शिशिपा सुरदारु। विलसत चमेली चारु।
कहुं दाडिमन के दाम। फूले फले अभिराम।
एला लवंग सुवास। रहि पूरिपुर चहुं पास।
जंबू रसाल पलक्ष। कहुं चिंचिनी के वृक्ष।
कहु लसत चन्दन चारु। तह करत काल विहारु।
कहुं रहेउ फूलि गुलाब। जनु मदन की महताव।
कहु शाल वृक्ष विशाल। कहु तुंग ताल तमाल।
कहुं नारिकेल कठोर। कहुं कट सुमन सभौर।
कहुं इंगुदी अभिराम। कहुं थी फलन के दाम।
कहुं वापिका वन जात। फूले विलोकि प्रभात।
कहु नारंगी अमरूत। कहुं पनस पावन तूत।
देखे सकल वन माहिं। इक तुलसिका तरु नाहिं।
सारहीन यह वाटिका, नहिं रघुबर को नात।
सहजराम हनुमान कपि लागे करन निपात ॥३२॥"[१]

उपर्युक्त उद्धरण में प्रकृति का चित्रण केवल वृक्ष-सूची गिना कर किया गया है। यद्यपि सम्पूर्ण वृक्षावली के होते हुए भी तुलसिका की अनुपस्थिति में सारा प्राकृतिक-सौन्दर्य निरर्थक प्रमाणित करने की वृत्ति जान पड़ती है, तथापि चमत्कार-वृत्ति के द्वारा अंकित, वाटिका का सौन्दर्य, पूर्व-उद्धृत उदाहरण के समान न तो रमणीय है और न कथा के बीच उपयुक्त। इस प्रकार के अनावश्यक वर्णन, कथा-संगठन को तो बाधा पहुंचाते ही है, रस-सिद्धि भी नहीं करते। हमारे आलोच्य-युग के प्रबंधकारों में पाण्डित्य-प्रदर्शन और तदनुकूल छोटे-छोटे विषयो को अनावश्यक विस्तार देने की रुचि विशेष दृष्टिगत होती है। मौलिक प्रबंध इस दोष के भाजन विशेष बन गए हैं। अनुवाद अथवा छायानुवाद इतने असंतुलित नहीं है, जितने मौलिक ग्रंथ। छोटे कथा-प्रबंधो मे यह त्रुटि अपेक्षाकृत कम पाई जाती है।

---

१. रघुवंश दीपक, सहजराम, पृ० ४७१—७२

"गोरवंस क्षत्री कर जामा। नील सरूप वारि छबि कामा।
देविदास तिन नाम सोहाए। तजि ग्रह ग्राम सरदहहिं आए।
देखे चरन परे ते धरनी। नहिं बुधि चलत समय यह वरनी।
कांपहि गात हाथ महि धरेऊ। बहुत दीन ह्वै करुना करेऊ।
पर तेहि धरनि चरन कहं भेटत। मनहु रंक ह्वै सोन समेटत।"[१]

उक्त उद्धरण में सरल, स्वाभाविक, प्रवाहपूर्ण वर्णन का दर्शन होता है। चित्रण के साथ-साथ नाटकीयता का भी समावेश है किन्तु सारा वर्णन निराडम्बर है। भाषा भी लोक-प्रचलित है। ऐसी शैली मे प्रबध-काव्य बडा आकर्षक बन पडता है।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि वस्तुवर्णन में आलोच्य प्रबन्धकार, संतुलन का अधिक ध्यान नही रख सके है, जिसके फलस्वरूप कृतियों में संगठन की कमी पाई जाती है।

भाव-व्यंजना—भाव-व्यंजना प्रबंध-काव्य का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। रमणीयता उत्पन्न करने वाला यह आवश्यक साधन है। परन्तु "भावव्यंजना का यह तात्पर्य नहीं कि वैचित्र्य-पूर्ण भाव व्यंजनाओं मे ही कवि प्रवृत्त रहे," क्योंकि इससे कवि-कर्म एकांगी हो जाता है और "उसमे रस की अखंड रूप से निरतर बहने वाली धारा नही रह जाती।"[२]

कथा-प्रबंध के दो रूप सामान्यतया उपलब्ध होते हैं। एक तो वह जिसमें कथा-वस्तु पर्याप्त होती है और अनावश्यक वर्णनों अथवा व्यंजनाओं के द्वारा उसकी कलेवर-पूर्ति नहीं करनी पड़ती। अनुवादित, पौराणिक अथवा जीवनी-सम्बन्धी कथाओं को इसी वर्ग मे रक्खा जा सकता है। द्वितीय वर्ग मे वे प्रबन्ध रक्खे जा सकते हैं, जिनमें कथा-वस्तु तो विशेष नही है किन्तु रमणीयता उत्पन्न करने के उद्देश्य से कवि अपनी विलक्षण कल्पनाओ के द्वारा कथा को विस्तार देता है। ऐसे काव्य विशेषतया कवि के पाण्डित्य तथा काव्य-कला-कौशल का प्रदर्शन करने वाले होते हैं।

विस्तृत-कथा-वस्तुवाले काव्यों में भाव-व्यंजना का स्वरूप कथाप्रवाह के साथ स्वाभाविक गति से चलता हुआ दृष्टिगत होता है। यद्यपि उसमें आलंकारिकता का योग होता है, परन्तु वह सीमातिक्रमण नही करता। कालियमर्दन का एक स्वाभाविक चित्रण देखिए। व्रजवासियों की आकुलता की सरल स्वाभाविक व्यंजना है :

---

१. भक्त-विनोद, बोधेदास, पृ० १२
२. वाङ्मय-विमर्श, पृष्ठ ३८

"हाइ कालिंदी में गिर्‌यौ, कान्ह न दौरत कोइ।
तहां घेरि सांपन्ह लियो, दई कहा दहुं होइ ।।४३।।
सुनि यह श्रवण वज्र सी बानी। सिगरी ब्रज बस्ती अकुलानी।।
नन्द यशोमति राम गोसाईं। सहित गोप गोपी समुदाई ।।
आइ भये यमुना तट ठाढे। लखि हरि दशा करुण रस बाढ़े ।।
हरि हरि हाइ हाइ सब करहीं। शिव शिव राम राम उच्चरहीं ।।
रोइ रोइ दह बूड़न दौरैं। हरि बिनु घृग जीवन करि जोरैं ।।
परे ब्याल बश देखि गोपाला। कहा कहौं ब्रज बिपति बिशाला ।।
रोवहिं नंद यशोमति बृंदा। करि करि निज अभाग की निंदा ।।"[1]

शंका, आवेग, मोह, दैन्य आदि परिस्थितिजन्य अनेक संचारी भावों की सफल व्यंजना उक्त उद्धरण में की गई है। गोपादि की करुण दशा की मार्मिक अभिव्यंजना घटित हुई है।

'काव्यकलानिधि' की कथावस्तु में केवल नल-दमयन्ती-परिणय का वर्णन है। कथा छोटी है, किन्तु उसे कलात्मक-शैली में विस्तार दिया गया है। वास्तव में शृंगार-प्रधान इस काव्य में उक्त रस का सांगोपांग वर्णन किया गया है। दमयंती के वियोग को उद्दीप्त करने वाली दुग्ध-धवल चटकीली चाँदनी का यह आलंकारिक वर्णन देखिए :

"सांझ ह्वै अटा पै अनजानत गई ही मोहि,
देखत ही और चारौ ओर उमड़त सी।
हौं तो डरपाइ भाजि भौन मे लुकाई सोऊ,
पीछे लागी आई घहराई घुमडत सी।
जगर मगर घर बाहर बिबर करि,
सोरनि चकोरनि की झुंड झुमड़त सी।
कैसिन कसैरी बिरहिनि बैरी घोरिबे को,
चादनी बहैरी येरी घेरे घुमड़त सी ।।८१।।"[2]

त्रास, आवेग संचारियों की सहायता से विप्रलंभ का प्रभावशाली चित्रण करने का प्रयत्न किया गया है। चादनी के सौंदर्य का गत्यात्मक चित्रण है, परन्तु आलंकारिकता का उपयोग चमत्कार-वृत्ति को चरितार्थ करने वाला है; मुक्तक की दृष्टि से उपर्युक्त शैली का काव्य, विशेष रमणीय कहा जा सकता है, किन्तु

१. विष्णु-पुराण भाषा, दास, पृ० २४९
२. का० कला निधि, गुमान, पृ० ३१०

प्रबन्ध की दृष्टि से ऐसे वर्णन कथा-प्रवाह में विशेष सहायक नहीं होते हैं। स्वाभाविक व्यंजनाएं प्रबंध को अधिक सफलता प्रदान करती हैं।

प्रबंध-काव्य में संवादों का स्थान भी रस-परिपाक के लिए आवश्यक है। इन संवादों के द्वारा कथा में नाटकीयता की सृष्टि होती है, जो उसे सजीवता प्रदान करती है। कथा को कलात्मक-शैली में आगे बढ़ाया जा सकता है और पात्रों के स्वरूप तथा उनकी मन:स्थिति का चित्रण भी संवादों के द्वारा किया जा सकता है।

अधिकांशतः संवादों का प्रयोग हमारे आलोच्य-युग के काव्यों में कथात्मक पद्धति पर ही किया गया है। कथा-प्रवाह के बीच ही पात्रों का उल्लेख हो जाता है; अलग से उनका निर्देश करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। सौभरि ऋषि, महाराज मान्धाता से अपने विवाह के लिए कन्या-दान मांगते हैं :

"तब बोले ऋषिराज सयाने। वाणी मधुर प्रेम रस साने॥
है एकत्र सब राज कुमारी। वचन एक अब सुनो हमारी॥
हम ऋषि ब्रह्म मोह मन पागी। आइ भूप सों कन्या मांगी॥

● ● ●

तातें कहिय हमहिं जो चाहै। ताहि महीपति हम सो ब्याहै।

● ● ●

सुनत वचन तब राज कुमारी। सानुराग बोली यक वारी॥
हम चाहैं हम चाहे, चाहे। हम ही ब्याहैं, ब्याहैं, ब्याहैं॥"[1]

घटना का वर्णन, कथा-प्रगति, चरित्र-चित्रण में मन:स्थिति, सभी वस्तुओं का प्रदर्शन नाटकीय शैली में एक साथ ही हो जाता है।

"मिल्यो चोर यक उद्भट कारो। भूप आपने निकट निहारो।
पूछ्यो भूप कौन तू भाई। सुनि वाहू निज कथा सुनाई।
मैं हौं चोर सुखी घर ठोहो। अब निज कथा कहो तुम कोहौ।
कह्यो भूप हमहू हैं चोर। करत फिरत चोरी को डोर।
कही चोर तुम हो निज भाई। मिलि कै चलो मूसि कछु ल्याई॥"[2]

उपर्युक्त उद्धरण में संवाद की कथात्मक शैली बड़ी ही सुगठित तथा मनोरम है। प्रवाह उसकी विशेषता है। घटनाओं की शृंखला, संवादों के आधार पर, अबाध गति से बढ़ती चली जाती है।

---

१. विष्णु-पुराण भाषा, दास, पृ० १६७
२. बैताल-पच्चीसी, श० ना० त्रिपाठी, पृ० ९२

नाटकीय शैली के संवादों में पात्रों का उल्लेख अलग से होता है।

"अमुक उवाच" की शैली मे पात्रों का नाम देकर उनका कथन, स्वतंत्र छन्द में आबद्ध किया जाता है। यह महाकाव्यों की शैली है, नैषध के अनुवाद में गुमान मिश्र ने इसी शैली का प्रयोग किया है। सिद्धान्त-विवेचन सम्बन्धी काव्यों में भी गुरुशिष्य-संवाद, शंकर-पार्वती-संवाद अथवा अन्य किसी संवाद के रूप में इस शैली का प्रयोग किया गया है।

"शिष्योवाच : चौबोला—कहौ गुरु जू एक ब्रह्म तें तीन भेद क्यों भाये।
कैसे भए कौन के कीन्हे कौनी मति अभिलाये॥
गुरुउवाच : चौबोला–एक ब्रह्म चैतन्य अखण्डित इच्छा सी झलकति है तामे।
ताही सो माया कहियत है नीके करि सुन गुनि शिक्षा में॥"[१]

संक्षेप में संवाद-शैली के उपयोग से कवि, कथा की विवरणात्मक नीरसता से मुक्त होकर स्वाभाविकता, रमणीयता तथा अभिनयात्मकता की सृष्टि करता है और काव्य को रस-पूर्ण बनाता है। संवाद मे भाग लेने वाले पात्रों का चरित्र भी अधिक स्पष्ट होकर हमारे सम्मुख प्रतिफलित होता है।

नाटक में जिस प्रकार संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार प्रबन्ध-काव्य में गीत-काव्य का सन्निवेश कवियों द्वारा किया गया था। यद्यपि यह प्रवृत्ति आधुनिक-युग में बहुत अधिक प्रबल पड़ रही है और उसके फलस्वरूप "चित्त जमने के स्थान पर उखड़ने लगता है।"[२] परन्तु यदि संतुलित रूप मे इस शैली का उपयोग किया जाय तो प्रबंध का सौन्दर्य बढ़ सकता है। उसकी विवरणात्मक, सुदीर्घ नीरसता में थोड़ा सा परिवर्तन होकर नवीनता के संचार से आनन्द की उपलब्धि हो सकती है। 'मानस' की स्तुतियां, स्तोत्र तथा दोहा-चौपाई के बीच पड़ने वाले छन्द, उदाहरण रूप मे उपस्थित किए जा सकते हैं।

हमारे आलोच्य कवियों ने भी इस शैली का यत्र-तत्र अनुगमन किया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है। शुकदेव ने भगवान् विष्णु का दर्शन पाकर इस प्रकार स्तुति की है :

"दरस पाइ यहि रूप को, तब सुक भयो निहाल।
पूर्व जन्म को कष्ट मम, करि सीतल भव जाल॥

---

१. अध्यात्म-प्रकाश, सुखदेव मिश्र (संगीत-राग-कल्पद्रुम, खंड, २, कृष्णानन्द रागसागर)

२. वाङ्मय-विमर्श, पृ० ३८

कृष्ण चरन देखत अनुरागे, स्तुति करन जोरि कर लागे।
जै कुमति हारन, मिला तारन, गुरनि कारन श्याम जी ॥
दसकंठ मारन गजहि तारन जग उबारन राम जी।
लै गोद गोध प्रसिद्ध करि हरि सोग ताकी तारि कैं ॥
गति दीन्ह पिता समान करि भवसिन्धु ताको टारि कै।
संवरो संवारो श्री पियारो सदा सारो नाम है ॥
बैकुंठ दाता खल निपाता सुनो स्याता काम है ॥
भवसिन्धु बोहित करन जो हित कथा मोहित अति भली।
गुनु चरित पावन अघ नसावन स्वर्ग को पैंडा गली ॥"[1]

स्पष्ट ही उक्त शैली को मानस की परम्परा में रखा जा सकता है। इस प्रकार की स्तुतियां मुक्तक-रूप में ग्रहण की जा सकती हैं तथा अपने में पूर्ण हैं। इनमें भावुकता तथा संगीत का सम्मिश्रण मिलता है।

युग के अनुकूल इस प्रकार की स्तुतियां छप्पय आदि सुपाठ्य छन्दों में भी प्रस्तुत की गई हैं। उदाहरण :

"गये सप्रेम दुवौ दरशन कों। लैकै निरमल नीर सुमन को।
लखि मूरति तन मन अनुरागे। अस्तुति करन बहुल कछु लागे ॥१२६॥
भव भय भजन भूरि भवत जन गन, मन रंजन।
दुरित सुरित दुख हरन दीह दानव दल गंजन।
भसम अंग उतमंग गंग शिर कलित कलाधर।
तरल नैन गर गरल भुजग भूषण डमरुकर।
दिल दयावन्त यशवन्त अति महादेव अशरनशरन।
जय त्रिपुर कदन मनमथ मदन बिकट कोटि संकट हरन ॥१२७॥
शिवहि पूजि निज आसन आये। बैठि यहूं दिशिनैन चलाये ॥"[2]

भगवान् शंकर की ओजपूर्ण स्तुति के अनुकूल छप्पय छंद का चयन बहुत ही उपयुक्त है। तात्पर्य यह है कि इन गेय अथवा सुपाठ्य कविताओं का प्रयोग, प्रबंध-कथाओं के बीच में मनोरंजकता की वृद्धि कर सकता है, यदि उसे सन्तुलित रूप में व्यवहृत किया जाय।

संक्षेपतः हमारे आलोच्य कवियों द्वारा रचित प्रबंध-काव्य मुख्यत. रसात्मक है किन्तु संगठन तथा सन्तुलन की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं रहा है।

---

१. सुखसागर, नेवलदास, पृ० २९, ३०
२. बैताल-पच्चीसी, श० ना० त्रिपाठी, पृ० १३

अपने आदर्श की उपलब्धि के प्रयत्न में कवियों ने घटना-प्रधानता का आश्रय भी ले लिया है। कला-प्रेम के कारण आलंकारिकता तथा पाण्डित्य-प्रदर्शन की भी अति हो गई है। अत. प्रबंध-रचना में विशेष सफलता नहीं मिली है। मौलिक रचनाओं से अनुवाद अधिक श्रेष्ठ हुए हैं।

छन्द तथा सर्ग-योजना

आलोच्य-युग के कवियों ने प्रधानतया दोहे-चौपाई का ही प्रयोग किया है। यह छन्द, भारतीय तथा सूफी, दोनों कवियों के काव्यों में प्रयुक्त हुआ है। वास्तव में भारतवर्ष में 'दूहा' और 'पद्धरि' का प्रयोग बहुत पहले से होता आ रहा है।" "यह यहीं का लौकिक क्रम था...." "सूफियों ने मसनवी के अनुकूल जन-समाज में प्रचलित दोहा चौपाई वाला क्रम देखा और उसे अपनाया", "दोहे चौपाई के अतिरिक्त और किसी छन्द के न आने से उनका मसनवी का ढंग बना रहा।"[1] अत. यह स्पष्ट है कि इस युग के प्रबंध-काव्यों में प्रचलित, दोहा-चौपाई का क्रम, भारतीय-पद्धति का अपना क्रम था और इसका प्रचलन भारतीय काव्य-क्षेत्र में रासो-काल से ही था। लौकिक-क्रम तो यह था ही क्योंकि सूफियों ने इसे लोक-काव्य से ही ग्रहण किया। अपभ्रंश के कवियों ने अपनी गेय-कविता की रचना इस छन्द में सफलतापूर्वक की थी जिसके उदाहरण मुक्तक-शैली के अन्तर्गत पद-रचना पर विचार करते हुए हमने प्रस्तुत किए हैं। वह काव्य अधिकांशतः मौखिक ही था। अस्तु।

चौपाई और दोहा का संयुक्त-प्रवाह, कथानक को अजस्र गति देकर भी उसे एकरसता की नीरसता से बचा लेता है। जहाँ पर चौपाई का एकान्त-प्रयोग हुआ है वहां पर ऐसा भासित होता है मानों कथा-प्रवाह के बीच कहीं सांस लेने का अवसर नहीं है। दोहा इस आवश्यकता की पूर्ति करता है। इस प्रकार दोहा-चौपाई का उपयोग कथा-प्रबंध के लिए सबसे उपयुक्त प्रमाणित होता है।

दोहा और चौपाई दोनों ही छोटे छन्द हैं। "जिसमे समास-पद्धति से व्यक्त कर सकने की क्षमता होगी वही दोहे में भली भांति कुछ कह सकता है।"[2] तात्पर्य यह है कि दोहे में रचना करने के लिए अत्यधिक भाषाधिकार की आवश्यकता है। संक्षिप्त-गुण का प्रचुर प्रयोग इस छन्द में होता है। चौपाई यद्यपि छोटा छन्द है किन्तु उसका विस्तार दोहे से अधिक है। दूसरे,

---

१. वाङ्मय-विमर्श, पृष्ठ ३०

२. बिहारी, वि० प्र० मिश्र, पृष्ठ १०७

उसमें वर्णन-विस्तार के लिए अवसर भी पर्याप्त है, अतः चौपाई-रचना के लिए कलात्मकता उतनी अपेक्षित नहीं है जितनी सरलता, स्वाभाविकता तथा प्रवाह। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि दोहा और चौपाई एक दूसरे के पूरक छन्द हैं। एक यदि काव्य-कौशल की अपेक्षा करता है तो दूसरा मुहाविरेदार चलती हुई भाषा की। कथा-प्रबंध में सामान्यतया चौपाई का गुण ही विशेष अपेक्षित है, दोहे का सौन्दर्य उसको अलंकृत करता है और बीच-बीच में रमणीयता की सृष्टि करता है; इस प्रकार कथा की रोचकता, अखण्डता तथा रमणीयता को सिद्ध करने के लिए दोहा-चौपाई की वर्णन-पद्धति सफल प्रमाणित होती है।

रामचन्द्रिका की अनेक छन्दोंवाली पद्धति को लेकर भी कुछ कवि प्रबंध-रचना में प्रवृत्त हुए हैं। नैषध के अनुवादकर्ता गुमान मिश्र के काव्य में पिंगल-शास्त्र के अगणित छन्दों का उपयोग किया गया है। तारक, नवय, दडालय, स्वागता, लच्छीधर, सारावती, रसिक, मुखदायक, सुमक्षण, दृढ़पद, घना, लंगड़ी, कंदुक, गगनांगना, इदु, गीत, बधूक, श्येनिका, मृदुगति, मनमोहन, शालू, कुछ ऐसे छन्दों के नाम हैं जो काव्य-कलानिधि के रचयिता ने प्रयुक्त तो किए हैं किन्तु हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में प्रायः अज्ञात हैं। क्योंकि कथानक अनति-विस्तृत है और कृति में कलात्मकता, चमत्कार की विशेषता है, अतः छन्दों का यह प्रचुर-परिवर्तन विशेष बाधा उत्पन्न नहीं करता है। कवि को एक-एक घटना अथवा दृश्य अथवा भावना पर पर्याप्त समय तक टिकना पड़ता है, अतः यह छन्द-परिवर्तन उसे बाधा न देकर रमणीयता की सिद्धि में सहायता पहुँचाता है, वैचित्र्यपूर्ण व्यंजना के लिए अवसर उपस्थित करता है। ऐसे प्रबंध-काव्य हमारे आलोच्य-युग में अधिक नहीं हैं। वास्तव में दोहा-चौपाई ही इस युग की प्रबंध-रचना का प्रमुख छन्द रहा। इसकी विशेषता यह रही कि यह यथावसर साहित्यिक भी रहा और लोकजीवन के निकट भी। भाषा के अनुरूप इसकी ये विशेषताएँ परिवर्तित होती रहीं। निम्नलिखित दो उदाहरणों से अन्तर स्पष्ट हो जायगा :

१. "सलिल सुधा सम पुलिन पुनीता। हरषे लखि रघुनंदन सीता।
चलत मंद गति शैल बराये। पतिव्रत रत जिमि पुण्य पराये॥"[1]

२. "बैठि रहे तहं यक टक लाये। आसन मारि पीच लरकाये।
तेहि मग ग्वालिनि दधि लै आवहिं। पान फूल औ लौंग चढ़ावहिं॥"[2]

---

१. रघुवंश-दीपक, पृष्ठ २७२
२. भक्त-विनोद, बोधेदास, पृष्ठ ६

तात्पर्य यह है कि जहा एक ओर प्रथम उदाहरण साहित्यिकता की ओर उन्मुख दिखलाई पडता है वहां दूसरा उदाहरण लोक-जीवन और लोकभाषा के निकट है। इस प्रकार दोहा-चौपाई-शैली ने प्रबंध-क्षेत्र को पूर्णतया अधिकृत कर रक्खा था।

गेयत्व भी उपर्युक्त शैली की विशेषता, फलतः इस शैली की लोकप्रियता का कारण रहा है। दोहा-चौपाई शैली में लिखे हुए काव्यों का गान आज भी स्थान-स्थान पर होते हुए देखा जाता है। भागवत आदि पुराण-कथाओ को गेय बनाने के लिए ही उन्हे दोहा-चौपाई मे अनुवादित कर लिया जाता है। इस विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता प्रतीत नही होती, केवल एक विशेषता की ओर ध्यान देना वाछनीय होगा।

प्राय: दीर्घान्त छन्दो को गाने में सुविधा होती है। ग्राम-गीतो के अन्त मे 'हो' अथवा 'रामा' अथवा 'रे' आदि दीर्घान्त ध्वनियो को रखकर गायक उन्हे दीर्घान्त बना देते हैं, जिससे उनमें संगीत-तत्व का समावेश हो जाता है। चौपाई स्वत: दीर्घान्त छन्द है अत: उसमे गेयत्व स्वभावत: विद्यमान है। दूसरी बात है प्रत्येक चरण मे मात्राओं की अल्प-संख्यकता। थोडी मात्राए होने के कारण गायक को लम्बी सास नही भरनी पड़ती, उसे शीघ्र थकना नही पडता, अत: चौपाई को सुविधापूर्वक देर तक गाया जा सकता है, यह गुण कथा कहने तथा संगीतात्मकता की दृष्टियों से उपयोगी है। यही कारण है कि आल्हा जैसा लोकप्रिय छद भी चौपाई का स्थान नही ग्रहण कर सका, यद्यपि दो एक कवियो ने उस छन्द का उपयोग, पौराणिक कथाओ को भाषाबद्ध करने के लिए किया अवश्य।[1] मात्राओ की अधिकता के कारण आल्हा (वीर छन्द, १६, १५ पर यति, ३१ मात्राएँ, चार चरण) कष्ट-गेय छन्द है। जिस प्रकार अमृतध्वनि को पढना अत्यधिक कष्ट-साध्य है, उसी प्रकार आल्हा का गान भी सर्व-साध्य नही है। चौपाई इस दृष्टि मे सर्वसुलभ है।

---

१. उषा अनिरुद्ध का ब्याह, रामचरन (मौदा, लखनऊ)

"श्री गणेशायनमः ॥ अथ ऊषा अनुरुद्ध का ब्याह आल्हा ॥ प्रथमें सुमिरौ गौजेश्वर को दुसरे हरदेव लला महराज ॥ तिसरे सुमिरों मातु सीतला मेरे सिद्ध करो सब काज ॥१॥ ● ● ● ॥२॥ पूरब सुमिरौं सेख सलाह को पच्छिम सुमिरौं खान महीद। उत्तर सुमिरों इलके भैया दक्खिन में भुइयां मात कदीम ॥३॥" Search Report 1920-22, Appendix II, Book 144 (N. P. Sabha, Kashi)

सर्गबद्धता पर दृष्टिपात करने से यह ज्ञात होता है कि हमारे युग के प्रबंध-कारों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है। अनुवादित प्रबंधों में सर्गों का विभाजन प्रायः मूल-ग्रंथ के अनुसार ही किया गया है। उदाहरणार्थ "मूल-नैषध में केवल २२ सर्ग हैं परन्तु गुमान मिश्र ने काव्य-कलानिधि में २३ सर्ग रक्खे हैं, अर्थात् आरम्भ का सर्ग (प्रस्तावना) अपनी ओर से जोड़ दिया है।"[१] स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिवर्तन, काव्य की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रस्तावना में कवि ने वन्दना, राजवर्णन तथा आशीर्वाद का समावेश किया है। इसी प्रकार विष्णु-पुराण के ६ अंशों के अन्तर्गत विभाजित अध्यायों का वर्णन दास जी ने मूल के अनुसार ही कर दिया है।[२] शंभुनाथ त्रिपाठी ने भी बैताल-पचीसी पद्य का अनुवाद पच्चीस कथाओं के आधार पर सर्ग-विभाजन करके किया है।[३] भावानुवाद करनेवाले कवियों ने या तो परम्परागत सर्ग-विभाजन की शैली को स्वीकार कर लिया है, अथवा अपनी इच्छानुसार कथा-प्रसंग की विविधता को दृष्टि में रखकर विभाजन कर लिया है। सहजराम वैश्य कृत 'रघुवंश-दीपक' में रामायण के अनुसार ७ काण्ड हैं।[४] नेवजदास कृत 'सुख-सागर' में कवि की इच्छानुसार इक्कीस अध्यायों का समावेश किया गया है।[५] इस प्रकार सामान्यतया ऐसा प्रतीत होता है कि सर्ग-विभाजन के विषय में कवि किसी बन्धन विशेष में नहीं बंधा है। जहाँ पर जैसी सुविधा हुई है, उसने अपने काव्य में खण्ड-विभाजन कर लिया है। जीवनी-सम्बन्धी कथा-प्रबंध प्रायः छोटे हैं और उनमें कवियों ने सर्ग-विभाजन करने की आवश्यकता नहीं समझी है। बोधेदास कृत 'भक्त-विनोद' उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।[६] सूफी-शैली पर लिखे हुए प्रबंधों में प्रायः सर्ग-विभाजन विषयानुकूल होता है किन्तु 'हंस-जवाहर' में सर्ग-विभाजन का पूर्णतः बहिष्कार मिलता है। प्रायः पौने तीन सौ पृष्ठों की कथा, अबाध गति से आद्योपान्त चलती है।[७] इस प्रकार सूफी-काव्य की बहु-प्रचलित-परम्परा की उपेक्षा भी इन कवियों के द्वारा की गई

१. का० क० निधि, भूमिका, पृ० ५
२. विष्णुपुराण, भाषा, दासकृत, न० कि० प्रेस, लखनऊ।
३. बैताल-पच्चीसी, शंभुनाथ त्रिपाठी, न० कि० प्रेस, लखनऊ।
४. रघुवंश-दीपक, सहजराम वैश्य, पब्लिक प्रेस, मुरादाबाद।
५. सुखसागर, नेवजदास, मुन्ना प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ।
६. भक्त-विनोद, बोधेदास, रत्नबंधु, लखीमपुर।
७ हंस-जवाहिर कासिम शाह, न० कि० प्रेस, लखनऊ।

दृष्टिगत होती है। निष्कर्ष यही निकलता है कि सर्ग-विभाजन की शास्त्रीयता की ओर हमारे युग के कवियों का ध्यान नही था। उन्होंने परपरा, अपनी सुविधा अथवा इच्छानुसार सर्गों का विभाजन किया अथवा नही भी किया।

इस प्रकार प्रबंध-शैली की सक्षिप्त-परीक्षा करने के उपरान्त हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन प्रबध-शैली का स्वरूप बहुत कुछ शिथिल था। शास्त्रीय तथा साहित्यिक-शैली में प्रबंध-रचना की न्यूनता थी। काव्यकला की दृष्टि से उसकी रचना प्राय: नही की जा रही थी। धार्मिक, नीति-उपदेश सम्बन्धी कथाओं को लेकर कथा-प्रबंध निर्मित होते थे अत: उनका उद्देश्य धर्म-प्रचार अथवा लोक-उपदेश ही रहता था। ऐसी स्थिति मे इन कथाओ मे अत्यधिक साहित्यिकता की अपेक्षा करना व्यर्थ ही है। वास्तव मे इन कथा-प्रबधों का सम्बन्ध लोक-जीवन से विशेष था अत ये जन-जीवन के समान ही निराडम्बर बने रहे।

गद्य

हमारे आलोच्य-युग मे गद्य की स्थिति एक प्रकार से नगण्य है। प्रधानत: काव्यशास्त्र-सम्बन्धी ग्रथों की टीका करने मे अथवा धर्मोपदेश, नीति-कथन के लिए गद्य का उपयोग मिलता है। खडी बोली गद्य का प्रचार, सम्यक् रूप से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से ही आरम्भ हुआ। काव्य-भाषा उनके समय मे भी व्रजभाषा ही थी। शृंगार-युग मे खड़ी बोली गद्य का कोई महत्वपूर्ण स्थान नही था, उस समय जो कुछ भी गद्य मिलता है वह व्रजभाषा का ही है।

टीका-सम्बन्धी गद्य के दो रूप दृष्टिगत होते हैं। एक तो वह जो सूत्र-रूप मे विषय की व्याख्या करता है; जहां केवल दो चार शब्दों की सहायता से सकेत-मात्र करके प्रसंग को चलता कर दिया गया है। उदाहरण ·

"तिहारे विरह मरति है यह व्यंगि।"[१]

अथवा "इहा सुरतरू की चाह को न चाह वर्ण्यो॥"[२]

अथवा "छन्द रूप घनाक्षरी है याके तुकत मे लघु चाहिये गुरु है सो लघु ही गनिबो।"[३]

दूसरा टीका का रूप व्यासशैली मे लिखा गया है। इसमे स्थान-स्थान पर

१. काव्यनिर्णय, दास, भा० जी० प्रेस, पृष्ठ ४९

२. टिकयितराय-प्रकाश, ह० लि०, वेनी भट्ट, व्रजराज पु०, गधौली (सीतापुर)

३. छन्दोर्णव-पिंगल, दास, न० कि० प्रेस, पृष्ठ ३

संस्कृत शब्दावली का प्रयोग किया गया है। विद्वत्तापूर्ण तथा विस्तृत शैली में विषय का स्पष्टीकरण करने का प्रयास है। उदाहरण :

"फेना चन्दन लहरि सो पीसत मनौ नदीस।
कर लै ताहि दिशावधुन लेपत सो रजनीस ॥१०१॥

इहा लहरिन सो फेन चदन को प्रेरणा ताकी पेपन की उत्प्रेक्षा समुद्र ते उठो जो चदन पहिले समुद्र प्रवाह ते फैलो जे किरिनै तिन को दिशन मे समुद्र ते लैकै फेन चन्दन करि लेपन की उत्प्रेक्षा ॥ दोनों जगह क्रम ते समुद्र तीरगत फेन चदन को समूह होना दिशन को धवलीकरन कारन ते फेन चंदन को प्रेरणा औ किरिनिन को व्यापन ये उपमेय हैं दोनो तिन की ग्रहन नाही है या ते अनुक्त विषया स्वरूपोत्प्रेक्षा ॥"[१]

'प्रेरण' 'प्रेषन' 'लेपन' 'धवलीकरन' 'व्यापन' आदि शब्द पंडिताऊपन की ओर निर्देश करते हैं। साथ ही विषय की सर्वांगीण तथा व्यापक व्याख्या करने का प्रयत्न भी दृष्टिगत होता है। दासजी ने भी इस शैली का प्रयोग किया है।

"जात जगायो है न अलि, आगम आयो भानु।
रसमोयो सोयो दोऊ, प्रेम समोयो प्रानु॥"

अस्य तिलक। इहां नायिका को स्वभाव व्यभिचारी वर्णतु हैं सो यों कहते शब्दवाच्यता होति है तहां सोइबे को पुनि और भाति कहिबो नही भलो होत औ रसहूं की प्रेम हूँ की शब्दवाच्यता है सो अत्यन्त रसिकता अत्यन्त प्रतीति को हेतु है औ अपरांग ह्वै व्यंग मे सखी को, दुहुँन को परप्रीति स्थायी भाव है ताते गुण है॥"[२]

टीका-सम्बन्धी यह गद्य प्रधानतः आचार्य कवियों द्वारा ही लिखा गया है। काव्यांगों का स्पष्टीकरण ही इसका प्रधान उद्देश्य है। वास्तव मे पद्यात्मक शैली का गद्यात्मक रूपान्तर करना ही इन टीकाओं का लक्ष्य प्रतीत होता है क्योंकि इस गद्य में किसी प्रकार की व्यवस्था, वाक्य-संगठन, विरामादि की ओर ध्यान नहीं दिया गया। भाषा-संस्कार नहीं, वरन् येन-केन-प्रकारेण भाव-व्यंजना ही इस गद्य का उद्देश्य था, ऐसा निश्चय होता है।

धार्मिक ग्रंथों का गद्य, विशेषतः पंडिताऊ शैली में ही लिखा गया है। धर्मोपदेशकों की विशेष-शैली 'जो है सो', 'हे प्राणी' इत्यादि वाक्यावली से युक्त इसका स्वरूप मिलता है। उदाहरण :

---

१. टि० रा० प्र०, बेनी, ह० लि०, पृ० १४ (१९वीं श० मध्य)
२. काव्यनिर्णय, दास, पृष्ठ २३९ (१९ वीं श० प्रथम दशक)

" .....हे राघव। चैत्य जो है दृश्य तिस तें रहित जो चिन्मात्र है तिसको तू केवल बोध जान ।। तिप विषे वाणी की गम नही इसी प्रकार अचेत चिन्मात्र सत्ता को ज्यों का त्यों जानना सोई केवल ज्ञान है।"[१]

स्पष्टत: यह कथावाचक शैली है। 'इसके बिखे', 'जोई सोई', 'जिस तिस' इसकी विशेष शब्दावली है। इस शैली का प्रयोग कवियो ने अपने पद्यो की व्याख्या करने के लिए भी किया है। हमारे आलोच्य-युग में ऐसे गद्य लेखको की सख्या अधिक नही।

उक्त दो प्रधान गद्य-रूपो के अतिरिक्त एक तीसरा रूप भी उप-लब्ध होता है जो उक्त दोनों से अधिक व्यावहारिक तथा संयत है। हमारे आलोच्य युग की समाप्ति के निकट इसके दर्शन होते है। टीका-सम्बन्धी गद्य के यह अधिक निकट कहा जा सकता है। युगान्त के शिक्षित-वर्ग ने अपने ग्रंथो का प्रकाशन करवाने के साथ ही इस गद्य-शैली को जन्म दिया। इस पर काव्य-शैली का प्रभाव तो विद्यमान है किन्तु व्यावहारिकता की ओर इसका झुकाव विशेष हो गया है। इसका स्वरूप हमें प्रकाशित पुस्तकों की भूमिका के रूप मे दृष्टिगत होता है। उदाहरण :

"....मुझको न गणागण के दोषो का कुछ डर है और न और काव्य के दोषों की परवाह् तथापि कविजनो पै हमारी यही प्रार्थना है कि जो कुछ न बना हो उसे कृपायुक्त सुधारि देवै अनबने का बनाय देना अच्छे लोगों के स्वाभाविक गुण हैं।।"[२]

"कविजनो पै," "सुधारि देवै", "बनाय देना" इत्यादि व्रजभाषा अथवा अवधी के वाक्यांश, खड़ी बोली मे सन्निविष्ट हैं। "अनबने का" में "का" विभक्ति अवधी की है व्रजभाषा की नही। उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि भाषा एक व्याव-हारिक तथा सामाजिक रूप ग्रहण कर रही थी। खड़ी बोली उसका मूलाधार बन गई थी किन्तु यत्र-तत्र विभक्ति चिह्नों तथा शब्दावली का मिश्रण अभी चल रहा था।

संक्षेपत: यह कहा जा सकता है कि हमारे आलोच्य युग मे "व्रज के गद्य का व्यवहार होता अवश्य था पर अधिकतर यह व्यवहार या तो धार्मिक प्रसंगो मे होता या पुराने ग्रंथो की टीका मे। साधारणत: धार्मिक प्रसंगों में वैसी बातें

---

१. विज्ञान निरूपिणी, मूलाराम कृत (Search Report, N. P. Sabha, Appendix II, Book 110)

२. भुवनेश-भूषण, लाल त्रिलोकीनाथ सिंह, अयोध्या (२० वीं श० वि० पूर्वार्ध)

नहीं आती, जिनकी गद्य अपेक्षा करता है। कुछ महात्माओं की चमत्कार बोधक कथाएं भी व्रज-गद्य में लिखी गईं पर उसमें भी चलतापन नहीं दिखाई देता। व्याकरण की कोई निश्चित व्यवस्था न होने से व्रजगद्य को व्यवस्थित और साधु रूप प्राप्त न हो सका। टीकाओं में तो गद्य की और भी दुर्व्यवस्था थी। संस्कृत टीकाओं के अनुकरण पर चलने के कारण भाषा का रूप निखर न सका। इस प्रकार व्रज का गद्य व्यावहारिक न बन सका।"[१]

उपसंहार

शृंगारयुगीन अवध के काव्य-साहित्य के अध्ययन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि तत्कालीन काव्य-रचना अपने समाज, वातावरण, के पूर्णतया अनुकूल होकर चल रही थी। जनजीवन की भावनाएँ साहित्य में प्रतिफलित होती है, यह सिद्धान्त शृंगारयुगीन काव्य में भी उपेक्षित नहीं हुआ है। सम्पूर्ण वातावरण पर एक विहंगम-दृष्टि डाल लेने से यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।

राजनैतिक दृष्टि से अवध प्रान्त की स्थिति शृंगार-युग में द्वैध थी। प्रथम तो यहाँ पर दिल्ली के अन्तर्गत सम्राटों का सूबेदारी शासन था और द्वितीयतः नवाब-वज़ीरों का विलास-वैभव-पूर्ण अधिकार रहा। प्रथम स्थिति ने प्रान्त को बहुत कुछ अशान्त कर रक्खा था। दिल्ली दूर थी और प्रान्त का सशक्त शासन कभी हो नहीं पाया। दूसरे, दिल्ली के राजकुल में भी अशान्ति थी, राज्य के लिए छीना-झपटी मची रहती थी, अतः अवध की ओर ध्यान देने का समय किसी को न था। फलत. यहाँ के राजे, नवाब, तालुक़दार भी अपने-अपने अधिकार के लिए निरन्तर लड़ते-भिड़ते रहते थे। नवाब-वज़ीरों का दिल्ली से स्वतन्त्र शासन स्थापित हो जाने पर अवध का शासन विशेष व्यवस्थित हुआ। ये शासक सहृदय तथा उदार थे। अवश्य ही, युग के वातावरण के अनुसार, सामन्तशाही का पूरा प्रदर्शन इनके शासन में दृष्टिगत होता है। ये विलासी थे, अपव्ययी थे, रईसों के अनिवार्य गुणों से युक्त, सनकी थे, आज भी इनकी उपहासास्पद कथाएं जनता के बीच प्रचलित हैं, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन शासकों के इन दुर्गुणों का उज्ज्वल पक्ष भी था; विलास के बीच इनकी सौन्दर्यप्रियता विकसित हुई, अपव्यय के द्वारा इन्होंने अपनी दानवृत्ति को चरितार्थ किया और सनक में आकर रंक को राव बना दिया। काव्य, नाटक,

१. वाङ्मय विमर्श, पृष्ठ २७०

संगीत आदि ललित कलाओं की अद्भुत उन्नति इनकी छत्र-छाया में हुई। कलाकार प्रचुरता के साथ पुरस्कृत होते थे; उनकी जीविका का प्रश्न हल होता था और उन्हें साहित्य अथवा कला की सर्जना के लिए पर्याप्त क्षेत्र तथा अवसर मिलता था।

काव्य के अतिरिक्त अन्य कलाओं के विकास केन्द्रों में लखनऊ ही प्रमुख रहा। नवाबों के संरक्षण में वास्तु, संगीत, नृत्य तथा अभिनय का पर्याप्त विकास हुआ। विशेषतः नवाब आसिफ़ुद्दौला तथा नवाब वाजिद अली शाह ने कलाओं को विशेष प्रश्रय दिया जिसके प्रमाण लखनऊ को आज भी सुशोभित किए हुए है; वास्तुकला के उत्कृष्ट नमूनों के रूप में उन शासकों की कीर्ति आज भी सुरक्षित है।

संगीत तथा नृत्य का तो अवध, विशेषतः लखनऊ, केन्द्र ही बन गया। इन कलाओं में बनारस की तुलना में लखनऊ का स्थान विशेष महत्वपूर्ण स्वीकार किया जाता रहा है। नृत्य की कत्थकशैली, जिसमे पुरुष-नृत्य प्रधान है, लखनऊ की विशेषता रही। नवाब वाजिद अली शाह ने स्वयं इस कला में पूर्ण दक्षता प्राप्त की थी। आज भी इस कला की परम्परा लखनऊ में अपना अस्तित्व बनाए हुए है। संगीत का संरक्षण भी नवाब आसिफ़ुद्दौला, गाजिउद्दीन हैदर तथा वाजिद अली शाह द्वारा उत्साह के साथ हुआ। नवाब वाजिद अली शाह स्वयं श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे; उन्होने ठुमरी शैली का प्रचलन किया और कितने ही गीतों की रचना की जो आज भी गाए जाते हैं। संगीत-प्रचार के लिए उन्होंने शिक्षणालय भी खोल दिए थे। अभिनय की ओर भी नवाब वाजिद अली शाह ने विशेष रुचि दिखलाई। अमानत कृत इन्दरसभा का नाट्यगीति के रूप मे प्रदर्शन सर्वप्रथम लखनऊ, कैसरबाग की बारादरी मे हुआ और स्वयं नवाब ने उसमें भाग लिया। प्रहसन-कला में लखनऊ के भांड़ अपनी सजीवता तथा स्वाभाविकता के लिए विख्यात रहे हैं।

चित्रकला की ओर विशेष रुचि अवध के संरक्षकों मे दृष्टिगत नही होती किन्तु मूर्तिकला की दृष्टि से मिट्टी के खिलौने लखनऊ की विशेषता है। स्वाभाविक, सूक्ष्म अभिव्यंजना इनका प्रधान लक्षण रहा है; आज भी यह कला इस स्थान की विशेषता है। चिकन आदि का काम भी अपनी विशेषता रखता है। तात्पर्य यह है कि अवध के शासकों के संरक्षण में, उनकी कला-विलासिता तथा सौंदर्यप्रियता को तुष्ट करने के लिए, अनेक विशेषज्ञ कलाकार भी एकत्र हो गए थे। इन कलाओ में आलंकारिकता, सूक्ष्मता तथा दक्षता के दर्शन होते है। यह युग-प्रभाव का ही परिणाम है; जीवन के इसी पक्ष का प्रतिफलन साहित्य में भी दृष्टिगत होता है।

उर्दू साहित्य का तो लखनऊ केन्द्र ही रहा है। दिल्ली के उजड़ने पर वहाँ के श्रेष्ठ कवि यहाँ आ बसे। उन्हे नवाबों का आश्रय मिला और फैजाबाद तथा लखनऊ को उन्होंने आबाद किया। उनका काव्य भी अपने युग की भावना से भावित है। शुजाउद्दौला ने इन कवियों को विशेषतः आश्रय दिया। गाजिउद्दीन, नसीरुद्दीन तथा वाजिद अली स्वयं श्रेष्ठ कवि थे। १९वी शताब्दी ईस्वी के आरम्भ मे अवध का दरबार पूर्णतया अपने विकास पर था। यहाँ के शासक तथा कवि लखनऊ की संस्कृति तथा भाषा के साथ एकीकरण कर रहे थे। उनकी विचारधारा मे भी बहुत कुछ समन्वय हो रहा था। नवाब लोग हिन्दू जनता के तिथि-त्योहारो में भाग लेते थे; होली खेलते थे, दिवाली मनाते थे, मेले-तमाशे देखते थे। जुरअत, मुसहफी, दिल्ली से आये हुए इन्शा, रंगी, नासिख तथा आतिश इस समय के कवियों मे प्रधान थे। ये सभी यद्यपि भावुक कवि थे तथापि इनमे आलंकारिकता, कलात्मकता, वाक्-वैदग्ध्य, कल्पना-शीलता तथा भड़ौवा (हजो) कहने की प्रवृत्ति विद्यमान थी; समय-समय पर ये अश्लील भी हो जाते थे। भाषा पर इनका असाधारण अधिकार था, इसमे सन्देह नही।

अवध के शृंगारयुगीन-हिन्दी-साहित्य पर भी उपर्युक्त वातावरण का प्रभाव पूर्णतया लक्षित होता है। तत्कालीन समाज की प्रमुख वृत्ति आलंकारिक कही जा सकती है। प्रत्येक क्षेत्र में प्रसाधन का प्रयत्न बहुत स्पष्ट रूप में दृष्टिगत होता है। वास्तु कला मे विशेष सूक्ष्मतायुक्त कला के दर्शन होते हैं। साहित्य भी इसी प्रवृत्ति से प्रभावित है। सर्वप्रथम, मुक्तक-शैली ही इस बात को लक्षित करती है कि कवियों मे चमत्कारपूर्ण, कलात्मक रचना करने की विशेष रुचि उत्पन्न हो गई थी। चित्रण तथा अभिनय की वृत्ति को भी इसी मुक्तक-रचना में चरितार्थ करने का प्रयत्न किया गया है। एक एक दोहे अथवा सवैया मे एक एक रूप अथवा दृश्य की झाकी उपस्थित कर देना कवियों की कलात्मक प्रौढ़ता का सूचक है। इन दृश्यों को अभिनयात्मक बनाकर नाटकीय-शैली मे इनका चित्रण करना और भी निखरी हुई कलात्मकता का द्योतक है। मुक्तको मे रूप, दृश्य अथवा रस, भाव के सूक्ष्म विश्लेषण की ओर झुकाव देखा जाता है, जो काव्यकर्त्ताओ की गम्भीर दृष्टि का सूचक है। प्रबंध काव्यों में यह वृत्ति, सामान्य-ज्ञान, लोक-व्यवहार, नीत्युपदेश आदि के वर्णन में व्यक्त हुई है। फुटकर काव्यों मे कवियो ने अपने वैद्यक, पशुचिकित्सा, शतरंज-चौपड़ के खेल, धनुर्विद्या, कामशास्त्र, आदि के ज्ञान को व्यक्त किया है। चित्रकाव्य, प्रहेलिका, समस्यापूर्त्ति आदि काव्यो में भी इस कला के ही दर्शन होते हैं।

शास्त्रीय दृष्टि से रस, अलंकार, नायिकाभेद, छन्दशास्त्र आदि काव्यांगों का भी सूक्ष्मतम विवेचन करने का प्रयत्न श्रृंगारयुगीन अवधवासी हिन्दी कवियों ने किया है। यद्यपि यह परम्परा संस्कृत-प्राकृत से उपलब्ध हुई थी, तथापि इसी युग के साहित्यकारों ने उसे प्रचुरता के साथ अपनाया; यह युग-प्रवृत्ति का ही प्रभाव कहा जाना चाहिए। एक ओर भक्तियुग की प्रतिक्रिया में वाह्यालंकरण की प्रवृत्ति तथा दूसरी ओर सूक्ष्म विश्लेषण की ओर विशेष रुचि ने मिलकर इस कलात्मक शास्त्रीयता को विशेष प्रश्रय दिया।

उक्त युग की प्रमुख वृत्ति श्रृंगार थी यह हम देख चुके हैं, और इस कारण रीतिमुक्त तथा रीतिबद्ध, दोनों ही कवियो के काव्य में प्रेम का बड़ा ही व्यापक तथा सागोपांग वर्णन किया गया है। इस प्रेम-काव्य को स्फुट-रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। उक्तिवैचित्र्य, आलंकारिकता, ऐन्द्रियता तथा अनुभूति इस प्रेमकाव्य की विशेषताएं हैं। अनुभूति की कमी नहीं है, किन्तु उसकी अभिव्यंजना कलात्मक ही है। उक्तिवैचित्र्य तथा ऐन्द्रियता का तत्व यद्यपि युग-प्रवृत्ति थी, तथापि अपने समकक्ष उर्दू काव्य से भी हिन्दी कवियों ने उसे ग्रहण किया। इसमें सन्देह नहीं कि शुद्धता की दृष्टि से यह प्रेम-काव्य उत्कृष्ट साहित्य कहा जा सकता है। इसका उद्देश्य केवल अपनी अभिव्यक्ति करना है; किसी अन्य, प्रचारादि के उद्देश्य से इसकी रचना नहीं हुई। तुलनात्मक दृष्टि से इस काव्य का स्थायित्व भी अधिक है, क्योंकि मानव की मूलवृत्ति, रति पर आधारित होने के कारण इसकी स्थिति चिरकालीन है।

अन्य रसों में वीर, भक्ति तथा हास्य सम्बन्धी रचना अधिक हुई है। वीर के आलम्बन अधिकतर आश्रयदातागण हैं। देवताओं तथा महापुरुषों के शौर्य का वर्णन भी हुआ है। आश्रयदाताओं के वर्णन में कृत्रिमता का होना स्वाभाविक ही है। अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णनों से वीर-काव्य ओत प्रोत है, यद्यपि रामायण, महाभारत पुराणादि के पात्रों की वीरता का वर्णन बड़ा ही ओजस्वी तथा स्वाभाविक बन पड़ा है। अवधवासी कवियों के काव्य-साहित्य का यह अंश भी विशेष गौरवशाली है। भक्तिभावना को अभिव्यक्त करने वाला काव्य, हार्दिक अनुभूतियों से युक्त है। इस युग के कवियों पर यह लांछन लगाना उचित नहीं प्रतीत होता कि वे अभक्त थे। वास्तव में यदि तत्कालीन साहित्यिकों में श्रृंगार की वृत्ति का सम्बन्ध उनके भौतिक क्षेत्र से था तो भक्ति का सम्बन्ध उनके आध्यात्मिक-पक्ष से था। साहित्यिक क्षेत्र में वे श्रृंगारी थे और भाव के क्षेत्र में भक्त। हास्य-वृत्ति का मुक्त वर्णन इन कवियों में कम मिलता है, किन्तु सरस्वती की गुप्त धारा के समान उसकी व्याप्ति प्रायः सभी स्थलों पर विद्यमान है।

बिम्बित करता है। इस प्रकार हमारे कवियों का काव्य, भावुकता, कलात्मकता तथा लोक-जीवन की धाराओं को समवेत करके चलता रहा और अपने विषय-वस्तु तथा उद्देश्य की दृष्टि से पूर्णतया सफल कहा जा सकता है। विषय की दृष्टि से उसमें पर्याप्त उदारता है और उद्देश्य की दृष्टि से वह सौन्दर्य की सिद्धि करता है यद्यपि शिव और सत्य के पक्षो को भी उपेक्षा नही है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शृंगारयुगीन अवधवासी कवियों की हिन्दी-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान को अधिकारिणी है।

शृंगार का तो वह प्रधान सहायक बनकर आया है। अन्य स्थलों पर कहीं वाक्चातुरी के रूप में, कहीं व्यंग्य, उपालम्भ के रूप में, कहीं केवल भाषागत चमत्कार के प्रदर्शन मे उसकी अभिव्यक्ति हो गई है। सामाजिक व्यंग के रूप में प्रस्तुत हास्य-रचना सबसे अधिक प्रत्यक्ष हुई है; 'भड़ौआ' के रूप में अनेक कवियो ने इस प्रकार की रचना की। लोक-व्यवहार की शिक्षा देने के लिए अथवा अपना उक्त ज्ञान प्रदर्शित करने के लिए नीति-काव्य की रचना भी हमारे आलोच्य युग के कवियों ने पर्याप्त रूप में की है। इस प्रकार, प्रस्तुत काव्य क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की वृत्तियों के दर्शन होते है, कोरा शृंगार लिख कर अपनी वासनावृत्ति का प्रदर्शन-मात्र कवियों का उद्देश्य नही था।

भाषाधिकार तो इस युग के कवियो का सर्वश्रेष्ठ गुण था ही। वाह्यालंकरण की प्रमुख साधिका, भाषा को इस युग के कवियों ने अपनी अनुगामिनी बना रक्खा था। शब्दचयन, पदविन्यास, लाक्षणिकता, प्रवाह, माधुर्य, संगीतात्मकता, चित्रणशक्ति आदि सभी गुण इस युग के कवियों में पूर्णता के साथ विद्यमान् थे। संस्कृत की कोमल कान्त पदावली से लेकर समस्तपद-संयुक्त, ओजपूर्ण स्तोत्र-शैली तक, सभी भाषा-रूप कवियों को सुलभ थे। उर्दू की वाक्चातुरी-पूर्ण, मुहाविरेदार मार्मिक शैली का संयोग भी इन कवियो को उपलब्ध हो गया था, अतः इनको चलती हुई, चुटीली भाषा का निर्माण करने का भी अवसर मिल गया। इस प्रकार भाषा की सर्वांगीण पूर्णता को सिद्ध करके इन कवियों ने अपने कला-सौष्ठव को चरम सीमा पर पहुंचाया। "समस्यापूर्ति" इस भाषा की सर्वांगीण शक्तिमत्ता का उपयुक्त उदाहरण है। एक पूर्वनिश्चित चरण की प्रौढ़ता तक अपनी भाषा में पूर्णता उत्पन्न कर देना, कुशल भाषाधिकारी कवि का ही कार्य है। इसी प्रकार मुक्तक के चार चरणो में चमत्कार की चमक उत्पन्न करके श्रोताओं के सम्मुख 'समस्या' का रहस्योद्‌घाटन कर देना भी कल्पना की प्रौढता का सूचक है। भाषा, कल्पना पर आश्रित, कला का यह श्रेष्ठ उदाहरण है।

संक्षेपतः, शृंगार युग के अवधवासी कवियों ने, युग के अनुरूप काव्यरचना करते हुए, अपनी विभिन्न वृत्तियों को अभिव्यंजना प्रदान की है। शृंगार इनमे प्रधान है, तथापि जीवन-सम्बन्धी अन्य क्षेत्रों की उपेक्षा इनके काव्य मे नहीं है। इन प्रवृत्तियों का अनुपात इस युग के काव्य मे नगण्य नहीं है। वास्तव में इस युग में आर्थिक-विषमता जितनी अधिक थी उतनी सामाजिक-विषमता नहीं, अतः इन वृत्तियों में लोक-जीवन की झलक स्पष्टतया मिलती है, इस दृष्टि से शृंगार युग के अवधवासी कवियों का काव्य लोक-जीवन को बहुत कुछ प्रति-

विम्बित करता है। इस प्रकार हमारे कवियों का काव्य, भावुकता, कलात्मकता तथा लोक-जीवन की धाराओं को समवेत करके चलता रहा और अपने विषय-वस्तु तथा उद्देश्य की दृष्टि से पूर्णतया सफल कहा जा सकता है। विषय की दृष्टि से उसमें पर्याप्त उदारता है और उद्देश्य की दृष्टि से यह सौन्दर्य की सिद्धि करता है यद्यपि शिव और सत्य के पक्षों की भी उपेक्षा नहीं है। यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि शृङ्गारयुगीन अवधवासी कवियों की कृतियाँ हिन्दी-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान की अधिकारिणी हैं।

परिशिष्ट १

राजवंश-वर्णन

१. राय मर्दन सिंह, डौंडियाखेरा, रायबरेली।

श्री गणेशायनमः ॥ दोहा ॥

कानन टूटैं बिघन कैं जानन कै यह ज्ञान।
कज आनन की जात मिटि गज आनन के ध्यान ॥ १ ॥
बैस बंस अवतंस मनि गुन गन को दरिआउ।
कनक सिंह जाहिर भयो जग मैं रैयाराउ ॥ २ ॥
दिल्ली पति के काज जिन कोटिक करी फतूह।
जगमगात जग पर अजौ जाके जस के जूह ॥ ३ ॥
जाहिर हिम्मति हद भयो सब हिन्दुन की मेंड।
सुमति जानि जग में करी प्रकट पुन्य की पैंड़ ॥ ४ ॥
पृथ्वी पालन को भयो ताके पृथ्वीराज।
मौज देन को भोज सो बड़ो गरीब निवाज ॥ ५ ॥
महाबाहु ताके भयो ज्यों छीरधि के चन्दु।
भूमि पुरदर सो लगत लषत पुरंदर नंद ॥ ६ ॥
सेत करी पुहमी सकल जाके जस की छाँह।
मनहुं छीर के सिंधु ते काढी बहुरि बराह ॥ ७ ॥
मरदानो ताकें भयो मर्दन रैयाराव।
जग जाको अविचल बचन अंगद कैसो पाउ ॥ ८ ॥
मरदन कवि सुखदेव सों मान्यो निपट सनेहु।
कह्यो नायिका नायकनि बरनि ग्रंथ करि देहु ॥ ९ ॥

(रस रसार्णव, सुखदेव मिश्र कृत, हस्तलिखित, पत्र १)

२. हिन्दू पति : प्रतापगढ़।

जगत विदित उदयाद्रि सो अरवर देश अनूप।
रविलों पृथ्वीपति उदित तहाँ सोमकुल भूप ॥ २ ॥

सोदर ताके ज्ञान निधि हिन्दूपति सुभनाम।
जिनकी सेवा तें लह्यो दास सकल सुखधाम ॥ ३ ॥
अट्ठारह सै तीनि है संवत आश्विन मास।
ग्रंथ काव्य निरनै रच्यो विजै दसै दिन दास ॥ ४ ॥
(काव्य निर्णय, भा० जी० प्रेस, भिखारी दास कृत)

३. हिम्मत सिंह—गुरुदत्त सिंह 'भूपति', अमेठी : सुलतानपुर।

'......मे बाधल गोत मनि भयो सुदि महिपाल।
यश प्रताप सो जिन कियो जग भव कैसो भाल ॥ १२ ॥

× × ×

'सुदि महीपति के भयो बहुरि महीप मनोर।
कुमुद कुंद सो जगमगत जाको यश चहु ओर ॥ १५ ॥
धरनी पाल मनोर के भयो महीप सुजान।
भानुवंश भूषण मनौ दूजो भूपर भान ॥ १५ ॥
महिप सुजान सुजान ते बहुरि भयो नृप राय।
जिनके यश की जगत मे महिमा कही न जाय ॥ १७ ॥
बहुरि शालिवाहन भये राजन के शिरताज।
आने वाने छीनि कै जिन जीते रिपु वाज ॥ १८ ॥
प्रगट भये तिन के बहुरि महाराज जयचंद।
निज प्रताप सो जिन कियो दुशमन को मद भंग ॥ १९ ॥
महाबाहु तिन के भए राजा पालन देव।
महादान मैदान के जिन सब जाने भेव ॥ २० ॥
राम देव तिनतें भयो महाबाहु बलवंत।
जगमगात जग पर अजौ जिनके सुयश अनंत ॥ २१ ॥
पुनि तिनके माहिर भयो जग पर बांके बीर।
परम धरम को धाम धुव धरमंगद रनधीर ॥ २२ ॥
तिनते पर दल दल मलन प्रगट्यो बलपति शाह।
शूरन के दल में अजौ शाहि सराहत जाहि ॥ २३ ॥
प्रगट्यो दलपति शाह ते विक्रमशाह नरिंद।
कस्यप ते जैसे तरनि ज्यों छीरधि ते चंद ॥ २४ ॥
तिनते पुनि जाहिर भये राजा साहि सुजान।
भानु वंश भूषण भुवन मानहु दूजो भान ॥ २५ ॥

प्रगट्यौ साहि सुजान से राजा साहि दिलीप।
सेत द्वीप-सम जिन सुयश कीन्हें सातौ द्वीप ॥ २६ ॥
राजा साहि दिलीप ते भयो नृपति जयसिंह।
जे पावत रण में विजय ज्यो पावत नरसिंह ॥ २७ ॥
× × ×
भये नृपति जयसिंह के छितिपति प्रबल पहार।
फूल माल सम निज भुजनि जिन राख्यो भुव भार ॥ ३० ॥
× × ×
भयो नरेश पहार के हिम्मत सिंह नरिंद।
सोहत यो नृप गणन में ज्यों उडगन में चन्द ॥ ३२ ॥
× × ×
राख्यौ जैसे निज अनुज ढिग राख्यौ करि प्यार।
हिम्मति सिंह नरेश को त्यों छत्ता पर प्यार ॥ ३४ ॥
नृप को छोटो वीर है प्रगट प्रगट बड़ोई वीर।
क्षत्र धरम क्षिति पर मनो क्षत्रसिंह रणधीर ॥ ३५ ॥

(छन्द विचार, ह० लि०, श्री ब्रजराज पुस्तकालय
गन्धौली। सुखदेव मिश्रकृत)।

४. टिकयित राय : नवाब आसिफुद्दौला के मंत्री, लखनऊ।

सुरसरि जू के निकट ही सहर सु पटना नाम।
जहाँ सैदपुर भीतरी है परिगन अभिराम ॥ ५ ॥
कानोगो हैं तहाँ के प्राननाथ यश नाथ।
श्रीवास्तव्य सुख्याति किय बारह जाति सनाथ ॥ ६ ॥
है सरकार सु जौनपुर हास नेह सरसाइ।
गुन-आगर नागर सबै सुरपुर सो दरसाइ ॥ ७ ॥
निकट लाड़िलेपुर जहाँ बसै लाड़िले गोत।
प्राननाथ भे नाथ तंह सुख संपति के गोत।
प्राननाथ के दोइ सुत भये सु उदित उदार।
रामदास अरु प्रथीमल गुनगन के आगार ॥ ९ ॥

कविराज : परम प्रश रामदास पुहुमी मे भये,
जाके सुत पाँच परसिद्ध मैं जनाये हैं।

विश्वेश्वर दास औ कल्यान दास गंगा दास
सुन्दर सरूप रूपचन्द मन भाये हैं।
राय दलपति राय मनसबदार भये
दान औ पान के जहान यश छाये है।
पुन्य के निधान तेजवान गुनवान येक येक ते
सरस वोरहीं ते होत आये है ॥१०॥

पट्पद छन्द : श्री विश्वेश्वर दास सुकवि पंडित मन भायक।
रूपचन्द कुलचद भये तिनके सुत लायक।
ज्ञान शील संचरित धर्म जन जन जग गावत।
दान मान सतुषित अवहु कवि कुल मन छावत।
कल्यान दास तिनके तनय सब लोगनि के हित करन।
शोभा समुद्र मुखसाज के कायथ कुल के आभरन ॥११॥

दोहा : कल्यान चन्द के विमलमति आसकरन सिरताज।
कवि पंडित मंडित किये जिन पूरे द्विजराज ॥१२॥
आसकरन के सुत भये श्री जगजीवन दास।
दान शील सनमान करि पूजी सबकी आस ॥१३॥
श्री जगजीवन दास के चायमल्ल सुत जानि।
जिनकी महिमा विदित है बेनी कहत बखानि ॥१४॥

× × ×

चाय मल्ल के सुत महा राजा निरमल दास।
फैलो है सब जगत में जिनको सुयश प्रकाश ॥१६॥

— — —

महाराज अधिराज ये राजा टिकयित राय।
उनते छोटे गुन बडे बरनत कवि समुदाय ॥१८॥
राजा निरमल दास के राय निहाल सुचन्द
सत्य ज्ञान में लीन भे सबके आनंद कंद ॥१९॥
राय निहाल सुचंद के तीनि तनय दरसाइ।
प्रथमें लाले जी सुख सहित सुषमा सों सरसाइ ॥२०॥
शील सिंधु निज कुल कमल विमल भवानी दीन।
बेनी कवि बेनी कियो देवो दीन प्रवीन ॥२१॥

× × ×

६. द्विजदेव, अयोध्या।

पाठग बिनसैया नगर भुजपुर बासे महान।
श्री गोपाल गुपाल सम, दोने अनियम धाम।।
सो इत आये अवध को, मंजन करन सुवेस।
साह गंज पलिया रए, परम प्रकास प्रवेस।
प्रगट्ट भए तिनके सुअन, सुभग पुरंदर राम।
पुहुमि पुरंदर ह्वै रह्यो जिनको जस अरु नाम।
चारु चारि फल से प्रगट, तिनके नंदन चारि।
श्रीबखतावर सिंह नृप, कीरति जगत संवारि।।
बादसाह जिनके रच्चे, मनसब मंजु महान।
श्री बखतावर सिंह नृप, दिए अपूरब दान।।
बैरिन बिरद बिदारि कर, निज बीरता बढ़ाइ।
श्री बखतावर सिंह को नाम रह्यो जग छाइ।
राधावर को ध्यान करि, मथुरा अवध सुवेस।
मंदिर सर बिरचे बिसद, जा लखि हरख हमेस।।
दूजे दरसन सिंह नृप, जाके दरसन होत।
दारिद दरखि परात नजि, कविगन राउ उदोत।।
दरसन सिंह नरेस कौं, बरनैं जस अवतार।
रतनाकर उतरत कहूँ, मकरी मौज अपार।।
दरसन सिंह नरेस भो, राजन को सिरमौर।
बादसाह मनसब दियो, देस अवध सब ठौर।।
श्री सलतनत बहादुरी, कीने भुज बल बेस।
अरिमन गज पै सिंह सौ दरसन सिंह नरेस।।

× × ×

तिनको लघु भूपाल मनि, मानसिंह महराज।
जिन कीने लछिराम कौं, निज द्वारे कविराज।।

× × ×

मानसिंह महराज भो, सुभग सितारा हिन्द।
कायम जंग बहादुरी, कें० सी० यस० कल इन्द।।
मानसिंह महराज की, तनया सारद रूप।
प्रगट भई पुहुमी मनहुँ, मंगल सील सरूप।।

महाराज अधिराज ये राजा टिकयित राय।
बेनी कविसों यों ह्वौ दीजै ग्रंथ बनाइ ॥२८॥

इति राजवंश वर्णन समाप्तम्
टिकयित राय प्रकाश, बेनी कृत, ह० लि०,
श्री व्रजराज पुस्तकालय, (गंधौली, सीतापुर)

५. नवल कृष्ण, लखनऊ

"दिल्ली पति के हुकुम तें, प्रगट सहादति खान।
समर सत्रु संहारि कै, कियो अवध में थान ॥१२॥
जामातर तिनको भयो, सफदर जंग वजीर।
ताकी समता को अपर, भयो न जगत अमीर ॥१३॥
ताको पुत्र प्रसिद्ध भो, भूपर एकै बीर।
नाम सुजाति सुजाति में, मुगुल उदार उजीर ॥१४॥
ताके पुत्र जहान में, जाहिर जगत अनेक।
सान दान किरवान में, सरस एक ते एक ॥१५॥
अकबर सो अकबर प्रथम, आसिफदौला नाम।
सहर लखनऊ मे कियो, अचल आपनो धाम ॥१६॥
× × ×
तिनको अनुज सहादति अली। अली समान देखिये बली।
तेज पुंज राजत ज्यों रुद्र। धीर गंभीर समान समुद्र ॥१८॥
गाजुद्दी हैदर भयो, ताको पुत्र महान।
गादी पर बैठो सुदिन, मानो दूजो भान ॥२०॥
× × ×
दया कृष्ण राजा भये, तिनहीं के दीवान।
जिनको जस नित प्रति बढ़त दुतिया चंद समान ॥२२॥
× × ×
दया कृस्न महराज के दोऊ तनय अनूप।
नवल कृस्न नव रस रसिक, बाल कृस्न सहरूप ॥२४॥
नवल कृस्न ही को कहै, सब जग नवल किशोर।
राय खिताब उजीर को, दियो बिदित चहुँ ओर ॥२५॥
ललन नाम अति प्यार को, ललित ललाम प्रवीन।
तिनहीं के हित समुझि कै, कीन्हों ग्रंथ नवीन ॥२६॥
(नवरस तरंग, बेनी प्रवीन कृत, कृ० बि० मिश्र संपादित)

६. द्विजदेव, अयोध्या।

पाठग बिनसैया नगर भुजपुर बासे महान।
श्री गोपाल गुपाल सम, दीने अनियम दान॥
सो इत आये अवध को, मंजन करन सुबेस।
साह गंज पलिया रए, परम प्रकास प्रवेस।
प्रगट भए तिनके सुअन, सुभग पुरंदर राम।
पुहुमि पुरंदर ह्वै रह्यो जिनको जस अरु नाम।
चारु चारि फल से प्रगट, तिनके नंदन चारि।
श्रीबखतावर सिंह नृप, कीरति जगत संवारि॥
बादसाह जिनके रचे, मनसब मंजु महान।
श्री बखतावर सिंह नृप, दिए अपूरब दान॥
बैरिन बिरद बिदारि कर, निज बीरता बढ़ाइ।
श्री बखतावर सिंह को नाम रह्यो जग छाइ।
राधावर को ध्यान करि, मथुरा अवध सुबेस।
मंदिर सर बिरचे बिसद, जा लखि हरख हमेस॥
दूजे दरसन सिंह नृप, जाके दरसन होत।
दारिद परखि परात लजि, कविगन राउ उदोत॥
दरसन सिंह नरेस कौं, बरनैं जस अवतार।
रतनाकर उतरत कहूँ, मकरी मौज अपार॥
दरसन सिंह नरेस भौ, राजन को सिरमौर।
बादसाह मनसब दियो, देस अवध सब ठौर॥
श्री सलतनत बहादुरी, कीने भुज बल बेस।
अरिमन गज पै सिंह सौ दरसन सिंह नरेस॥

× × ×

तिनको लघु भूपाल भनि, मानसिंह महराज।
जिन कीने लछिराम को, निज द्वारे कविराज॥

× × ×

मानसिंह महराज भौ, सुभग सितारा हिन्द।
कायम जंग बहादुरी, के० सी० यस० कल इन्द॥
मानसिंह महराज की, तनया सारद रूप।
प्रगट भई पुहुमी मनहुँ, मंगल सील सरूप॥

तासु व्याह भौ मिश्र कुल, मखपा मंगल देस ।
मख पवार दिजराज मनि, साकद्दीप सुरेस ॥
श्री नरसिंह नरायनहिं, निरखि महीपति मान ।
निज तनया कौ व्याह रचि, सागर सील निधान ।
नृप नरसिंह नरायनहिं, मानसिंह महराज ।
माने परम प्रताप लखि, गनि बीरता जहाज ॥
मानसिंह तनया तनय, प्रगट भयो बरबीर ।
सोभित सूरज बाल सौ, परम प्रताप गंभीर ॥
मानसिंह महराज मनि, लियो गोद अरिवेस ।
चिरंजीव आसिषि दियो, श्री प्रताप अमरेस ॥
स्वर[७]दृग[२]रस[६]ससि[१], संवतै, कातिकतम कुजवार ।
द्विजिमान नृप को भयो, सुरपति को अवतार ॥
वर प्रताप नारायनहिं, मानि मंजु महराज ।
लाल भाल मे राजश्री, बसी मनहुं सिरताज ॥"

(प्रताप रत्नाकर, लछिराम कृत)

७. फ़ाजिल अली

"चारि चक्क परसिद्ध यश चारु चकत्ता वंश ।
प्रगट भये महमद अली अवनी के अवतंश ॥ १४ ॥
प्रथम बिलाइति ते इतै आये मधि हिन्दुवान ।
महमद अली बली भये जानै सकल जहान ॥ १५ ॥
अजब अली तिन के भये अजब रूप भुवमान ।
दान मान के जिन हरयौ दारिद तिमिर जहान ॥ १६ ॥
सुमति अली सुवली भये तिनके तनुज प्रसिद्ध ।
तिनके सुत रुस्तम अली भये सकल गुण रिद्ध ॥ १७ ॥
जिनहिं खिताब दिलीश यह दियो इनायति खान ।
साहयानि भुव भार दै थिर कै थप्यो दिवान ॥ १८ ॥
× × ×
जेती पर पृथु रथ फिरो जेती धरे फणीन्द्र ।
जेती जीती अवनि है अवरंगजेब दिलीश ॥ २० ॥
जंत्री में सत आनिकै मंत्री मंत्र सनेह ।
प्रगट दिखाई शाह को ज्यो दर्पण में देह ॥ २१ ॥
× × ×

दासा॰ ज्ञाता शूरमा सुमति इनायत खान।
"अति फाजिल फ़ाजिल अली तिनके भये सुजान ॥ २४ ॥
तिनके अनुज प्रसिद्ध द्वै शूरबीर सरदार।
तेगवली महरम अली महमद अली उदार ॥ २५ ॥"

(फाजिल अली प्रकाश, सुखदेव मिश्र कृत, जैन प्रेस, लखनऊ)

८. राजसिंह, गौड़ नरेश :

"राज सिंह अर्जुन तनय, गौर गरीब निवाज।
दियो साज बहुतै कछू, कियौ जिनै कविराज ॥ ४३ ॥
संवत सत्रह सै बरस अठाइस अतिचारु।
जेठ सुकुल तिथि पंचमी, उपज्यो व्रत विचारु ॥ ४४ ॥"

× × ×

कीरति कलि के कलपतरु फतेसाहि सविचार।
सोहति सोहति है धरा सकल धाम पर बार।
सकल धाम पर बार हार घनसार सुलक्षी।
सुवन सुदरसिन रूप सुमति सुपदेव सु अक्षी।
सुवन सुदरसन रूप मे दिसि दिसि दिसि सीनी रति।
अरजुन सम समरत्थ गही अरजुन पर कीरति ॥

(वृत्त विचार, सुखदेव कृत, ह० लि०,
श्री व्रजराज पुस्तकालय, गंधौली, सीतापुर)

९. खूबचन्द कायस्थ, बैसवाड़ा :

"गोशाई हरिवंश के सेवक मोहन दास।
कायथ बारह जाति में कीन्हो सुयश प्रकाश ॥ ४ ॥
विद्या विनै विवेक तैं भूतल के अवतंस।
राधा वल्लभ पंथ किय गोस्वामी हरिवंस ॥ ५ ॥
मोहन मोहन दास के भे गिरिधारी दास।
दान सील संपति सुजस पुहुमी पुन्य प्रकाश ॥ ६ ॥
पर स्वारथ के जोग तैं जगत जथारथ नाम।
श्री गिरिधारी दास के ऐसे भे घनश्याम ॥ ७ ॥
श्री घनश्याम हु दास के कुशल सिंह सिरताज।
दान शील सनमान सुष सोभित सदा समाज ॥ ८ ॥

कुशल सिंह के सुत सुखद हरीलाल गुन जाल ।
दान ग्यान मति मेरु से मूरति मदन विशाल ॥ ९ ॥"

× × ×

हरी लाल के सुत भये सूरति सिंघ उदार ।
दान मान सनमान में सब बातन सरदार ॥ ११ ॥

× × ×

कवित्त :

"कायथ सपूत सुरतरु सिरताज सम दूसरो न कोऊ गुनगन निरधारे मैं ।
मेरु से अचल महा महिमा मही मैं अैसी बकसे तुरंग जे वै विरकत वारे मैं ।
बेनी कवि कहै कीन्ही साहिबी सुरेस कैसी सोभित सदन सुरसरि के किनारे मैं ।
जस देस देस पाटी सेवत नरेस भयो देस को सिंगार सूरतेस बैसवारे मैं ॥१३॥

सूरति सिंघ सपूत के खूबचन्द कुलचन्द ।
जिनकी महिमा कहत हैं कवि कोविद के वृन्द ॥ १४ ॥
खूबचन्द के श्री सुखद ऐसे लछिमन दास ।
बाजी बाज विहंग पर विद्या विमल विलास ॥ १५ ॥"

× × ×

"खूबचन्द के मन बसी गंगा जी की प्रीति ।
बेनी कवि बरनी सोई सत कवितन की रीति ॥ २६ ॥"

(रसविलास, वेनी कृत, ह० लि०, श्री ब्रजराज पुस्त०, गंधौली, सीतापुर)

परिशिष्ट २

कविवंश-वर्णन

(१) जगजीवन दास (कोटवा, बाराबंकी)

"पिता राम चरनोदक, तिनकर गंगा नाम।
कँवरसा सुत जनमे सुभग, यहि जग भक्तन्ह काम ॥ १४ ॥
माघ महीना पक्ष सित, सत्रह सत्ताईस।
प्रगट भौम तिथि सत्तमी, जगजीवन जगदीस ॥ १५ ॥

... ...

"सात बरष केहु मरम न जाने, अठये भये भक्त मस्ताने ॥"

... ...

"घाघरा तट के निकट ही, अबरन कुण्ड बनाइ।
प्रातकाल असनान करि, सुमिरन करहि छपाइ ॥ १७ ॥"

... ...

"समरथ मंत्र कीन्ह मन माही, गुरू किहे बिन कछु फल नाही ॥"

... ...

"तब यह मत करि समरथ साई, विश्वेश्वर के गे सरनाई ॥"

... ...

"पुरी कहा हम तुम कहं सेई, दिक्षा काह जानि कै देई ॥"

... ...

"तब बोले जगजीवन दाता, करहु दयाल दीन का नाता ॥"

... ...

"एक पग ठाढ़ जोरि दोऊ कर, दिक्षा तिन्है दीन विसेस्वर।"

... ...

"दूलनदास कतहुं सुनि पाए, हरष सहित सरदहा का धाए ॥"

... ...

"दूलन सतगुर ते कहा, अब नहिं रहा अंदेस।
अब किरपा करि हरषि कै, जनहि करहु उपदेस ॥ २५ ॥"

... ...

"यतना सुनि जगजीवन, दीन्हो मंत्र सुनाइ।
मंगन भयो मस्तान तब, महि दीन्हेउ सिर नाइ ॥ २६ ॥"
...
...
...
"गांव समेसी तहं अस्थाना, अस भे भक्त जक्त सब जाना ॥"
...
...
"जग जीवन जग विदित भे, किहे सरदहा बास।
तिन्ह के प्रथम के चेला, धन्य गोसाईं दास ॥ २७ ॥"
...
...
...
"जाति बराभन वै सरवारी, लिहे जगजीवन ते मतभारी।
सलिता निकट सरैया ग्रामा, तहां जाइ के सुमिरेउ नामा ॥"

"चित दै सुनिए यह कथा, तिन्है होइ विस्वास।
छांड़ि सरैया गांव कहं, दीन्ह गोसाईं दास ॥ २८ ॥
कीन्ह कमोली बास, तहां आइकै ध्यान धरि।
पायो बहुत सुपास, आस एक गुर चरन की ॥ २९ ॥"
...
..
"गौर बंस छत्री कर जामा, नील सरूप वारि छबि कामा।
देबिदास तिन नाम सोहाए, तजि यह ग्राम सरदहहि आए ॥"
देखे चरन परे ते धरनी, नहिं बुधि चलत समय वह बरनी।
...
...
...
'तब समरथ जगजीवन समुझायो धरि हाथ।
प्रान पियारे उठिकै, लागहु नाम के साथ ॥ ३१ ॥
...
...
..
"लै उपदेस बिदा तब भयऊ, देबिदास सैलखपुर गयऊ ॥"
...
...
...
"अबरन के तट तरुवर छांहीं, भा गुर ग्रंथ सरदहा मांहीं।
अघबिनास भा तेहि कर नांऊं, जिन्ह मत समुझि ताहि बलि जाऊं ॥
...
...
...
"अघ बिनास मन पूरन पवि भा ग्यान प्रकास।
महा प्रलै महं बांचि रहै, कबहुं न जम कै त्रास ॥ ३४ ॥
बानी औरि कहिनि बहुतेरी, पढ़ी सुनिहि तेहि जगत न फेरी ॥"
...
...
...
"औरउ कथा सुनहु नर नारी, भे यक दलमदास व्रतधारी।"
...
—
...

"पाती नीम औ मिरचा खाही, तजि आसन नहि काहु के जाही।"

... .

"यहि विधि बारह वरष भे, भोजन अन्न न कीन्ह।
दुनिया दौलति त्यागि कै, जोग जुक्ति मन दीन्ह॥"
भूसुर जाति औ पद तेवारी, लोग कुटुंब तजि जोग सुधारी।
ब्रह्मचारी का गुरु तिन्ह कीन्हा, उन्ह सत मंत्र बताइन दीन्हा॥३५"

.. ..

"... ... ... , सुना कि होत सरदहा मेला।"

... .

"जग जीवन तह बैठि सुखारी, लौंग चढ़त औ पान सुपारी।"

.. ..

"खेमदास तँहवा चलि आए, दरसन देखि बहुत मन भाए।
परे चरन पर करुना कीन्हा, निकट रहे प्रभु दरस न दीन्हा॥"

. . ...

"तब जग जीवन समरथ, दीन्हेउ मंत्र पुकारि।
मानहु पावक ज्वाल ते, लीन्हेउ आपु निकारि॥ ३६॥"

... ...

"मधनापुर की पुरुब एक बर, करत सो ध्यान अखंड ताहितर।"

... ...

"दूलन देवीदास भे, खेम गोसाईं दास।
जो कोउ इनकी सरन गा, तिन्ह कै पूजिहि आस॥ ३७॥"

.. ..

'पच्छिम ते पंजाबी आए, बड़े केस औ खाक लगाए।
तीरथ बरत बहुत दिन कीन्हा, बहु पँच अगिनि आदि तप लीन्हा।
यह सब कीन्ह न कछु फल पाए, प्रभु जगजिवन की सरनहिं आए।"

. . ..

"तब ह्वै दीन कहा सिवदासा, आयों सरन बहुत करि आसा।
सतगुर केश मुड़ाइ कै, दीन्ह्यो मंत्र सुनाइ।
जैसे जखमी सूर कह, लै कर वारि पिआइ॥ ३९॥"

... ...

"गौर बराभन मैं सिवदासा, दरसन किहे भरम कै नासा।
बहुत बरष रहे गुरु के पाहीं, फिरि सुधि कीन्ह जन्म ने ताहीं॥"

... ...

"सब्द ग्रंथ जगजीवन, जक्त हेत कहि दीन।
धन्य जन्म अहलाद जिन प्रीति सहित लिखि लीन ॥ ४० ॥
जन अहलाद प्रीति बस कीन्हा, सतगुरु तिन्है सरन करि लीन्हा।
करि भल भाव भाइसुत केरा, कृपा किहिन भा ग्यान उजेरा ॥"
... .

"जग जीवन कंह सब जग जानी। बामंगी तिन्ह भई भवानी।
मोतिनि नाम सुनहु तिन पाए। तिन के पुत्र पाच कहि गाए।
सभा आदि जिन के सुत भाई। कहं लैं मातु केरि गति गाई।
बलादास भे भक्त सुजाना। जिन संसार स्वाद नहिं जाना।
परम तत्त्व को पत्ता पाए। भे अनंत गुनवंत कहाए।
लघु सुत तिनहिं जलाली जानी। दरस देखि सब ताप बुझानी ॥"
... ...

"तुजा मूल की बरनि सुनावा, अब साखा की कीरति गावा।"
... ...

"हासनेवस ऊमापुर केरे, रहत सो सदा चरन के नेरे।"
... ...

उदैराम की कीरति प्यारी, बरनि न सकौं ताहि उजियारी।"
... ...

रामदास भे बड़लो साखा, गहि गुरु सब्द न दोसर आसा।
दास भवानी थल बरहेला, जिन्ह चरनन की रेनु सकेला।"
... ...

"तोवर औ सिष्या सुजन, भे दूलन की आस।
कह लैं तिन्ह कंह बरनौं, सदा चरन के पास ॥ ४४ ॥
दिलवर नन्हू छोटे भासा, इन कह देबिदास दै ग्याभा।"
... ...

"यहि बिधि जक्त बहुत निसतारे, अब कछु कहत न अनत हमारे।
लै उसांस बोले सतिनामा, कहिनि कि मैल भयौ यह जामा ॥
यहि बानी के सुनत ही, भक्तन भयौ अदेस।
निज पुरुष पतिब्रता ज्यों, पाय पयान संदेस ॥ ४५ ॥
यह कहि बीति गये दस मासा, तेहि बिच सरन भए बहु दासा।
दिन नियरान अवर नहि भावहि, बलादास तहं भजन सुनावहि ॥"
... ...

"सम्बत अठारह सै सतरह, करि असनान भे मौन।
कृष्ण पक्ष औ सत्तिमी, बैसाख भौम करि गौन ॥ ४६ ॥"

... ...

"अस भे भक्त जलाली नामा, जानहु भक्त बीज फिरि जामा।"

... ...

"तिन्ह सुत भे जग प्रान अधारे, कीरति कहत न बनत हमारे।
गिरवर जन्म भए जग ऐसे, बूड़त ग्वाल तानि गिरि जैसे ॥"

... ...

"धौंकल साध सघन तिन केरे, प्रान ते अधिक रहत मन मेरे।"
(भक्तविनोद, बोधेदास कृत, रत्नबधु, लखीमपुर प्रकाशित)

(२) क़ासिमशाह (दरियाबाद, बाराबंकी)

"महम्मद शाह देहली सुल्तानू, कामी (?) गुण वह कौन बखानू ॥"

... ...

"है लखनऊ अवध मँझियारा, दरियाबाद नगर उजियारा।
जहं मखदूम केर अस्थाना, महम्मद बख्श जो जक्त बखाना।"

... ...

"तेहि के बंश अधिक उजियारा, शेख महम्मद अलख पियारा।"

... ...

"कस ना नगर होय उजियारा, जिन अस पुरुष लीन औतारा।"

... ...

"काजी थान सुन्याव चुकावे, कतहूं अन्त होय नहिं पावे।"

... ...

"दरियाबाद मांझ मम ठाऊं, इमानुल्ला पिता कर नाऊं।
तहवां मोहिं जन्म बिधि दीना, क़ासिम नांव जात कर हीना।"

... ...

"ग्यारह सै उचांस (११४९) जो भाजा, तब यह कथा प्रेम कवि साजा।"
(हंस जवाहिर, कासिम शाह कृत, न० कि० प्रेस, लखनऊ)

(३) भिखारी दास (ट्योंगा, प्रतापगढ़)

"अभिलाषा करी सदा ऐसनि का होय बित्य
सब ठौर दिन सब माही सेवा चरण चानि।

सोभानई नीचे ज्ञान हनाहन ही को अंसु,
अंत है क्रिया पताल निंदा रस ही को खानि।
सेनापति देवीार सोभा गनती को भूप,
पथा मोनो हीरा हेम सौदा हाम हीं को आनि।
हीय पर देव पर बदै यश रटैं नाउं, खगासन
नगधर सीतानाथ कोलापानि ॥५॥

दोहा. या कवित्त अन्तर बरण लै तुकन्त दुँ छण्डि।
दास नाम कुल ग्राम कहि नाम भगति रस मण्डि ॥६॥
(छन्दोर्णव पिंगल, दास कृत, न० कि० प्रेस, लखनऊ)

(४) सुखदेव मिश्र (दौलतपुर, रायबरेली)

"साईं पुर मासन कह्यो, विदित बिगहपुर गाउं।
भारद्वाज बखानिए, गोत्र सुकुल कुल नाउं ॥१८॥
बसे कम्पिला आनि जे, सुकुल सकल गुण रिद्धि।
जिनके कुल मे अवतरे, पदुमनाभ परसिद्ध ॥१९॥
... ...

"तनुज चारि तिनके भये, विद्या सिन्धु अपार।
चतुर चतुर मुख से प्रकट, चारो परम उदार ॥२१॥
तिनमें परम प्रसिद्ध अति, ईश्वर मिश्र प्रवीन।
गुन मडित पंडित सबै, जिन सो भये अधीन ॥२२॥
... ...

"अति प्रवीन पडित महा, गुणन भरे रग भीर।
हरी मिश्र तप तेज बर, हरी जगत की पीर ॥२७॥
विश्वनाथ सो विश्व मे, विश्वनाथ परसिद्ध।
पूरण पुन्य प्रताप निधि, सपत्ति संपति रिद्ध ॥२८॥
कृष्ण मिश्र कलि में भये, भक्ति महा मति धीर।
पदुमनाभ के चारि सुत, चारो गुण गभीर ॥२९॥
विश्वनाथ विख्यात जग पडित महा उदार।
विद्या वेद वियास से गुरु से ज्ञान अपार ॥३०॥
दुर्गा मिश्र तिनके भये, सब विद्यन के धाम।
जिनको, चार्‌यो चक्र मे, है प्रसिद्ध जग नाम ॥३१॥
... ...

"तिनके सुत द्वै सुमति अति, भये परम अभिराम।
विद्यापति विद्या सरस, मिश्र महापति नाम ॥३४॥
... ...
विद्यापति के सुत भए, परम कृष्ण परसिद्ध।
पंडित पूरे जोतिसी, साधु सुमति गुण रिद्ध ॥३८॥"
... ...
"मिश्र महापति के सुमति भये मिश्र सुखदेव।
दया करे जिन पर सदा पंडित नर कवि देव ॥४१॥
किये संस्कृत ग्रंथ निज प्राकृत बहुत समेत।
भाषा वृत्त विचार यह कीन्हो कवि कुल हेत ॥४२॥
राज सिंह अरजुन तनय गौर गरीब निवाज।
दियो साज बहुतै कछू, कियो जिन्है कविराज ॥४३॥
संवत सत्रह सै बरस, अट्ठाइस अति चारु।
जेठ सुकुल तिथि पंचमी, उपज्यो वृत्त विचारु ॥४४॥"
इति श्री मिश्र सुखदेव कविराज विरचिते वृत्तविचार नाम प्रथमो परिच्छेद।"

(वृत्तविचार, सुखदेव कृत, ह० लि०, श्री ब्रजराज पुस्त० गंधौली, सीतापुर)

(५) बेनी, भट्ट (बैंती, रायबरेली)

"विदित करो मनि मे भये हरीराम अभिराम।
अति उदार सरदार सुभ संपति सोभाधाम ॥२९॥
परसराम तैसे भये तिनके उदित उदार।
कुल दीपक सोभा सहित गुणगन के आगार ॥३०॥
तिनके गंगाराम भे गंगासन असनेह।
परम धरम सुभ करम हित सरस सिंधु सुप नेह ॥३१॥
भागवंत तिनके भये जगत यथारथ नाम।
भगति त्रिवेनी की सदा परम धरम के धाम ॥३२॥
भागवंत के तीनि सुत शुभ लक्षण सरदार।
दत्तराय देवान फिरि माधौराय उदार ॥३३॥
दत्तराय के दोय सुत अमरसिंह सुप सिद्ध।
सूर शिरोमनि जगत यश सिद्धराय परसिद्ध ॥३४॥
अमर सिंह के दोय सुत.............................।
तेजवान गुणवान जग प्रभुता कही न जाय ॥३५॥

सिद्धराय के सुत भये प्रथम करोरी वीर।
फेरि हजारो जानिये हीरालाल गंभीर ॥३६॥
फेरि भवानी साह जग गुण गन के आगार।
सील सिंधु सुषमा सहित सूरवीर सरदार ॥३७॥
दत्तराय के भाय शुभ शोभित राय देवान।
भक्ति त्रिवेनी की सदा ज्ञानवान धनवान ॥३८॥
विद्याधीश स्वभाव शुभ तिनके साहेब राय।
पार न पावत सेषऊ जिनके गुन गन गाय ॥३९॥
जैपुर अरु फिरि जोधपुर उदित उदैपुर जाइ।
सपति लै आये घरै विपुल प्रतिष्ठा पाइ ॥४०॥
कीन्ही सैर पहार की जब मो सुख पाइ।
बदरी नाथ केदार के दरसन कीन्हे जाइ ॥४१॥
... ...
सुरसरि जू के निकट ही बेती विमल निकेत।
साहेब राय प्रसिद्धि जग विप्रन सो हरि हेत ॥४४॥
जगत किये राजी सदा तिनके बाजीराय।
पुरसोत्तम पुर जायकैं पूजे प्रभु के पाय ॥४५॥
परम धरम शुभ करम हित सरम सिंधु सुप येन।
पर नारी सों विमुख औ हरि सनमुख दिन रैन ॥४६॥
बाजीराय सुजान के शोभित है शिवदास।
वय विद्या र्वधित विमल कुल भूषन गुनवास ॥४७॥
डालामऊ प्रसिद्ध है सुरसरि जू के तीर।
घाट ठाट शिर है जहाँ राजा राय अमीर ॥४८॥
महाराज अधिराज ये राजा टिकइत राय।
बेनी कवि सों यो कह्यो दीजै ग्रंथ बनाय ॥४९॥
अलंकार जे संसकृत समुझे विबुध विचारि।
साहेब बेनी हित किये भाषा में निर्धारि ॥५०॥
रंध्र९ वेद४ वसु८ चन्द्र१ युत संवत सर को पाय॥
माधव सुदि पाचैं रचो अलंकार गुरु घ्याय ॥५१॥

(टिकयितराय प्रकाश, बेनी कृत, ह० लि०, श्री व्रजराज पुस्त०, गंधौली, सीतापुर)

परिशिष्ट ३

सहायक ग्रंथ सूची

(मुद्रित)

श्री मद्वाल्मीकीय रामायण
श्रीमद्भागवत्

कन्हैयालाल पोद्दार	रसमंजरी
कालिदास	भोज प्रबन्ध
कासिमशाह	हंस जवाहिर
कृपानिवास	रस पद्धति
,,	समय प्रधान
कृष्णानन्द रागसागर	संगीत राग कल्पद्रुम, भाग २
	(अध्यात्म प्रकाश, सुखदेव मिश्र कृत)
गिरिधर	कुंडलिया
गुमान मिश्र	काव्य कलानिधि
गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	मध्यकालीन भारतीय संस्कृति
,,	कोशोत्सव स्मारक संग्रह
चतुरसेन	वेद और उनका साहित्य
चन्द्रधर शर्मा गुलेरी	पुरानी हिन्दी
चिपलूणकर	निबंधमालादर्श
जगजीवनदास	बानी तथा शब्द
जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	घनाक्षरी नियम रत्नाकर
जनकराज किशोरी शरण	वेदान्त सूत्र दीपिका
,,	होलिका विनोद दीपिका
,,	रस दीपिका
जवाहरलाल चतुर्वेदी	शृंगारलतिका सौरभ (भूमिका)
जानकी रसिक शरण	अवध सागर

जुगलानन्य शरण	श्री सीता राम नाम परत्व पदावली
टाड	राजस्थान
दास (भिखारीदास)	काव्य निर्णय
,,	छन्दोर्णव पिंगल
,,	विष्णु पुराण भाषा
दीनदयालु गुप्त	अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
देव	सुखसागर तरंग
देवीदास	शब्दलीला
दंडी	काव्यादर्श
द्वारिका प्रसाद मिश्र	कृष्णायन
नलिनी मोहन सान्याल	समालोचना-तत्व
निराला (सूर्यकान्त त्रिपाठी)	प्रबन्ध-पद्म
नेवलदास	सुखसागर
प्रतापनारायण सिंह (अयोध्या)	रस-कुसुमाकर
फकीरदास	शब्दावली
बलदेव उपाध्याय	भारतीय दर्शन
बेनी प्रवीन वाजपेयी	नवरस तरंग
बोधेदास	भक्त विनोद
भरत	नाट्यशास्त्र
भानु (जगन्नाथ प्रसाद)	छन्द प्रभाकर
भानुमिश्र	रस तरंगिणी
'भूपति' (गुरुदत्त सिंह)	भूपति सतसई
मथुरा प्रसाद दीक्षित (महामहोपाध्याय)	पृथ्वीराज रासो (प्रथम भाग)
मानसिंह द्विजदेव (महाराज)	शृंगारलतिका तथा शृंगार बत्तीसी
मधुर अलि	युगल वसन्त विहार लीला
मिश्र बन्धु	मिश्र बन्धु विनोद
,,	हिन्दी साहित्य का इतिहास
,,	धर्मतत्व
,,	बुद्धपूर्व भारतीय इतिहास
,,	सुमनोञ्जलि
रसिक अलि	षट् ऋतु पदावली
रसलीन (सैयद गुलाम नबी)	रस प्रबोध

रसलीन	अंगदर्पण
राम चरणदास	रामपदावली
रामचन्द्र शुक्ल	जायसी ग्रंथावली
,,	चिन्तामणि भाग १
,,	हिन्दी साहित्य का इतिहास
,,	बुद्धचरित (भूमिका)
रामप्रसाद त्रिपाठी	ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद (भूमिका)
राहुल सांकृत्यायन	हिन्दी काव्यधारा
लछिराम	प्रताप रत्नाकर
लाल त्रिलोकीनाथ सिंह	भुवनेशभूषण
लाला सीताराम (अवधवासी)	अयोध्या का इतिहास
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र	बिहारी
,,	वाङ्मय विमर्श
विपिन बिहारी त्रिवेदी	चन्दबरदाई और उनका काव्य
शालिग्राम शास्त्री	साहित्य दर्पण (विमला टीका)
श्यामसुन्दर दास	सतसई सप्तक
,,	हिन्दी भाषा और साहित्य
शिवसिंह सेंगर	शिवसिंह सरोज
शंभुनाथ त्रिपाठी	बैताल पच्चीसी
सत्यनारायण (डाक्टर)	हमारा देश
सम्पूर्णानन्द	गणेश
सहजराम	रघुवंश दीपक
सुखदेव मिश्र	फाजिल अली प्रकाश
सूरदास	सूरसागर (ना० प्र० सभा, काशी)
हरिऔध (अयोध्या सिंह उपाध्याय)	कबीर वचनावली

हिन्दी शब्दसागर-ना० प्र० सभा, काशी

कान्यकुब्ज वंशावली नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

(हस्तलिखित)

जगजीवन दास	मनपूरना	महन्त जगन्नाथबख्श दास, कोटवा (बाराबंकी) की कृपा से प्राप्त।
,,	जन्मसाखी महावीर जी	
,,	परम ग्रंथ	
,,	महाप्रलय	

दास (भिखारीदास) रस सारांश
" " शृंगार निर्णय
देव प्रेमचन्द्रिका
बेनी भट्ट रस विलास
" टिकैतिराय प्रकाश
" स्फुट काव्य
सुखदेव मिश्र रसार्णव
" छन्द विचार
" वृत्त विचार
सुयश सुवन उमराव कोश

लेखक के निजी पुस्तकालय मे (श्री ब्रजराज पुस्तकालय, गंधोली, सीतापुर)

(अंग्रेजी)

ए ग्रामर आफ हिन्दी लैंग्वेज केलाग
ए हिस्ट्री आफ इण्डिया के० वी० आर० आयगर
ए हिस्ट्री आफ मुगल रूल इन इंडिया ईश्वरी प्रसाद
ए शार्ट हिस्ट्री आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया ईश्वरी प्रसाद
ए हिस्ट्री आफ उर्दू लिटरेचर रामबाबू सक्सेना
चैम्बर्स इनसाइक्लोपिडिया भाग ६ तथा ९
डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स यू० पी०, फर्रुखाबाद
इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका भाग २१
एवोल्यूशन आफ अवधी बाबूराम सक्सेना
फर्स्ट टू नवाब्स आफ अवध आशीर्वादी लाल
हिस्ट्री आफ दि सोमवंशी राज विश्वम्भर प्रसाद थोलल (१९०० ई०)
इम्पीरियल गजेटियर्स आव इंडिया ('रेलिजिन्स' डब्लू कुक)
निर्गुन स्कूल आफ हिन्दी पोइट्री डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
अवध गजेटियर्स भाग १, २ तथा ३
अवध इन १८५७ जे० बानहम
पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एंशियेण्ट इण्डिया रायचौधरी
सर्च रिपोर्ट्स ना० प्र० सभा, काशी
वर्नाकुलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान ग्रियर्सन

पत्र-पत्रिकाएं

नागरी प्रचारिणी पत्रिका (ना० प्र० सभा, काशी)
हिन्दी (ना० प्र० सभा, काशी)
सरस्वती (इंडियन प्रेस, प्रयाग)
माधुरी (न० कि० प्रेस, लखनऊ)
गंगा (पुरातत्वांक)
साहित्य समालोचक (समालोचक प्रेस, गंधोली, सीतापुर)

अनुक्रमणिका

ह